॥ श्रीः ॥

भूमिका ।



॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

अये तत्त्वाऽतत्त्वविवेककुशल भक्तशिरोमणे !

भगवान्‌श्रीकृष्णचंद्रने अर्जुनके व्याजसे सबको सुलभताकेलिए वेदप्रतिपाद्य तत्त्वको श्रीमतीगीतामें भरदिआहै उसका सार यही है कि पापकर्मोंसे निवृत्त रहकर फलेच्छा ममता तथा कर्तृताभिमान इनको त्यागकर कर्म करते रहनाचाहिए जो अंतःकरण शुद्ध होजाय और शुद्धहुए अंतःकरणकी शुद्धि बनीरहै अंतःकरण मलिन न हो । और भगवत्‌शरणागत होकर उस शरणागतिका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए । इसी विषयको भगवान्‌ने कर्मयोग ज्ञानयोग तथा भक्तियोगकी आवश्यकर्तव्यताको कहकर प्रतिपादन किआहै । ग्रंथमें देखिए ।

इस श्रीमद्भगवद्गीताकी बहुतलोगोंने भाषामें टीकाएं बनाईहैं किंतु उन टीकाओंसे बहुतसे वैष्णवलोगोंको संतोष नहीं हुआ इसहेतु उन वैष्णवोंने कृपाकर मुझको अनेक वेर कहा कि 'तू भगवद्गीताकी एक टीका बना' सो मैंने उन वैष्णवजनोंकी प्रसन्नताके-लिए श्रीयामुनाचार्यस्वामी श्रीरामानुजस्वामी तथा श्रीवरवरमुनिस्वामी इन तीन परमा-चार्योंकी बनाईहुई टीकाओंके आश्रयसे भगवद्गीताकी यह तत्त्वार्थसुदर्शनी टीका बनाईहै इसमें प्रत्येक श्लोकका अर्थ संक्षेपसे एक एक दोहेमें बांधकर वे दोहे भी श्लोकोंके नीचे लिखदिएहैं इस दोहारूपी टीकाका नाम श्रीभगवद्गीतासतसई है यह पृथक् भी ग्रंथरूपसे तयारहै । मेरे दोहे कुछभी सुंदर नहीं हैं इस हेतु पाठकवर इनकी कुरूपताकी ओर ध्यान न देकर अर्थकी ओर ध्यान दें । दोहा एक छोटासा छंद है उसमें गीताके किसी किसी अधिकार्थश्लोकके अर्थको बांधनेमें सभीको कष्ट उठानेकी संभवाना की ज कतीहै । मेरे ये दोहे भगवद्गीताके सुंदर श्लोकोंके नीचे ऐसी शोभा देतेहैं जैसे किसी बहुत बढ़िया कमखावके टुकडेके नीचे एक टाटका टुकडा सीदिआहो ।

मैंने इसटीकामें भगवद्वाक्योंको पुष्ट करनेके लिये श्रुतिस्मृतिके तथा औरभी यथामति प्रमाण लिखेहैं वे तुल्यरूपसे ही पोषक हैं क्यों कि श्रीमद्भगवद्गीता साक्षात् श्रीभग-वान्‌कृष्णचंद्रके मुखका वाक्य है इस हेतु श्रुतिके तुल्य " श्रुति भी भगवद्वाक्य होनेसे ही स्वयं प्रमाण है एवं श्रीगीता भी भगवद्वाक्य है इसहेतु गीताप्रतिपाद्य अर्थकेलिए प्रमाणांतरकी कुछ भी अपेक्षा नहीं क्यों कि गीता स्वयं प्रमाणस्वरूप है और आस्ति-

भूमिका ।

कहिंदुओंकेलिए श्रीगीता और वेदांतसूत्र इनका वडा भारी दरजा है क्योंकि तत्त्वाऽतत्त्वविवेकफेलिये ये ही दो प्रधान आश्रय हैं हमलोगोंकी यह सामर्थ्य नहीं है जो हम इनदोनोंका त्याग करके वेदसे तत्त्वार्थको निकालसकें ।

मैंने इस तत्त्वार्थसुदर्शनीमें कुछ वैष्णवसिद्धांतोंका यथामति प्रतिपादन किआहै तथा अद्वैतके कुछ पदार्थोंका यथामति खंडन भी किआहै इससे किसी अद्वैती महाशयको खेद नहीं माननाचाहिये क्यों कि एक तो अद्वैतमतसे जब ब्रह्मभिन्न पदार्थमात्र मिथ्या ही है तो खंडनमंडन भी मिथ्या ही है और खंडनमंडनकी प्रथमसे ही चाल चली आतीहै अद्वैतवादका प्रधान ग्रंथ अद्वैतसिद्धि भी वैष्णवोंके न्यायामृतका खंडन है अद्वैतसिद्धिका भी तरंगिणीनामक ग्रंथ खंडन है इसीरीतिसे मैंने भी यहां स्वमतमंडन तथा परमतखंडन लिखाहै । हिंदीभाषामें यद्यपि खंडनमंडनके लेखकी कोई रीति नियत तथा सुंदर नहीं तथापि असंस्कृतज्ञलोगोंके उपकारार्थ यथामति लिखा ही है। और जो लोग इस खंडनमंडनमें प्रवेश न करके केवल मूलमात्रके तत्त्वार्थको जानना चाहतेहैं उनकेलिए प्रथम मूलका अर्थ लिखकर फिर आगे शंकासमाधानादि लिखेहैं जो मूलार्थके जाननेमें श्रम न हो । आशा है कि इस टीकामें बहुतसी त्रुटिएं रहगई होंगी उनको विद्वान्लोग क्षमाकरके उनकी मुझे सूचना दें । मेरी यह टीका यद्यपि विज्ञलोगोंके देखनेके योग्य नहीं तथापि यथा मधुरसपर तिक्तका आस्वाद लिआजाताहै तथा इस टीकाका भी विद्वान्लोग आस्वाद लेकर मेरे श्रमको सफल करेंगे । मैं अब श्रीनारायणको श्रीरामानुजस्वामीको तथा अपने परमाचार्यप्रवरदेशिकश्रीरंगाचार्यजीको विद्यागुरुश्रीगंगाधरशास्त्रीजीको अनंत साष्टांग नमस्कार कर तथा सब वैष्णवभागवतोंको सांष्टांग निवेदनकर इस लेखको तथा ग्रंथको समाप्त करताहूं ।

भागवतकृपाकांक्षी आपका—

पंजाबी सुदर्शनाचार्यशास्त्री

काशी.

॥ श्रीः ॥

श्रीमते रामानुजाय नमः ।

अथ

तत्त्वार्थसुदर्शनीसहिता

श्रीमद्भगवद्गीता।



धृतराष्ट्र उवाच।

मूल-धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥ १ ॥

दोहा-कौरवदल पांडव तथा कुरुक्षेत्रमें आय ।
कहा कियो धृतराष्ट्र इह पूछत सञय पाय ॥ १ ॥

टीका-श्रीमद्रामानुजं वन्दे साक्षाच्छेषस्वरूपिणम् ।
येन वेदान्तमार्गस्य तमिस्रं विनिवार्तितम् ॥
पदरज वकुलाभरणकी[1] वंदौं निज सिर नाय ।
या रजकौं मस्तक धरैं रामानुज मन लाय ॥
रामानुज मन लाय और सभ वैष्णव मानी ।
भवभुजंगविषताप हरति अति सुखद बखानी ॥
श्रीपतिपदप्रीतिकी जो दृढवेलि बढावनी ।
हरिमुखमंगलधामविलोकनफल दरसावनी ॥

भक्तशिरोमणे अपने भारतवासिओंकी वेदांत संप्रदाय है उन वेदांतार्थोंको भगवान् श्रीकृष्णचंद्रने गीतारूपी चषकमें ऐसा भरदियाहै कि जिसका कोई उपमान प्रतीत नहीं होता अधिक लेखकी कुछ अपेक्षा नहीं गीतारूपी चषकसे वे अलभ्य भी वेदांतार्थ सभको सुलभ होगए। कहा भी है-

" सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः । "

---

१ वकुलाभरण यह नाम श्रीशठकोपस्वामीका है आपका चरित्र जानना हो तो श्रीआ-ल्वारचरितामृत पढो यह पुस्तक श्रीवेंकटेश्वरप्रेसमें मिलती है।

"गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः ।"
"सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥"
"एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव ।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥"
इत्यादि ॥

इस श्रीगीताके भाष्य टीका प्रभृति सभीने स्वस्वमतानुसार बनाएहैं बहुतोंने अशुद्ध अर्थ भी वर्णन किएहैं यथार्थमें देखाजाय तो जो भगवदभिलषित गीताके अर्थ हैं उनको श्रीरामानुजस्वामीमहाराजने ही भाष्यरूपसे प्रगट कियाहै । इस हेतु मैं भी श्रीरामानुजस्वामिनिर्मितगीताभाष्यके अनुसार ही गीतार्थका समझने सौलभ्यकेलिए यथामिति भाषामें वर्णन करताहूं ।

श्रीमन्नारायण सकलदोषोंसे रहित है और अनन्तदिव्यगुणोंका निधि है कोई लोग उसे निर्गुण मानतेहैं यह उचित नहीं क्यों कि निर्गुणत्वप्रतिपादकवाक्योंका प्राकृतगुणराहित्यमें तात्पर्य है सर्वथा गुणराहित्यमें तात्पर्य नहीं अन्यथा सगुणत्वप्रतिपादकवाक्योंके साथ विरोध होगा ।

और वह श्रीमन्नारायण दिव्य अद्भुत नित्य निर्दोष और निरतिशय औज्ज्वल्यसौंदर्यलावण्ययौवनादिसे परमदिव्यस्वरूप है उसके भूषण आयुध प्रभृति सभी पदार्थ दिव्य नित्य और निरतिशय हैं ।

और उसका निवासस्थान श्रीवैकुंठ भी नित्य निरतिशय और दिव्य है और वह श्रीलक्ष्मीका पति है । श्रीवैकुण्ठमें होनेवाले पार्षद नित्यसूरि उसके श्रीचरणारविंदयुगलकी सदा स्तुति करते हैं । और अनंतानंतब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति स्थिति तथा प्रलय उसकी लीलामात्र है कहा भी है—"लीलाकैवल्यात्तु" इति श्रीनारायण परब्रह्म है, श्रुति भी कहतीहै—" नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः " इति ।

वही श्रीनारायण अनंताचिंत्यशक्ति होनेसे श्रीवैकुण्ठमें लीला करतेरहने पर भी और जो वाणी तथा मनकेभी गोचर नहीं कहा भी है—"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इति वह हमलोगोंको कृपाकर दर्शन देताहै हम निर्भाग्योंके इन निर्भाग्य भी नेत्रोंके सम्मुख आजाताहै इसमें उसकी एक कृपा ही हेतु है । उसको निजदर्शन देनेमें कुछ भी देर नहीं किं तु जीवको उसकी भक्ति होनीचाहिए भक्ति न होनेसे ही हम निर्भाग्य उसके दर्शनसे रहित हैं । प्राचीन महानुभाव भक्तिसेही उसके दर्शन पातेथे इससे बढकर जीवका और कोई सौभाग्य नहीं । भगवान्ने स्वयं ही आगे कहाहै—

"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगेयुगे ॥
यदायदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥" इति ॥

इसमें कुछ संदेह नहीं कि श्रीरामचंद्रश्रीकृष्णचंद्रके समयके जो कौवे[१] और कुत्ते भी थे वे भी हमलोगोंसे बहुत बढकर भाग्यवान् थे जिन्होंने अपने नेत्रोंसे उस दिव्यमंगलरूपको निहारा और अब हम चाहे अपना सिर फोडकर मरजायँ तो भी वैसा भाग्य हमको प्राप्त नहीं होसकता अथापि जैसे भूखेको जौचना भी अमृतस्वरूप होताहै वैसे यदि हम अपनी श्रद्धाभक्तिकी भूमिकापर निश्चल हों तो अब भी वह परमदयालु श्रीनारायण अर्चाविग्रहद्वारा हमारे सम्मुख विराजमान होकर अपना पुण्यदर्शनामृत हमको पान करा ही रहाहै क्यों कि भगवानूके

१ पंजाबी भाषाके ध्वनिमें मन कुछ दोहे (शेर) यहां लिखता हूं—
लुट्टां लुटिया इह जग उह दिन अब ना हत्थी आवें ।
भाग बुरे इन ननांद जो तपती उमर वितावें ॥ १ ॥
कैसी सूरत कैसी मूरत कैसी बोलन उसदी ।
सोचसोचके घुटिए जीविच जान दमादम खुसदी ॥ २ ॥
उझक उझक कर मुखडे देखे बहुत ही ब्याज बनाया ।
इन नैनानें नागरनटदा रूप किते ना पाया ॥ ३ ॥
जिस रस्तेनू नरपति जावे गुजर नही तिस रस्ते ।
मो सम पापी नरककीट जो विकदे सस्ते सस्ते ॥ ४ ॥
सुभगसमय जब प्रीतमने इस जगविच पाय पधारा ।
तिन नरकनमें हम थे मूए यमने ढकना डारा ॥ ५ ॥
बहुत पुकारे मिन्नत कीनी हाथ जोड कह ठानी ।
इकदम देव निकालो सानूं एकहू नाहीं मानी ॥ ६ ॥
ढकना चक निकालो सानूं परम पुरुष है जांदा ।
चरण देखके जिसदे यमजी ? नरको निकले मांदा ॥ ७ ॥
वेचां पडिया औरो सिरपर ना बोलो रे पापो ।
भ्राजगशाह पधारे भूनू नरकवास मन थापो ॥ ८ ॥
दिल बहुतेरा घुटिया तब तां क्या कारिए रे भाई ।
चहुते जतन असाने कीते एको नाहि चलाई ॥ ९ ॥
हाथ बांध पुनि कही देवसो नरको अबहु चलाओ ।
जिस घर कृष्ण वसे तिस घरदे मोरी कीट बनाओ ॥ १० ॥

पांचें स्वरूप हैं उनमेंसे अर्चाविग्रह भी एक स्वरूप है। किं तु हमलोगोंकी वह दशा होगई है यथा पहिले मिलेको कुत्ता लेगया आगेको मिला नहीं तथा भगवत्के साक्षाद्दर्शन तो भाग्यमें हैं नहीं जो अर्चाविग्रहके दर्शन प्राप्त हैं उनपर विश्वास नहीं। यह अविश्वास कुछ तो निसर्गसे ही प्राप्त था नास्तिक लोगोंने उसे औरभी बढादिआ और अनपढ मूर्ख निर्भाग्य लोग नास्तिकोंकी गप्पमें जादा फँसने लगगए वे यह भी नहीं सोचते कि यदि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है तो वह क्या रूपधारण नहीं करसकता यदि रूपधारण नहीं करसकता तो सर्वशक्तिमान् ही कैसे होसकता है।

भगवान्के उक्त पांचों ही स्वरूपोंको अनेक श्रुति और स्मृति प्रतिपादन करती हैं यदि कहो कि कोई लोग स्मृतिको नहीं मानते तो जो नहीं मानते वे न मानें किं तु

यमका वचन–

अश्वमेधसे जिनने सुन रे पुण्य बहुतसे कीने।
कृष्णवासमोरीदा बसा तिनहूं नाहिन दीने॥ ११॥
ज्ञान रूप वह वेदपुज हू शुक बन भूपर धाया।
बालखेलमें राम रम कह इहविध कृष्ण पढाया॥ १२॥
छोड स्वर्गको सुरपति देखो कूकर बनके जावे।
जो कहुं कृष्ण हाथसो अपने जूठी रोटी पावे॥ १३॥
रागनिधी यह नारद देखो गोकुलगलियां फिरदा।
बालकृष्ण जो सामलमुखसों गावे तान मुसकदा॥ १४॥
स्वर्गसकलदा सुदर रतिपति गोकुल बाहर वसया।
रूपनिधीको देखू नैननि काटे पीताम्बर कसया॥ १५॥
बैठ विमाननि स्वर्गसुदरी देखो चहुं दिस धाए।
व्रजचंदेदे दर्शनकारन किते न दर्शन पाए॥ १६॥
लै डमरू यह नदद्वारपर हर धरना जु लगाया।
बडी खुशामद कर कर प्रभुदा पग आखनसो लाया॥ १७॥
गोकुलजन्म लेनदे कारन अरजी अरजी ऊप्पर आवे।
सुरमुनिसिद्धमुनीश्वर चाहें एको नाही पावे॥ १८॥
अजदिन गोकुल जन्म मिले ना कोऊ मनुपशरीरा।
गोधामदे वासी जनमें गोकुल यमुनातीरा॥ १९॥
मान बहुतसों जिनतू ब्रह्मा उचरे नितप्रति भलियां।
देख मूढ वे श्रुतियां अजदिन गोकुलगलियां रलियां॥ २०॥
कौनगती फिर मानुषदो इह फड फड काहे बोलो।
चुपकर वास नरकदा भोगो ढकना काहे खोलो॥ २१॥

१ परवासुदेव अंतर्याम चतुर्व्यूह श्रीरामकृष्णादि अवतार और अर्चाविग्रह ये पांच भगवत्के स्वरूप हैं।

हमको तो माननी चाहिये । हमलोग कुरानको नहीं मानते तो क्या मुसलमानोंने कुरानका मानना छोडदिआ ? किं वा मुसलमान तो वेदके मंत्रभागको भी नहीं मानते तो उनकी देखादेखी तुम मंत्रभागका भी मानना छोडदोगे ? । दूसरे विधर्मिओंका अनुकरण करना उचित नहीं अपने धर्मपर चलना चाहिए । कलिकालमें प्रकटहोनेवाले पंथोंको कलिकालमें प्रकटहोनेकेही कारणसे अधर्म कहना अनुचित नहीं, इनी अधर्मोंकी जब अति वृद्धि होतीहै और सनातन धर्मकी अति हानि होतीहै तब भगवान् प्रकट होकर सनातन धर्मकी रक्षा करते हैं और अधर्मको नष्ट करते हैं ।

इसी कारण भगवान्ने अनंतानंत अवतार धारण किए हैं उनमेंसे कुछ अवतारोंके श्रीपुण्यचारित्रको हमारे पूर्वजमहापुरुषोंने गानकर मोक्षधाम पाया है और हमको मोक्षधामका कृपाकर वही चरित्रगानरूप मार्ग बतायाहै । उसमेंसे श्रीरामचंद्रमहाराजका तथा श्रीकृष्णचंद्रमहाराजका चरित्र बडाही मनोहर ललित और आतिशयित पावन है ॥

श्रीरामचंद्रमहाराजने चक्रवर्ती दशरथराजके घर प्रकट होकर रावणादिदुष्टोंका नाश कर धर्मकी रक्षा की और प्रभुने दयालुताकी सीमा करके दिखादी यदि साक्षात् दयालुताका स्वरूप देखनाहो तो श्रीरामचंद्रके दर्शन करनेचाहिए प्रभुके प्रभावको और क्या लिखूं मरनेपर भी सभ कोई यही कहताहै कि–श्रीरामनाम सत्य है । किं तु भगवान्ने क्षत्रियकुलमें जन्म लिआथा और मर्यादापुरुषोत्तम होकर प्रकटेथे क्षत्रियको तो धर्मज्ञानोपदेशका अधिकार नहीं इसहेतु आपने ज्ञानोपदेश नहीं किआ । एवं श्रीकृष्णचंद्रने वसुदेवके घर प्रकट हो कंसादिदुष्टोंको नष्टकर धर्मकी रक्षा की अब प्रभु लीलापुरुषोत्तम होकर प्रकटेथे स हेतु अर्जुनको ज्ञानोपदेश भी किआ उसी ज्ञानोपदेशामृतको श्रीव्यासदेवने गीतारूपी चषक (कटोरा) में भरादिआहै ।

युधिष्ठिरमहाराजके राजसूय यागको देखकर दुर्योधनको बडी स्पर्धा हुई पांडवोंको नीचा दिखानेका और कोई उपाय न पाय दुर्योधनने युधिष्ठिरके साथ कपटद्यूत खेला द्यूतमें युधिष्ठिर सर्वस्व हारकर वनको चलेगए तदनन्तर पांडवोंने अपने निर्वाहके लिए पांच गाँव मांगे वे भी कौरवोंने न दिए इस हेतु पांडव कौरवोंके युद्धका आरंभ हुआ भगवान्श्रीकृष्णचंद्र अपने भक्त अर्जुनकी रक्षाकेलिए उसके सारथी (कोचवान) बने जब रथ युद्धमंडलमें पहुंचा तो अर्जुन द्रोणाचार्यादि अपने पूज्य तथा बांधवोंको देख उनपर शस्त्र चलाना उचित न समझ युद्धसे विरत होगया उस समय भगवत्ने अर्जुनको ज्ञान और कर्मसे संस्कृत भक्तियोगका उपदेश किआ तब अर्जुनके नेत्र खुले और युद्धमें प्रवृत्त हुआ । इसी युद्धकी वार्ताको अंध धृतराष्ट्र सँजयसे पूछते हैं–

" धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥ " इति ।

हे संजय धर्मका स्थान जो कुरुक्षेत्र है उसमें युद्धके लिए इकट्टे होकर मेरे पुत्रादि और पांडव क्या करते भए अर्थात् कौरव और पांडव जिसप्रकार लडे वह सभ मेरेको सुना ॥ १ ॥

संजय उवाच-

मू०--दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

दोहा-पांडवसेना वतहुसी देख भयो भयभीत ।
दुर्योधन गुरुद्रोणसो वचन कह्यो इह रीत ॥ २ ॥

टी०-पांडवोंकी व्यूहवद्ध वहुतसी सेनाको देखकर दुर्योधनने अपने गुरु द्रोणाचार्यके पास जाकर आगेके वचन कहे ॥ २ ॥

मू०-पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

दोहा-पांडवसेना वहुतसी देखो गुरु चित लाय ।
जो रक्षित तव शिष्यसों द्रुपदपुत्रसो जाय ॥ ३ ॥

टी०-हे गुरुजी देखिए पांडवोंकी कितनी वडी सेना है और उसकी आपका शिष्य द्रुपदका पुत्र व्यूह वनाके रक्षा कररहाहै ॥ ३ ॥

मू०-अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

दोहा-वडे शूर तहँ भीम अरु अर्जुन तुल्य निहार ।
महारथी, रण ठानिहैं, द्रुपद विराट विचार ॥ ४ ॥

टी०-पांडवोंकी सेनामें भीम और अर्जुनके तुल्य लडनेवाले और धनुर्विद्यामें प्रवीण विराट और द्रुपद इत्यादि शूर महारथीभी हैं ॥ ४ ॥

मू०-धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥

दोहा-धृष्टकेतु पुरुजित् तथा चेकितान बलवान ।
काशिराज अरु शैब्य नृप कुंतिभोज अरु जान ॥ ५ ॥

टी०धृष्टकेतु चेकितान काशिराज पुरुजित कुंतिभोज और शैब्य ये सभ राजे भी महारथी उन्हीकी सेनामें हैं ॥ ५ ॥

मू०-युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

दोहा-उत्तमौजा युधामन्यु द्रुपदसुतासुत और ।
पुत्र सुभद्राको सभी महारथी इक ठौर ॥ ६ ॥

टी०-युधामन्यु उत्तमौजा सुभद्राका पुत्र अभिमन्यु और द्रौपदीके पुत्र प्रतिविन्ध्यादि ये सभ भी पांडवसेनामें महारथी हैं ॥ ६ ॥

मू०-अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य सञ्ज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

दोहा-गुरुवर अपने सैन्यके नायक जे इह धाम ।
तुमरे जानन कारने तिनकौ वरनौ नाम ॥ ७ ॥

टी०-हे गुरुजी ! अपनी सेनामें जो प्रधान बली हैं मैं उनका भी आपको परिचय देताहूं अर्थात् अपने प्रधान शूरोंके आपको नाम सुनाताहूं जो आप उनको जानजाएं॥७॥

मू०-भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

दोहा-समरजयी ये शूर-तुम भीषम कृप अरु कर्ण ।
सोमदत्त अरु आपको सुत अरु बली विकर्ण ॥ ८ ॥

टी०-आप (द्रोणाचार्य) भीष्म कर्ण कृप अश्वत्थामा विकर्ण (दुर्योधनका छोटा भाई) और सोमदत्तका पुत्र ये महारथी हैं ॥ ८ ॥

मू०-अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

दोहा-और हु बहुर शूर इह समररीतिसुज्ञान ।
मम कारण जिन आपने प्राण हु कीने दान ॥ ९ ॥

टी०-अपनी सेनामें और भी बहुतसे ऐसे शूर हैं जो अनेक शस्त्रोंके चलानेमें और युद्धविद्यामें बडे निपुण हैं तथा मेरे लिए युद्धमें अपने प्राण देनेको भी तयार हैं ॥९॥

मू०-अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

दोहा–भीषमरक्षित आपुनी सेना मान विहीन ।
पांडवसेना अल्पसी भीम रखाई क्षीन ॥ १० ॥

टी०–भीष्मपितामहसे रक्षित अपनी सेना परिमाणरहित (बहुत) है । और भीमरक्षित पांडवसेना अल्प है। क्योंकि अपनी सेनामें ग्यारह अक्षौहिणी हैं और पांडवसेनामें तो सात अक्षौहिणी हैं । किंवा श्लोकका ऐसा अर्थ जानों कि दुर्योधन कहता है कि–अपनी सेना अपर्याप्त अर्थात् विजयके समर्थ नहीं और पांडवसेना पर्याप्त है अर्थात् विजयके समर्थ है ॥ १० ॥

मू०–अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

दोहा–अपने अपने स्थानपर सावधान ह्वै लोग ।
भीषमकी रक्षा करैं इह रीती रणयोग ॥ ११ ॥

टी०–युद्धके समय योद्धाओंके जो स्थान होते हैं उनका नाम है अयन अर्थात् मुहाना, उन अपने अपने स्थानोंपर यथाविभाग डटेहुए आपलोग सब भीष्मकी रक्षा करें क्यों कि भीष्म ही सेनाध्यक्ष है ॥ ११ ॥

मू०–तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

दोहा–दुर्योधनको हर्ष जस बढै सोच मन वीर ।
सिंहनाद करि भीष्मने शंख बजायो धीर ॥ १२ ॥

टी०–दुर्योधनके हर्षके बढनेकेलिए कुरुओंमें वृद्ध भीष्मपितामहने सिंहनाद करके रणका शंख बजाया ॥ १२ ॥

मू०–ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

दोहा–शंख नगारे पणव अरु जोर बजाए बाज ।
मिल सब शूरनने तदा शब्द भयो बहु राज ॥ १३ ॥

टी०–तदनन्तर कौरवसेनाके सब शूरोंने अपने अपने शंख नगारे प्रभृति बाजे झटपट बजादिए उन बाजोंका शब्द बडा भारी हुआ ॥ १३ ॥

मू०–ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

दोहा-श्वेततुरगयुतरथचढे अर्जुन माधव आय ।
दिव्य शंख तिन दोउने भले बजाए राय ॥ १४ ॥

टी०-तब तो सफेदघोडोंसे युक्त बडेभारी रथमें बैठेहुए श्रीकृष्णचंद्रमहाराजने तथा अर्जुनने दिव्य शंख बजाए ॥ १४ ॥

मू०-पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥

दोहा-पांचजन्य हरिने तथा अर्जुनने धरि हाथ ।
देवदत्तको, पौंड्रको भीम बजायो साथ ॥ १५ ॥

टी०-जिसने जिस शंखको बजाया अब उनके नाम कहते हैं--श्रीकृष्णचंद्रने पांचजन्यशंखको, अर्जुनने देवदत्तशंखको, भीमने पौंड्रशंखको बजाया । पांचजन्य इत्यादि इनके शंखोंके नाम हैं ॥ १५ ॥

मू०--अनंतविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

दोहा-अनंतविजय जो शंख तिस आप युधिष्ठिर राइ ।
मणिपुष्प सहदेवने नकुल सुघोष बजाइ ॥ १६ ॥

टी०-महाराज युधिष्ठिरने अनंतविजयशंखको, नकुलने सुघोषशंखको, सहदेवने मणिपुष्पशंखको बजाया ॥ १६ ॥

मू०--काश्यश्च परमेष्वासः शिखंडी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥

दोहा-काशिनरेंद्र बजाय अरु शंख शिखंडी धीर ॥
धृष्टद्युम्न विराट नृप सात्यकि युद्धगंभीर ॥ १७ ॥

टी०-काशिराज शिखंडी धृष्टद्युम्न विराट और सात्यकि इन राजाओंने भी अपने अपने शंख बजाए ॥ १७ ॥

मू०--द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान् दध्मुः पृथक्पृथक् ॥ १८ ॥

दोहा--द्रुपदसुतासुत आपने शंख द्रुपदनरराइ ।
महाबाहु अभिमन्यु हू अपनो शंख बजाइ ॥ १८ ॥

टी०-द्रुपदराजा द्रौपदीपुत्र प्रतिविंध्यादि और अर्जुनपुत्र अभिमन्यु इनने भी अपने अपने शंख बजाए ॥ १८ ॥

मू०--स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

दोहा--तिन शंखनके शब्दसों कौरवहृदय कँपा ।
मही गगन सभ दिश तथा करि पूरण गुंजाइ ॥ १९ ॥

टी०--उन शंखनके भीषण शब्दने कौरवोंके हृदयको चूरचूर करडाला और आकाश और पृथ्वीको गुंजाय दिआ अर्थात् उस शब्दसे आकाश और पृथ्वी गूंज उठे ॥ १९ ॥

मू०--अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

दोहा--पुत्रनको धृतराष्ट्र ते रणकटिबद्ध निहार ।
दुहूं सैन्यमें जब चले नानाशस्त्र अपार ॥ २० ॥
धनुष उठा अर्जुन तदा कह्यो कृष्णसों राउ ।
दोऊ सैन्यके मध्यमें चल हरि रथ ठहराउ ॥ २१ ॥

टी०--अर्जुनने जब धृतराष्ट्रपुत्रोंको युद्धके लिये कटिबद्ध देखा और परस्पर सेनामें शस्त्र चलना आरंभ हुआ तो धनुषको उठा श्रीकृष्णचंद्रसे कहा कि--हे अच्युत दोनों सेनाओंके मध्यमें मेरे रथको लेचलकर खडाकरो ॥ २० ॥ २१ ॥

मू०--यावदेतान्निरीक्ष्येऽहं योद्धुकामानऽवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

दोहा--देखौं हौं इह कौनकी युद्धकामना धीर ।
किन किन संग मोहे अवस करनो युद्ध गंभीर ॥ २२ ॥

टी०--क्यों कि यहां युद्धकामनावाले वीर कौन कौन हैं यह देखूं और मुझे किन-किनके संग युद्ध करना होगा यह विचारलूं इस हेतु दोनों सेनाओंके मध्यमें चलो॥२२॥

मू०--योत्स्यमानानवेक्ष्येऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

दोहा–दुर्योधन दुर्बुद्धिको प्रियहित करने काज।

रणहठ हियमें ठानिके आए राजसमाज ॥ २३ ॥

टी०–दुर्बुद्धिवाले दुर्योधनका युद्धमें प्रिय (उपकार) करनेकी इच्छावाले जो युद्ध करनेको यहां आएहैं उनको मैं अवश्य देखूंगा ॥ २३ ॥

सञ्जय उवाच–

मू०–एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥ २५ ॥

दोहा–अर्जुनके इसवचनको सुनि माधव मन लाइ।

दोउसैन्यके बीचमें लाए सुरथ चलाइ ॥ २४ ॥

भीष्म द्रोण तथा सभी नृपतिन समुख होय।

अर्जुनसो भगवत् कह्यो देखो कुरुकुल दोय ॥ २५ ॥

टी०–अर्जुनके उक्तवचन कहनेसे दोनोंसेनाओंके बीचमें रथको खडा करके भीष्म द्रोण तथा सब राजाओंके संमुख भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा कि हे पार्थ यहां जोजो कौरवलोग इकट्ठे हुएहैं उनको देखले ॥ २४ ॥ २५ ॥

मू०–तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥

दोहा–तहँ देखे अर्जुन तदा दादा चाचा और।

गुरु मातुल भ्राता सखा पुत्र पौत्र इकठौर ॥ २६ ॥

श्वशुर सुहृद बांधव तथा दउ सैन्यके माहि।

इन सब बधुनको निरख अर्जुन विकलमहाहि ॥ २७ ॥

करुणासो दुखपायके कह्यो वचन चित धार।

टी०–अर्जुनने वहां देखा तो कोई चाचा है कोई दादा गुरु मामा भ्राता पुत्र पौत्र सखा श्वसुर तथा मित्र है उन अपने बांधवजनोंको देखकर करुणासे दुःखी होकर अर्जुनने भगवत्से आगेके वचन कहे करुणासे दुःख यों हुआ कि उक्तबांधवलोगोंके मरनेमारनेका समय प्राप्त होगया ॥ २६ ॥ २७ ॥

अर्जुन उवाच--

मू०--दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ॥
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक् चैव परिदह्यते ॥
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥

दोहा--युद्धकामना मन किए अपने बधु निहार ॥ २८ ॥
अँगपीडा मुखशोष अरु मेरे भयौ अपार ।
तनु काँपत रोमांच हू प्रतिछिन अधिक निहार ॥ २९ ॥
गिरे धनुष करसों, त्वचा हरी जरीसी जात ।
बैठ सकौं ना सुन हरे अरु चित अति मुरझात ॥ ३० ॥
शकुन तथा विपरीत हों भगवन् बहुत दिखात ।
रणमधि बांधव मारिकै नहीं भलाई तात ॥ ३१ ॥
विजय न चाहौं राज अरु ना चाहौं सुख तात ।
भोग राज करिहौं कहा जियबौ कौन सुहात ॥ ३२ ॥

टी०--हे भगवन् युद्धकरनेकेलिए आएहुए इनबांधवोंको देखकर मेरे अङ्गोंमें पीडा होनेलगी है शरीर टूटताजाताहै मुख सूखताजाताहै । शरीर कांपताहै रोमांच होगयाहै । मेरे हाथसे धनुष गिरताजाताहै और त्वचा तप्त होगई है (शरीर संतापसे जल रहाहै) मेरा मन मुरझाताजाताहै मैं इतना व्याकुल होगयाहूं कि बैठ भी नहीं सकता किन्तु गिराजाताहूं ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

हे केशव शकुनभी विपरीत=अनिष्टसूचक ही दिखाईदेतेहैं । तथा रणमें बांधवजनोंको मारकाटकर भी मुझे कुछ भलाई प्रतीत नहीं होती ॥ हे श्रीकृष्ण मुझे विजय राज्य तथा सुखकी भी इच्छा नहीं फिर क्यों बांधवजनोंको मारूं । और बांधवजनोंके विना हमारा राज्य भोग (विषयोपभोग) और तो क्या जीवन भी वृथा है ॥३१॥३२॥

मू०–येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥ ३३ ॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा॥ ३४॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

दोहा–जिनके हित सुखभोग अरु चहियत राज सुजान ।
वे सभ आए युद्धमे तज निज धन अरु प्रान ॥ ३३ ॥
पितर पितामह पौत्र सुत आचारय सुत तात ।
मामे साले श्वशुर अरु जो इह बधु दिखात ॥ ३४ ॥
इनपर शस्त्र चलाउं ना ये मोहि मारे तोउ ।
भूनृपताहित क्या हरे स्वर्गराज्य लहूँ जोउ ॥ ३५ ॥

टी०–हे श्रीगोविंद ! हमको भोग तथा राज्यकी भी कुछ अपेक्षा नहीं क्यों कि जिनकेलिए यह राज्य भोग तथा सुख चाहिएं वे सभ तो अपने धन तथा प्राणोंको भी त्यागकर अर्थात् प्राणदेनेको युद्धमें आडटे हैं, इनके युद्धमें मरजानेपर यहराज्य हमारे कौनकाम आएगा ? । वे कौन हैं सो कहतेहैं–आचार्येति, आचार्य चाचे ताए दादे पुत्र पौत्र साले ससुर तथा और भी बहुतसे संबधी युद्धमें आएहैं ये मुझे चाहें मारडाले तो भी मैं इनपर शस्त्र नहीं चलाऊंगा । और इस पृथ्वीमात्रके राज्यकेलिए तो मैंने इनपर क्या शस्त्र चलानाहै यदि तीनों लोकोंका मुझे राज्य मिले तो भी मैं इनपर शस्त्र नहीं चलाऊंगा ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

यद्यपि उक्तवचन क्षत्रियधर्मसे विरुद्ध होनेसे अर्जुनसे वीरको शोभा नहीं देते तथापि अर्जुन उस परमदयालु श्रीकृष्णचंद्रका सखा है इस हेतु अर्जुनके हृदयमें भी बहुतसी दया भरी है उसी दयाका प्रवाह वाणीरूप होकर हठात् अर्जुनके मुखसे निकलरहाहै । हे पाठकवर जिस श्रीकृष्णके संगमात्रका यह फल है उस भगवान् श्रीकृष्णचंद्रकी दयालुताको कौन है जो हाथसे लिखसके वा जिह्वासे वर्णन करसके जब उसके सखा अर्जुनने अपने विरोधी भी बांधवोंपर क्षात्रधर्मकी टेक छोड इतनी दया ईदरसा है तब उसभगवान्का क्या कहनाहै कि वह अपने अनुकूल वैष्णव भक्तोंकेलिए अपनी टेक न छोडे किं वा पूर्ण कृपा न दिखाए जैसे चंद्रदर्शनसे समुद्रमें लहरें उठने लगती हैं, वैसेही निज भक्तके दुःखसे भगवत्के कृपासमुद्रमें लहरें उठने लगतीहैं शोक है कि इतना सौलभ्य होनेपर भी हम पापी लोग नहीं सोचते ।

मू०–निहत्य धार्त्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

दोहा–कौरवकुलसहारकर हर्ष हमारो नाँह ।
इन पापिनकौं मारिकै पाप लगै हम माँह ॥ ३६ ॥
पुत्रनको धृतराष्ट्रके उचित नहीं संहार ।
हम ह्वैहैं कैसे सुखी अपने बांधव मार ॥ ३७ ॥

टी०–हे भगवन् धृतराष्ट्रपुत्रोंको मारकर हमको क्या हर्ष होगा ? कुछ न होगा, प्रत्युत इन पापिओंको मारनेसे हमको पाप ही लगेगा । इस हेतु हमें धृतराष्ट्रपुत्रोंको मारना उचित नहीं, हे माधव अपने बांधव संबंधिओंको मारकर हम कैसे सुखी होंगे ? नहीं होंगे ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

मू०–यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

दोहा–मित्रघातकुलनाशमें नाहि विचारे पाप ।
कौरवगण दुर्बुद्ध ये–राजलोभ हिय थाप ॥ ३८ ॥
कुलविघातके पापसों दूर रहै इह हेत ।
या पापोंको प्रबल हम क्यों ना मानै चेत ॥ ३९ ॥

टी०–हे श्रीजनार्दन यद्यपि ये कौरव राज्यलोभमें फँसकर कुलक्षय तथा मित्रद्रोहक पापपर ध्यान नहीं देते तथापि इस कुलक्षय तथा मित्रद्रोहके पापसे निवृत्त होनेके लिए हम जानबूझकर इस पापपर क्योंकर ध्यान न दें ?॥ ३८ ॥ ३९ ॥

मू०–कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

दोहा—नष्ट होत कुलनाशसों कुलके वैदिक धर्म ।
धर्मरहित कुल सकलको आय दबात अधर्म ॥ ४० ॥
जब अधर्म कुलमें बढ़े पर नर जुटतीं नार ।
वर्णसंकर उपजते परनरसग विचार ॥ ४१ ॥
सकरसो नरकन गिरैं कुल कुलघातक जोय ।
गिरैं स्वर्गसो पितर तिन तर्पण पिंड न होय ॥ ४२ ॥

टी०—कुलका क्षय होनेसे सनातन कुलधर्म नष्ट होजाते हैं धर्मके नष्ट होजानेसे अधर्म बढ़कर समग्रकुलमें छायजाता है, अधर्मसे जब कुल दब जाता है तो कुलकी स्त्रिएं व्यभिचारिणीएं होजाती हैं उनके व्यभिचारसे उनसे वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं, वर्णसंकरके उत्पन्न होनेसे वह कुल और उस कुलपुरुषोंके घातक सभ नरकमें जाते हैं और उस नष्ट कुलमें कोईभी शुद्धपुरुष न रहनेसे तर्पण और पिंड पितरोंको नहीं पहुंचता तब तो वे पितर भी स्वर्गसे गिरजाते हैं ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

अर्जुन विचारेको यह खबर न थी कि थोडेही कालमें कुलपुरुष रहते भी व्यभिचार होकर वर्णसंकर होंगे और श्राद्धक्रिया स्वरूपसे ही नष्ट होजायगी वह समय अब चारों ओर व्याप्त होगया है। हे पाठकगण यदि कुछभी दृष्टि है तो सोचकर देखो कि अर्जुनने राज्यलाभ तथा युद्धादि क्षत्रियधर्मकी तरफ भी ध्यान नहीं दिआ, किंतु सनातन धर्म जो श्राद्धादि हैं उनीपर ध्यान दिआ।

मू०—दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

दोहा—संकरताकर दोष इन कुलघातकके तात ।
जातिधर्म कुलधर्म अरु नष्ट सकल ह्वै जात ॥ ४३ ॥
नष्ट भये कुलधर्म जिन तिन पुरुषनको जान ।
वास अवस हो नरकमे गाई वेद पुर, ॥ ४४ ॥

टी०—वर्णसंकरताको करनेवाले जो कुलघ्नके कुलघातादि दोष हैं उनसे कुलघ्नोंके तथा हतकुलोंके जातिधर्म और कुलधर्म नष्ट होजाते हैं । जिन मनुष्योंके कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट होजाते हैं उनका अवश्य ही नरकमें वास होता है ऐसा ही वेद और पुराणमें कहाहै ॥ श्रुति यथा—"पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्" "साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन" अर्थात् पुण्यसे स्वर्ग प्राप्त होता है पापसे नरक प्राप्त होता है ॥

जातिधर्म यथा–ब्राह्मणके याजन अध्यापन प्रतिग्रहादि । क्षत्रियके आर्त्तरक्षादि । वैश्यके व्यापारादि । शूद्रके सेवादि । द्विजमात्रके यजन अध्ययनादि । हिंदूमात्रके शांति दांति दान भगवदुपासना नित्य नैमित्तिक कर्म यथा श्राद्धादि इत्यादि यथाधिकार जानने ।

कुलधर्म यथा–कोईके कुलमें श्रीवृंदावन जाकर कोईके कुलमें श्रीअयोध्याजी जाकर बालकका मुंडन किआजाता है । कोईके घर श्रीराघवेन्द्रका पूजन होताहै कोईके घर श्रीकृष्णचंद्रका पूजन होताहै । कोईके घर श्रीरामानुजसंप्रदाय चली आती है कोईके घर माध्वसंप्रदाय चली आती है । संप्रदाय कुछ जातिधर्म नहीं कुलधर्म ही है क्यों कि सभ संप्रदायोंमें सभी जाति (हिंदूमात्र) का अधिकार है हां इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि जीवको नीचे नीचे न गिरना चाहिए किं तु ऊपर ऊपर चढना चाहिए इस हेतु अन्य संप्रदायको छोड़कर वैष्णव होना अवश्यही उचित है वैष्णवसंप्रदायको छोड़कर अन्यसंप्रदायमें जाना उचित नहीं कहा भी है–

"आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनःपुनः ।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा ॥ " इति ॥

अर्थात् समग्रशास्त्रोंके विचारसे यही सिद्ध होताहै कि श्रीनारायणकी ही उपासना करनी ही चाहिए ।

लौकिक व्यवहारसे भी यही प्रतीत होताहै कि श्रीवैष्णवसंप्रदाय ही सभसे उत्कृष्ट है देखो-मरनेपर हिंदूमात्रको चाहे वह शाक्तभी क्यों न हो श्रीरामनाम सत्य है यही कहनापडताहै । अद्वैत संन्यासीभी मरणसमय श्रीनारायणनामको ही उच्चारण करतेहैं । गमार लोग भी विष्णु विष्णु यह कहकर मार्जन करते हैं विद्वान् लोग भी " अपवित्रः पवित्रो वा " इस श्लोकसे भगवान्विष्णुका ही स्मरण करते हैं । श्राद्धादिकर्मानंतरभी भगवान्विष्णुका ही स्मरण किआजाता है । मंगलकार्योंमें भी " मंगलं भगवान् विष्णुः " यही कहाजाताहै । यज्ञादिकर्म भी भगवान्विष्णुके ही अर्पण किएजाते हैं । " मोक्षमिच्छेज्जनार्दनात् " इस वचनप्रमाणसे मोक्ष भी श्रीनारायणसे ही प्राप्त होसकती है और पुरुषार्थोंमें मोक्ष ही प्रधान पुरुषार्थ है इस हेतु भी वैष्णवसंप्रदाय ही सभ संप्रदायोंमें प्रधान है । सभ लोग चंद्रमाको मामा कहते हैं उसका यही हेतु है कि समुद्रमेंसे ही लक्ष्मी और चंद्रमा निकले हैं सो चंद्रमा श्रीनारायणका साला लगा श्रीनारायण तो सभका पिता है (उत्पादकत्वात्) इसहेतु चंद्रमा सभका मामा लगा । श्रीलक्ष्मीके प्रति देवताओंने कहा भी है—

"त्वं माता सर्वभूतानां देवि देवो हरिः पिता ।
त्वया च विष्णुना देवि जगद्व्याप्तं चराचरम् ॥ "

अर्थात् हे श्रीलक्ष्मीजी आप सभकी माता, हैं श्री हरि सभके पिता हैं । और भी कहाहै—

"यथा हि स्कन्धशाखानां तरोर्मूलावसेचनम् ।
एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि ॥ १ ॥"
"सुखसेव्यः सुखाराध्यो जगदीशः सुखप्रदः ।
हरिरेको न संदेहः सर्वशास्त्रेषु संमतः ॥ २ ॥"

अर्थात् यथा वृक्षके मूलको जल देनेसे पत्तेपत्तेको पहुंचजाताहै एवं एक श्रीनारायणकी सेवासे सभकी सेवा होजातीहै तथा सर्वशास्त्रोंका यही सिद्धांत है कि एक श्रीहरिकी ही सेवा करनी ही चाहिए वही श्रीहरि ही सुखदाता है अर्थात् उर्वप्रधान सुख जो मोक्ष है उसको देनेवाला श्रीहरि ही है । संप्रदायोंमें सभसे बढकर श्रीवैष्णव संप्रदाय है ।

यदि आपके हृदयमें कुछ अद्वैतवासना है तो श्रीरामानुजसंप्रदायके ग्रंथ देखिए आपको अद्वैतसंप्रदायकी अंधाधुंध सभ आपही प्रतीत होजाएगी वैष्णवोंकी युक्ति और प्रमाणोंके आगे अद्वैतसंप्रदाय एक पैर भी ठहर नहीं सकती। विद्यानिधि श्रीहनुमंताचार्यजी यही कहा करते थे कि अद्वैतसंप्रदाय तो हजार छेदका घडा है वस्तुगत्या अद्वैतसंप्रदायके पैर वहुत ही कच्चे हैं ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

मू०--अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

दोहा—बडो अचंभो है जु हम राजलोभसें आप ।
महापाप करनो रच्यौ बंधुघातको वाप ॥ ४५ ॥

टी०--हे भगवन् बडे कष्टकी बात है जो हमलोग राज्यसुखके लोभसे बांधवघातरूपी महापापके करनेको उद्यत हुए हैं ॥ ४५ ॥

मू०—यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

दोहा—द्वेषशस्त्रते हीनको मोहि कै रवकुल जोय ।
रणमे मारे तो सखे मेरो मंगल होय ॥ ४६ ॥

टी०--मैं कौरवोंसे उनके किए द्वेषका पलटा न लेऊं और अपने पास शस्त्र भी न रक्खूं ऐसी दशामें मुझे यदि कौरवलोग शस्त्र लेकर रणमें मारडालें तो मेरेलिये वहुत ही अच्छा हो ॥ ४६ ॥

संजय उवाच--

मू०--एवमुक्त्वाऽर्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतायाः प्रथमाध्यायः समाप्तः ॥

दोहा--गये बैठ इह वचन कह धनुषबाणको छोड ।
व्याकुलहिय अर्जुन रथमधि मुखरणसों मोड ॥ ४७ ॥

॥ श्रीभगवद्गीतासतसईका प्रथमाध्याय समाप्त हुआ ॥

टी०--इस प्रकारके दयाभरे वचन कहकर और धनुषबाणको हाथसे छोडकर शोकसे बहुत ही व्याकुल होकर रणमें अर्जुन रथमें बैठ गया, अर्थात् युद्ध करनेसे विमुख होगया क्यों कि रथमें तो प्रथमसे ही बैठा ही है ॥ ४७ ॥

इति पंजाबीपंडितसुदर्शनाचार्यशास्त्रिप्रणीत तत्त्वार्थसुदर्शनीटीकाका प्रथमाध्याय समाप्त हुआ ।



॥ श्रीहरये नमः ॥

श्रीः

॥ अथ द्वितीयोऽध्याय ॥



संजय उवाच--

मू०--तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

दोहा--इहविध लोचन जल किए दयाभरे हिय दीन ।
दुःखित अर्जुनसों हरि वचन नीतको कीन ॥ १ ॥

टी०--परमदयैकनिधिकल्याणगुणगणार्णवश्रीभगवान्‌का अर्जुन सखा तथा भूआ-का पुत्र भ्राता है इस हेतु अर्जुनके हृदयमें बांधवदयाका समुद्र लहरानेलगा वही समुद्र उमडकर मानो नेत्रद्वारा बाहिर निकल आया ऐसे कृपाभरे रोतेहुए दुःखी अर्जुनको भगवत्‌ने वचन कहा--अहो भगवान् कैसे दयालु हैं एक तो अर्जुनके सारथी बने उसपरभी अर्जुनके अज्ञानको दूर किआ ऐसे भगवान्‌की जो उपासना नहीं करता उससे बढकर कौन निर्भाग्य होगा ॥ १ ॥

श्रीभगवान् उवाच--

मूल--कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ? ॥ २ ॥

दोहा--स्वर्गकीतिसौं जन्यको मोह कहा सो चोर ।
ऐसे विषम समय सखे मायो मनस तोर ॥ २ ॥

टी०--हे अर्जुन जब चारों ओरसे शत्रुओंने तुझे घेर रक्खा है ऐसे विषमय समय स्वर्गका तथा कीर्तिका नाश करनेवाला और अनार्य--अज्ञानी किंवा अकुलीन लोगोंके हृदयमें रहनेवाला यह मोह = अज्ञान तेरे हृदयमें कहांसे आ घुसा ? ॥ भगवत्‌कोलिए कोई भी समय विषम नहीं तथापि भगवदवतारका प्रधान प्रयोजन जो दुष्टनिग्रह है उसका यह प्रधान समय है इस हेतु भगवत्‌ने विषमशब्द कहा ॥ २ ॥

मू०--क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

दोहा—क्लीव बनो जिन, क्लीवना तोहे नाँह सुहात ।
हृदय निबलता त्यागिकै कसो कटी अब तात ॥ ३ ॥

टी०—हे परंतप = शत्रुपराभवकरणसमर्थ अर्जुन नपुंसक मत वन यह नपुंसकता तुमको शोभा नहीं देती हृदयकी क्षुद्र (अयोग्य) दुर्वलताको छोडकर युद्धके लिये उठो अर्थात् कमर कसो ॥ अन्यथा क्षत्रियधर्मसे विमुख होनेके कारण जगत्में तेरी निंदा होगी और परलोकमें तेरे स्वर्ग नष्ट होजाएंगे क्यों कि युद्धमें शत्रुको मारना ही क्षत्रियका वर्णधर्म है उसीमें भगवत् अर्जुनको प्रवृत्त करतेहैं । वर्णधर्मोंपर चौका फेरनेवालेंको इन श्लोकोंके अभिप्रायकी ओर भी तनिक निहारना चाहिए । परंतु वे कैसे निहारें उन्हें तो वर्णाश्रमधर्मोंका लोप कर ही भारतकी मट्टीको सुवर्ण बानानाहै । भगवदिच्छा ही प्रबल है ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच-

मू०—कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

दोहा—द्रोण भीष्म गुरु दोउ जे पूजनयोग्य सुजान ।
शिष्य होय तिनपर सखे किमविध छोड़ू बान ॥ ४ ॥

टी०—हे श्रीमधुसूदन दुर्योधनादिकी तो कोई वात नहीं किंतु द्रोणाचार्य मेरे गुरु हैं भीष्म मेरे पितामह हैं उनपर उनके वाणके पलटमें भी मैं कैसे वाण छोड़ूं क्यों कि दोनोंही मेरे पूज्य हैं ॥

अर्जुनने व्याकुलताके कारण इसवातपर ध्यान नहीं दिआ कि जो भगवदनुकूल हो वही पूज्य कहाताहै । जिस माताकी श्रुति भी प्रशंसा करतीहै कि "माता पूर्वरूपम्" उसी अपनी माताको भगवत्के प्रतिकूल होनेसे श्रीभरतजीने भरत त्याग दिआ तुलसीदासजीने भी कहा है—" तज्यो पिता प्रह्लाद विभीषण बंधु भरत महतारी" इति ॥ ४ ॥

मू०—गुरूनऽहत्वा हि महानुभावा-
ञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वाऽर्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

दोहा—गुरुजनघात विना भलो भोजन भिक्षा लाय ।
विषयनसक्तगुरुघात कर भोग भलो न सुहाय ॥ ५ ॥

टी०—पूज्यजनोंको न मारकर जो भिक्षान्नका भोजन है वह भी बहुत श्रेष्ठ है । श्लोकके उत्तरार्धमें पूर्वोक्त कथंपदकी अनुवृत्ति करलेनी—विषयासक्तगुरुजनको मार-

कर उनके भोजनीय विषयोंका उनके रुधिरसे भीगेहुओंका उनीके स्थानोंपर बैठकर मैं कैसे भोग करूं ? । अर्थात् ऐसा उचित नहीं ॥ ५ ॥

मू०--न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्त्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

दोहा—ना जानौ बलवान को विजय कौनको होय ।
जिन बिन जिवना ना बने ते रहिहैं जिय खोय ॥ ६ ॥

टी०--हे भगवन् हम दोनो (पांडवकौरवों) मेंसे कौन बलवान् है यहभी दृढ निश्चय नहीं तथा हम जीतेंगे या कौरव हमको जीतेंगे यह भी निश्चय नहीं क्यों कि विजयलक्ष्मी न जाने किर, ओर झुके इसहेतु युद्ध करना उचित नहीं और जिन धृतराष्ट्रपुत्रोंके विना हम जीनेकी इच्छा भी नहीं करते वे धृतराष्ट्रपुत्र यहां युद्धमें प्राण देनेको खडे होरहेहैं ॥ यहांपर मधुसूदनसरस्वतीने तो ऐसा अर्थ किआहै कि भिक्षान्नभोजन और विजयलाभ इन दोनोंमेसे कौन श्रेष्ठहै इसे हम नहीं जानते सो यह अर्थ सर्वथा असंगत है क्यों कि उचित नहीं प्रतीत होता । श्रीवरवरमुनिस्वामीने तो कौरवोंका विजय और हमारा विजय इनदोनोंमेंसे कौन हमको श्रेष्ठ है यह हम नहीं जानते ऐसा अर्थ कियाहै ॥ ६ ॥

मू०—कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ६ ॥

दोहा—उत्साहहीन, हिय धर्ममें मूढ, विकल रणघोर ।
शिष्यरूप तव शरण हौं कहो भलाई मोर ॥ ७ ॥

टी०—हे सखे मेरा उत्साह नष्ट होगयाहै किंवा " यानेव हत्वा न जिजीविषामः " इत्यादिसे कहा जो बांधवस्नेह है वही कारुण्यरूपी दोष है उससे मेरा भाव = धैर्य नष्ट होगयाहै और गुरुजनको न मारकर भिक्षा भोजन ही धर्म है किंवा गुरुजनको मारकर राज्यभोग ही धर्म है यह भी मुझे निश्चय नहीं होता इस हेतु मेरा चित्त धर्ममें मोहको प्राप्त होगयाहै ऐसा मैं शिष्यरूपसे आपकी शरण आयाहूं इस समय मुझे क्या करना चाहिये सो आप निश्चिय कहिए ॥

यहांसे अर्जुन शिष्य बनाहै तथा भगवान् भी गुरु बनकर वेदांतार्थका उपदेश करेंगे श्रुतिने भी कहाहै "स गुरुमेवाभ्यगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्"। यहां तो स्वयं ब्रह्म ही अर्जुनको मिलगया फिर क्योंकर शरणागत न हो। जो लोग गीताकी पुस्तकको हरदम पाकिटमें रखकर भी वैष्णवधर्मोंकी निन्दा करतेहैं उन्हें इस श्लोकपर भी ध्यान देना चाहिए। इस श्लोकसे यही प्रतीत होताहै कि जीवको अवश्य ही भगवत्के शरणागत होनाचाहिए। हमलोगोंको स्वयं भगवान् प्राप्त नहीं है इसलिए आचार्यद्वारा शरणागत होनाचाहिए। यदि कहो कि अर्जुन तो विपत्तिमें फँसा था इस हेतु उसने शरण ली अन्य जीवको शरणागत होनेकी क्या अपेक्षा है? तो संसारसम्बन्धसे बढ़कर और कौन विपत्ति होगी उस संसाररूपीविपत्तिकी निवृत्तिके ही लिए जीवमात्रको अवश्य हो आचार्यद्वारा भगवत्शरणागत होनाचाहिए।

वह शरणागति भी संप्रदायभेदसे अनेक प्रकारकी होगई है किसी संप्रदायमें मंत्रमात्रका उपदेश होताहै किसी संप्रदायमें कंठि बांधकर मंत्र दिआजाताहै श्रीरामानुज तथा श्रीमाध्व संप्रदायमें पंचसंस्कार करके मंत्र दिआजाताहै तप्तमुद्रा तिलक नाम मंत्र और याग ये पंचसंस्कार हैं इनमेंसे कुछ अल्पज्ञ निंदक लोग तप्तमुद्राधारणकी निंदा भी घरमें बैठकर किआकरतेहैं उनके संतोषार्थ मैं यहां कुछ प्रमाण लिखदेताहूं श्रुति यथा- "अतप्ततनुर्न तदामोऽश्नुते" "चक्रं बिभर्ति पुरुषो-ऽभितप्तं बलं देवानाममृतस्य विष्णोः" "उरुक्रमस्य चिह्नैरङ्किता लोके सुभगा भवामः" "हरेः पादाकृतिमात्मनो हिताय मध्ये छिद्रमूर्ध्वपुण्ड्रं यो धारयति स परस्य प्रियो भवति न मुक्तिभाग् भवति" इति। स्मृति यथा-

"तापादिपञ्चसंस्कारी महाभागवतोत्तमः।
अन्ये त्ववैष्णवा ज्ञेया हीनास्तापादिभिर्जनाः॥
अग्निनैव तु संतप्तं चक्रमादाय वैष्णवः।
दाहयेत्सर्ववर्णानां विष्णुसालोक्यसिद्धये॥
येषां चक्राङ्कितं गात्रं शूद्रेष्वापि च दृश्यते।
ते वै स्वर्गस्य नेतारो ब्राह्मणा भुवि दुर्लभाः।
विष्णुचक्राङ्कितं विप्रं पूजयेच्छ्राद्धकर्मणि॥" इति।

इस समय श्रुति स्मृतियोंका यह अर्थ है कि हिंदुमात्रको तिलक मुद्रा धारण करने को चाहिये विशेष प्रमाण देखना हो तो चक्रोल्लास सुदर्शनमीमांसादि ग्रंथोंमें देखिए

यद्यपि अर्जुनके उक्त पंचसंस्कार हुएथे इसमें कोई प्रमाण नहीं तथापि अर्जुनके पंचसंस्कार नहीं हुएथे इसमें कोई प्रमाण नहीं। अर्जुनके आचार्यने जब अर्जुनको अष्टाक्षरमंत्रका उपदेश किआहोगा तब अवश्यही तप्तमुद्रा भी दी होगी ही। पंचसंस्कारका होना उस सत्ययुगमयमें साधारणसी बात थी इसहेतु उसका कहीं श्रीव्यासदेवने उल्लेख नहीं किआ।

और यहांपर तो आगे भगवत्ने अर्जुनको वेदांतोपदेश ही करना है कुछ अष्टाक्षरोपदेश नहीं करना जो यहां पंचसंस्कारका कुछ उल्लेख होता । यदि अर्जुनके पंचसंस्कार नहीं भी हुयेथे तो भी हमलोग अर्जुनकी बराबरी नहीं करसकते क्यों कि जो भगवान् हमारे ध्यानका विषयभी नहीं होता वह भगवान् अर्जुनका तो रथ चलाताथा । और सरकारी हरएक नौकरको अपनी वरदी अवश्य पहरनी चाहिए किं तु पादशाहके खासके जो नौकर होते हैं वे यदि वरदी न भी पहिरें तो भी कुछ दोष नहीं होता क्यों कि वे सदा पादशाहके पास रहते हैं, एवं सदा भगवत्के पास रहनेवाले अर्जुनादिने यदि पंचसंस्कारादिरूप वैष्णव धर्मकी वरदी न भी पहरी हो तो कुछ दोष नहीं और उनके अनुकरणसे हमें कदापि उस पंचसंस्काररूपी वरदीका त्याग नहीं करान चाहिये ॥

वैष्णवसंप्रदाय चार ही प्रधान हैं—श्रीरामानुजसंप्रदाय १, श्रीमाध्वसंप्रदाय २ श्रीविष्णुस्वामीसंप्रदाय ३ श्रीनिंबार्कसंप्रदाय ४ श्रीरामानंदीप्रभृतिसंप्रदायें श्रीरामानुजसंप्रदायमेंसे निकली हैं, श्रीराधारमणी श्रीराधावल्लभी प्रभृति संप्रदायें श्रीमाध्वसंप्रदायमेंसे निकली हैं । तप्तमुद्राधारणका अनुष्ठान कठिन होनेसेही कुछ वैष्णवसंप्रदायाचार्योंने शीतलमुद्रा धारणकी परंपरा चलाई है। वृंदावनकेभी गोपीलालजीगोस्वामीने कहा था कि "तप्तमुद्रा धारणकी तो वात दूर है हमें तो शीतल मुद्राधारणकाभी अब कोई अधिकारी प्रतीत नहीं होता "--निःसंदेह गोस्वामीजीने बहुत यथार्थ कहा ॥

मधुसूदनसरस्वतीजी विष्णुभक्त होकर भी अद्वैती थे उनने इस श्लोकपर " अखिलोऽनात्मविद्प्राप्तपुरुषार्थतया कृपणो भवति" "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यऽविदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः" इतिश्रुतेः तस्य भावः कार्पण्यं अनात्माध्यासवत्त्वम् ऐसी कार्पण्यशब्दकी व्याख्या की है अर्थात् आत्माऽज्ञान ही कार्पण्य दोष है । यह व्याख्या ठीक नहीं क्यों कि श्रुतिके अक्षरोंमे यही निकलता है कि आत्मज्ञानसंपादन किए विना जो मरजाय उसे मरणानंतर कार्पण्य दोष लगसकता है अर्जुन तो अभी जीता जागता है उसे कार्पण्य दोष नहीं लगसकता। और अर्जुनको यहांपर न तो आत्मजिज्ञासा ही है न आत्माऽज्ञानसे अपनेमें ग्लानि ही है जो मधुसूदनी अर्थ उचित कहासके। अर्जुन तो केवल इतना ही जाननाचाहता है कि बांधवस्नेहसे क्षत्रियधर्मरणसे विमुख होना उचित है ? कि वा क्षत्रियधर्मके कारण बांधवस्नेहसे विमुख होना उचित है ? तब यहां पर आत्मज्ञानाज्ञानकी चर्चा उठाना मधुसूदनसरस्वतीजीकी हठधर्मी (धींगाधींगी) है और आगे अर्जुन स्वयं कहता है कि " पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः " इति यदि अर्जुनने कार्पण्यशब्दसे आत्माऽज्ञानको सूचित किआ होता तो अपनेको धर्मसंमूढचित्त न बताता किं तु " आत्मसंमूढचेताः" कहता। यदि कहो कि आगे भगवत्ने आत्मज्ञानोपदेश किआ है इससे यहांपर हमारा

ही अर्थ ठीक है जो आत्मज्ञानके लिए प्रश्न भी होजाय, तो अर्जुन, बांधवस्नेहरूपी इतने गहरे गढेमें गिरा है कि वह उस गढेमेंसे कांडत्रयोपदेशरूपी एक लंबी रज्जु (नेज) के विना निकल ही नहीं सकता था इस हेतु विवश भगवत्को आत्मज्ञानोपदेश करना पडा अन्यथा यह युद्धसमय इस उपदेशका समय ही न था। और इतने बांधवस्नेहरज्जुसे जकडेहुए अर्जुनको आत्मज्ञानकेलिए प्रश्न करनेकी बुद्धि ही कहांसे आई ? इसहेतु पूर्वोक्त ही अर्थको ठीक जानो ॥ ७ ॥

मू०--न हि प्रपश्यामि ममाऽपनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्
अवाप्य भूमावऽसपत्नमृद्धं ।
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

दोहा--महाराज्य सुरराज्य वा लहौं जु तोऊ मोय ।
बधुघात दुख दूर हो इह विश्वास न होय ॥ ८ ॥

टी०--हे भगवन् बंधुजनोंको मारकर यदि मैं पृथ्वीका असपत्न (शत्रुरहित) राज्य पाऊं किं वा देवलोकका भी राज्यपाऊं तो भी मेरा समग्रइंद्रियोंको संताप देनेवाला बंधुजनघातजन्य दुःख दूर हो यह मुझे निश्चय (प्रतीत) नहीं होता ॥

यहां पर भी मधुसूदनसरस्वतीजीने अपनी खिचडी शोकशब्दपर पकाई है आप " श्रुतं ह्येवमेव भगवद्दृशेभ्यः तरति शोकमात्मवित् सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य परं पारं तारयतु " इस श्रुतिके अनुसार शोकपदका संसार अर्थ करते हैं सो भी पूर्वापरसंगतिसे विरुद्ध है क्यों कि इस समय तो अर्जुनका केवल बांधवघातरूपी ही दुःखकी ओर ध्यान लगा है। और अज्ञानीको संसाररूपी शोक केवल इंद्रियोंको दुःखप्रद ही नहीं होता किं तु सुखप्रद भी होताहै और यहां "उच्छोषणमिन्द्रियाणाम् " ऐसा कहा है यदि अर्जुन अज्ञानी है तब तो संसाररूपी शोकका " उच्छोषणमिंद्रियाणाम् " यह विशेषण घट नहीं सकता क्यों कि अज्ञानीको कभी संसार सुखप्रद भी होता है। यदि अर्जुन ज्ञानी है यदि तो यह विशेषण तो घट जायगा किं तु आत्मजिज्ञासा नहीं बनेगी क्यों कि ज्ञातको जाननेकी इच्छा नहीं होती ज्ञानी तो वही कहाता है जिसे आत्मा ज्ञात है। और अपनुद्यात् यह भी पद संगत नहीं होगा। और भूराज्य तथा स्वर्गराज्यकी उपेक्षा करनेसे आप अर्जुनका ऐहिकामुष्मिकफलभोगवैराग्य यहां अधिकारिविशेषण जतातेहैं और पंचम श्लोकपर आप "ते च भोगा इहैव न परलोके " इत्यादि लिखचुकेहैं सो सरस्वतीजी अपने लेखमें पूर्वापर विरोधकी ओर भी ध्यान नहीं देते। एवं आगे भी बहुतस्थानोंपर मधुसूदनसरस्वतीजीने मनमाने विरुद्ध अर्थ किए हैं यथामति जानने ॥

यहांपर पाठकवर 'अधिकारिविशेषण' इस शब्दके अर्थको समझे नहीं होंगे सो यह बात है कि-"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इत्यादि सूत्रसमूहमें श्रीव्यासदेवने ब्रह्ममीमांसाका आरंभ किआहै इस सूत्रपर अद्वैतीलोग कहतेहैं कि-ब्रह्मजिज्ञासा (ब्रह्मविचार) में उसका अधिकार है जिसे मुमुक्षा १, शमदमादिसंपत्ति २, ऐहिकामुष्मिकफलभोगवैराग्य ३, सदसद्वस्तुविवेक ४. ये चार हों अर्थात् जिसे मोक्षकी इच्छा इंद्रियनिग्रहादि लौकिक तथा पारलौकिक, सुखसे वैराग्य और सत् तथा असत् पदार्थका ज्ञान हो उसका ब्रह्मजिज्ञासामें अधिकार है इनके विना ब्रह्मजिज्ञासा ही नहीं होसकती, ये चारों मिलकर ब्रह्मजिज्ञासाके साधन हैं इति।

यहां पर यही बड़ा भारी दोष है कि अद्वैतमतमें ब्रह्म ही एक सत् है प्रपंचमात्र असत् है जब उन दोनोंको सदऽसद्विवेकीने जान ही लिआ तब उसे फिर ब्रह्मजिज्ञासा ही क्यों होगी ? क्यों कि ज्ञातपदार्थके ज्ञानकी इच्छा तो होही नहीं सकती इसलिए ब्रह्मजिज्ञासाके लिए सदसद्वस्तुविवेकादि साधनचतुष्टयकी असाधारण अपेक्षा नहीं किंतु कर्मस्वरूपज्ञानकी ही असाधारण अपेक्षा है इसी कारण मैंनें विशिष्टाद्वैताधिकरणमालामें लिखा है कि—

अथेत्यानन्तरोक्तिः स्यादतो वृत्तस्य हेतुता।
ज्ञातकर्मस्वरूपस्य जिज्ञासा ब्रह्मणि स्मृता॥

और अद्वैतीलोग यहांपर जिज्ञासापदकी विचारमें लक्षणा मानते हैं विचार तो ज्ञानमात्र है उस ज्ञानमात्रसे ही मोक्षप्राप्ति बतातेहैं, यहभी ठीक नहीं क्योंकि यदि कोई किसी राजाके स्वरूपज्ञानमात्रसे राजासे कुछ चाहे तो कुछ नहीं मिलसकता किंतु राजाकी सेवासे ही कुछ प्राप्त होसकताहै एवं ब्रह्मसे भी उसके ज्ञानमात्रसे मोक्षप्राप्ति होनी असंभव है किंतु ब्रह्मसेवासेही मोक्षप्राप्ति होगी इसीहेतु श्रीरामानुजस्वामीने जिज्ञासापदकी उपासनारूपज्ञानमें लक्षणा मानी है और यदि सूत्रकारको ब्रह्मविचारमात्र अभिप्रेत होता तो आगे तृतीयाध्यायमें उपासनाका विचार न करते। उक्त उपासनाके विचारसे भी यही प्रतीत होताहै कि सूत्रकारको जिज्ञासापदसे उपासना ही अभिप्रेत है।

और अद्वैतीलोग यहांपर ब्रह्मशब्दसे निर्विशेषब्रह्म लेतेहैं सो भी उचित नहीं क्यों कि यदि सूत्रकारको निर्विशेषब्रह्मसे अभिप्राय होता तो आगे निर्विशेषब्रह्मका ही लक्षण कहते सूत्रकारने तो उलटा "जन्माद्यस्य यतः" इत्यादिसे आगे सविशेष ब्रह्मका ही प्रतिपादन किआहै। और निर्विशेषब्रह्ममें यदि कोई प्रमाण है तब तो तत्प्रमाणप्रतिपाद्यत्वरूप ही विशेष रहगया यदि कोई प्रमाण है नहीं किं वा ब्रह्ममें प्रमाण प्रतिपाद्यत्व है नहीं तब विना प्रमाणके निर्विशेषब्रह्म कैसे मानाजायगा ? कहा भी है—

"प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि ।
अदृष्टशतभागोपि न कल्प्यो निष्प्रमाणकः ॥" इति ।

इसीसे श्रीरामानुजस्वामीने कहाहै—" निर्विशेषे प्रमाणाभावात् " इति ।

निर्विशेषे प्रमाणानां विरहादिति ते वचः ।
तूलवृन्देग्निमात्रावन्निर्विशेषोक्तिभस्मकृत् ॥ इति मम ॥

इनविषयोंको विशेष देखना हो तो वैष्णवग्रंथोंमें देखो यहां तो संक्षेपसे ही लिखताहूं ॥ ८ ॥

संजय उवाच—

मू०—एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

दोहा—इहविधि श्रीगोविन्दको अर्जुन वचन सुनाय ।
युद्धकरौं ना हौं, कह्यो, बैठ्यो मौन बनाय ॥ ९ ॥

टी०—पूर्वोक्तवचन सुनाकर ऐसे भयंकर समयमें अर्जुनने श्रीगोविंदसे यही कहा कि मैं युद्ध नहीं करूंगा यह कहकर अर्जुन मौन धारके बैठगया ॥ ९ ॥

मू०—तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

दोहा—उक्तवचनसों जानिकै अर्जुनहियसंताप ।
दोउसैन्यके मध्यमें हँसि हरि बोले आप ॥ १० ॥

टी०—देह और आत्माका यथार्थज्ञान न होनेके कारण बांधवस्नेहसे दुःखी अर्जुनको दोनों सेनाओंके मध्यमें भागवान्ने हँसकर वचन कहा । वह वचन "अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्" यहांसे लेकर "मोक्षयिष्यामि मा शुचः" यहांतक समझना ॥ १० ॥

श्रीभगवान् उवाच ।

मू०—अशोच्यानन्वऽशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे
गतासूनगतासूँश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

दोहा—शोक करै तु अशोच्यको बोलत अरु मनमानि ।
देहजीव इन दोउकी करै न चिंता ज्ञानि ११ ॥

टीका—अर्जुन ऐसा बांधवस्नेहरूपी मोहपाशमें बँधाहै कि सविस्तर तत्त्वज्ञानोपदेशके विना अर्जुनका वह मोहपाश दूर नहीं होसकता और दुर्योधनादि भूभार भूकंटकोंका भगवत्ने अर्जुनके हाथसे ही विनाश करानाहै इसहेतु शिष्यरूपताको प्राप्तहुए अर्जुनके प्रति श्रीभगवान् यहांसे वेदांतशास्त्रका आरंभ करते हैं ।

श्रीयामुनाचार्यस्वामीने कहाहै—

"अस्थाने स्नेहकारुण्यधर्माधर्मधियाऽऽकुलम् ।
पार्थं प्रपन्नमुद्दिश्य शास्त्रावतरणं कृतम् ॥" इति ॥

आजन्मका सखा अर्जुन वह भी धर्माधर्मके अविवेकरूपीविपत्तिमें फँसाहै सो भगवान् अपनी ज्ञानशक्तिको किं वा ज्ञानस्वरूपताको चरितार्थ करनेकेलिए इस समयसे बढकर और किसी समयको नहीं समझते । कहा भी है–

"सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥" इति ।

अशोच्येति–हे अर्जुन चिंताके योग्य जो नहीं हैं दुर्योधनादि तेरे बांधव उनकी तू चिंता करताहै । किं वा अशोच्य जो स्वर्गगत पितर हैं उनकी तू चिंता करताहै । और " पतन्ति पितरो ह्येषाम् " इत्यादि प्रज्ञावादोंको अर्थात् अकलके ढंगेको हाँकताहै । याने तेरेको देह और आत्माके स्वरूपकी कुछ भी खबर नहीं और तू यह भी नहीं जानता कि किस समयका क्या धर्म होताहै केवल पितर बांधवोंके स्नेहमें फँसाहै क्यों कि क्षत्रियकेलिए रणसे विमुख होना एक भारी अधर्म है । युद्धसे कुल नष्ट होगा तब स्त्रिएं व्यभिचारिणी होंगी तब वर्णसंकर उत्पन्न होंगे तब पितर स्वर्गसे गिरजाएंगे इत्यादि जो शेखचिल्लीवाली अनिष्ट चिंताका कथन है यही प्रज्ञावाद है । पूर्वार्धको ही भगवान् स्पष्ट करतेहैं–गतासूनिति ।

गतासु=नश्वर देह है, अगतासु=अनश्वर अर्थात् नित्य आत्मा है इन दोनोंकी ही ज्ञानीलोग चिंता नहीं करते, क्यों कि देहकी चाहे जितनी रक्षा वा चिंता कीजिए वह रह नहीं सकता एकदिन अवश्य ही नश्वरत्वात् नष्ट होगा । और आत्माकी चाहे जितनी उपेक्षा किं वा शत्रुता कीजिए वह कभी भी नित्यत्वात् नष्ट नहीं होसकता आत्माकी जन्मके अधीन सत्ता भी नहीं मरणके अधीन विनाश भी नहीं । इस हेतु देहकी भी चिन्ता करनी उचित नहीं तथा आत्माकी भी चिन्ता करनी उचित नहीं ॥

मूर्खलोग सभी काम उलटा ही किआकरतेहैं क्यों कि देह नष्ट न हो यह देहचिन्ताका स्वरूप नहीं देहने तो यथाप्रारब्ध अवश्य नष्ट होनाहै ही किन्तु अनेक प्रकारके स्वर्गसुखोंकेलिए अनेकप्रकारके धर्म करनेपर उन धर्मोंमें जो विघ्न होनेसे चिन्ता होतीहै उसे ही देहचिन्ता कहतेहैं । और आत्मचिन्ता भी यह नहीं कि आत्मा नष्ट न हो क्यों कि आत्मा नित्य है उसने किसी तरह भी नष्ट नहीं होना किन्तु आत्माका यथार्थस्वरूप जो अपहतपाप्मत्व (पापराहित्य) सत्यकामत्वादिक है वह भगवद्धाममें पहुंचनेसे ही प्रकट होताहै संसारावस्थामें तो अज्ञान और प्रकृतिके संबंधविशेषसे वह स्वरूप तिरोहित रहताहै यह प्रत्यक्ष ही है उस भगवद्धामप्राप्तिमें

महानुभावोंको संसारादिभयसे चिन्ता भी होतीहै उसे ही विद्वान् वैष्णवलोग आत्मचिन्ता कहतेहैं। इन दोनों चिन्ताओंका भी अवश्य ही त्याग करना चाहिए यह सब वडा सूक्ष्म विषय है अष्टादशरहस्यमें देखना चाहिए यदि संस्कृतका बोध नहीं तो मेरी बनाई अष्टादशरहस्यभाषा देखो, तथाहि-

आत्मदेहनिवाहकी चिन्ता सकल विहाय।
हरिपद जो विश्वास दृढ निर्भरता सुकहाय॥
सुख औ दुख फलभोग सब निरखहिं कर्म निदान।
सुख अप्रतीति अचाहना तनु चिन्ताकर हान॥
प्रभु निज किंकर नाशको सहे न रक्षक होय।
स्वामी हरि, हौं कर्मकर, इह दृढ जाने जोय॥
पार उतारै आप हरि मोहि कछु करनों नांहिं।
इहविधि आत्मनिवाहकी चिन्ताहान सराहिं॥
नृपतिवर श्रीकुलशेखराल्वारने भी कहाहै
"दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो
नरके वा नरकान्तक प्रकामम्।
अवधीरितशारदारविन्दौ
चरणौ ते मरणेपि चिन्तयामि॥"

अर्थात् हे भगवन् चाहे मेरा वास स्वर्गमें हो चाहे पृथ्वीपर हो चाहे नरकमें हो इसकी मुझे कुछ भी परवाह नहीं किं तु आपके श्रीचरणारविन्दका सदा ध्यान बनारहे॥ तथा-

"भवजलधिमगाधं दुस्तरं निस्तरेयं
कथमहमिति चेतो मा स्म गाः कातरत्वम्।
सरसिजदृशि देवे तावकी भक्तिरेका
नरकभिदि निषण्णा तारयिष्यत्यवश्यम्॥" इति॥
इत्यादि वैष्णवग्रन्थोंमें बहुतसा विस्तरसे कहाहै॥ ११॥

सू०-न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ १२॥

दोहा-मैं तू अरु नृप ये न थे ऐसो मत मन मान।
थे अौ हैं भी होंगे अरने सभी सुजान॥ १२॥

टी०-आत्मा नित्यपदार्थ है इस हेतु आत्माकी चिंता करनी व्यर्थ है इसके लिए आत्माकी नित्यताको प्रथम कहतेहैं-नत्वेवाहमिति-मैं प्रथम (भूत) कालमें न था

ऐसा मत जान किं तु मैं पूर्वकालमें भी था तूभी पूर्वकालमें था ही और ये राजालोग भी सभ थे ही, तथा तुम हम सभ आगेको भविष्यत्कालमें न होंगे ऐसा भी मत जान किं तु आगेको भी होंगे ही तस्मात् आत्मा तीनोंकालमें बना रहनेसे नित्य है इसी हेतु ही आत्माकी चिंता व्यर्थ है क्यों कि शत्रुपर शस्त्र मारनेसे उसका देह ही कटेगा आत्मा कट नहीं सकता ।

इसश्लोकसे जैसे भगवान् आत्माकी नित्यताको प्रतिपादन करतेहैं वैसे ही अपनेसे अर्थात् सर्वेश्वरसे जीवात्माके भेदको और जीवोंके परस्पर भेदको भी प्रतिपादन करते हैं अर्थात् जीवोंकी अपेक्षा परमात्मा भिन्न है और वे जीवभी परस्पर भिन्न = अनेक हैं । और जीवकी जीवता भी कुछ अंतःकरणरूप उपाधिसे नहीं किं तु जीव स्वरूपेण ही नित्य है । यदि भगवान्‌का अद्वैतसे अभिप्राय होता तो अपनेको तथा अर्जुनको भिन्न भिन्न शब्दोंसे न कहते और "वयं सर्वे" यह भी न कहते । यदि कहो कि संसारिक-भेदको ही लेकर यहांपर भेद कहाहै तो भगवान् यहांपर संसारका पचडा नहीं सु-नाने बैठे किं तु तत्त्वज्ञानका उपदेश करनेलगे हैं इस बातको आप भी मानते हैं तब तो जो कुछ यहांपर भगवान् कहेंगे उसे आपको विवश होकर तत्त्व मानना ही पडे-गा सो भगवान् यहांपर साफ साफ भेद कहाहै इससे यही तत्त्व है कि जीवोंसे परमात्मा भिन्न है और जीव परस्पर भी भिन्न हैं तब तो अद्वैतवादको कहीं. पैर रखनेको भी स्थान प्राप्त नहीं है, यदि यहांपर कुछ भी अद्वैतवादकी चलसकती तो अद्वैतवादिकहठी मधुसूदनसरस्वतीजी इस श्लोकसे कानपर हाथ रखकर परे न हटते कुछ न कुछ अपनी खिचडी पकाते ही । उपक्रमोपसंहारादिमें ही तत्त्वनिश्चय होताहै सो यहां उपक्रमसे तथा उपसंहारादिसे भी भेदवाद ही सिद्ध होताहै उसपर ध्यान न देकर जो मनमाना अद्वैतप्रतिपादन है वही अतत्त्वपदार्थ है । श्रुति भी भेदको ही प्रतिपादन करतीहै कि "नित्यो, नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" इति अर्थात् नित्य जो एक चेतन है परमात्मा वह बहुतसे जो नित्य चेतन हैं जीव उनके मनोरथोंको सिद्ध करता है यहांपरभी बहूनां यह कहनेसे जीव अनेक हैं यही सिद्ध हुआ । और वामदेव शुकादि महानुभाव तो मुक्त होगए हम तो अभी मुक्त नहीं हुए इत्यादि व्यवहारोंसे भी यही पाया जाताहै कि जीव अनेक हैं । यदि एकही जीव हो तो या तो सभ मुक्त ही कहाएं या सभ बद्ध ही कहाएं । और जो पदार्थ एक होताहै वहां सभ इस शब्दका प्रयोग भी नहीं होता और जीवके विषयमें तो सभशब्दका प्रयोग भी होता है इसलिए भी जीव अनेक ही हैं ।

यदि कहो कि उक्तभेदव्यवहार सभी अंतःकरणरूप उपाधिसे होतेहैं अर्थात् अंतःकरण परस्पर भिन्न भिन्न हैं उनके संबन्धसे एकही जीव भिन्न भिन्न प्रतीत होताहै यथा एक ही चंद्र जलशरावोंके भेदसे भिन्न भिन्न प्रतीत होताहै, यह भी ठीक नहीं क्यों कि यद्यपि जलशराव भिन्न भिन्न हैं तथापि एक जो चंद्रबिंब है उसके साथ तो जलशरावोंका कुछ संबंध ही नहीं और जिन चंद्रप्रतिबिंबोंके साथ जलशरावोंका संबंध है वे तो भिन्न भिन्न ही हैं एवं जिन जीवोंके साथ अंतःकरणोंका संबंध है वे भी भिन्न ही हैं यही सिद्धहुआ। और जीवके साथ संबंध होनेसे ही अंतःकरण उपाधि कहावेगा और जब अंतःकरण उपाधि कहाएगा तब जीव बनेगा यह परस्पराश्रय भी तुम्हारे मतमें दोष है। और देवदत्त यज्ञदत्तादिशब्द कुछ तत्तत् अंतःकरणके वाचक नहीं जो भेदव्यवहारका विषय अंतःकरण ही हो किंतु जीवके वाचक हैं इसहेतु जीव अवश्य परस्पर तथा परमात्मासे भिन्न ही हैं। और यदि जीवोंका अंतःकरणभेदसे ही भेद हो तो अनेक अंतःकरणोंका तो अभीतक भी व्यापक आत्माके साथ संबंध हैई है तब तो वामदेव शुकदेव मुक्त होगए यह बात सिद्ध नहीं होगी और शुकदेवीयान्तःकरणावच्छेदेन आत्मा मुक्त होगया यह कहनेमें अवच्छेद्यावच्छेदकत्वरूपेण आत्मामें सावयवता प्राप्त होगी तब तो सावयवत्वात् अनित्यता भी प्राप्त होगी इससे यही मानो कि जीव स्वरूपेण ही अनेक हैं। यदि कहो कि आज तक कोईकी मुक्ति हुई ही नहीं तब तो आगेको भी किसीकी मुक्ति होगी इसमें कुछ प्रमाण नहीं।

अद्वैती जो जीवको मिथ्या मानतेहैं वहभी इससे निरस्त हुआ क्यों कि यदि जीवकी जीवता अंतःकरणसंबंधके अधीन होती तब तो अंतःकरणनाशसे जीवकाभी नाश होजाता सो तो नहीं किंतु जीवकी जीवता स्वरूपेण ही है अत एव जीव नित्य है। अहो उनलोगोंकी मुग्धता जो स्वयं जीव होकर भी जीवको मिथ्या कहतेहैं। "अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" "अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते" "हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्" "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" इत्यादिश्रुतिओंसे और,

"आगिनः कर्मजनितसंसारवशवर्तिनः"
"अविद्यान्तर्गताः सर्वे ते हि संसारगोचराः"
"देहेन्द्रियमनःप्राणधीभ्योऽन्योऽनन्यसाधनः।
नित्योऽव्यापी प्रतिक्षेत्रमात्मा भिन्नः स्वतः सुखी ॥"

इत्यादि स्मृतिओंसे भी यहो सिद्ध होताहै कि जीव अनेक = परस्पर भिन्न हैं और जीवकी जीवता अंतःकरणसंबंधके अधीन नहीं किंतु जीवस्वरूपेण ही नित्य है यह सब आगे भगवान् स्वयं स्पष्ट कहेंगे।

जैसे जीव परस्पर भिन्न हैं वैसे ही परमात्मासे भी भिन्न हैं यदि परमात्मा ही जीव होता तो वह जीवको नरकादि दुःख न देता यदि कहो कि वैष्णवमतमें भी जीव परमात्माका अंश है तब अपने अंशभूतजीवको कैसे नरकादि दंड देताहै ? यह अनुचित नहीं. यथा पिता अपने अंशभूत पुत्रको दंड देताहै अपनी अंशभूत सडीगली अंगुलीको चीरता फाडताहै उसी तरह भगवान् भी अपने अंशभूतजीवको नरकादिदुःखभोगरूप दंड देहते हैं।

यदि जीव परमात्मासे भिन्न न होता तो परमात्माके तुल्य सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् होता। जब कि जीव परस्पर भी उक्तयुक्तिप्रमाणोंसे भिन्न हैं तब परमात्मासे भिन्न हैं इसमें तो कुछ संदेह ही नहीं होसकता। और तुम अभेदके प्रतिपादनकेलिए यही कहोगे कि अविद्यासंबंधसे ब्रह्म ही जीवस्वरूप हो जाता है, यह वडी अज्ञानकी वातहै कि उसब्रह्मको तुम ज्ञानस्वरूप मानते हो फिर उसके साथ अविद्या जो अज्ञान तमःस्वरूप है उसका संवध मानते हो यथा सूर्यमें अंधकार नहीं रहसकता तथा जिस भगवान्के प्रकाशसे ही समग्र प्रपंच प्रकाशमान है उस प्रकाश स्वरूप ब्रह्ममें अविद्यारूपी अंधकारका रहना ही असंभव है।

और उस अविद्याका ब्रह्मके यदि एकदेशमें संबंध है तब तो ब्रह्म अवयवी होनेसे अनित्य किं वा तुमारे मतानुसार मिथ्या ही वन जायगा यदि समग्र ब्रह्मके साथ अविद्यासंबंध है तव शुद्धब्रह्मका अत्यंताभाव प्राप्त हुआ इति उभयतः पाशारज्जुः। और जव कि अविद्याकृत ही जीवभाव है तब तो गुरु शिष्य दोनों ही अविद्यावान् ठहरे फिर गुरु तत्त्वोपदेश ही क्या करेगा किं वा गुरुकथितवचन प्रमाण ही क्योंकर कहाएगा। यदि कहो कि "तत्त्वमसि" इत्यादि श्रुतिओंसे भी यही प्राप्त है कि जीव ब्रह्मसे अभिन्न है ? सो "तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्योंका अभेद अर्थ नहीं किंतु यथा तत् शब्द निरस्तनिखिलदोषसमस्तकल्याणगुणगणैकतानपरमात्माका वाचक है तथा त्वं शब्द भी जीवांतर्यामी परमात्माका ही वाचक है सो परमात्मा तो एक ही है सो यह श्रुति जीवब्रह्माभेदको नहीं प्रतिपादन करती किं तु ब्रह्माभेदको ही प्रतिपादन करती है अर्थात् जोई परवासुदेव है वही अंतर्यामी है इसीवातको ही श्रुति कहती है— "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" इति अर्थात् यह जितना प्रपंच है सभ ब्रह्मात्मक है याने इस समग्रप्रपंचका आत्मा अंतर्यामी ब्रह्म है वह सत्यहै वही तुमारा अंतर्यामी है। एवं और भी बहुतसी श्रुति तथा स्मृति ब्रह्म और जीवोंके पारमार्थिकभेदको प्रतिपादन करती हैं तथा हि—"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ" "तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्" "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति" "जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्"

" उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः " " यस्मात् क्षरमतीतोहमक्षरादपिचोत्तमः " इति। श्रीव्यासदेवने वेदांतसूत्रोंसे भी ब्रह्मका और जीवोंका भेद ही प्रतिपादन किआ है यथा-"भेदव्यपदेशात्" " उभयेपि हि भेदेनैनमधीयते " " भेदव्यपदेशाच्चान्यः " " अधिकंतु भेदनिर्देशात् " इति ॥

तस्मात् यह सिद्ध होगया कि परमात्मासे जीव भिन्न हैं और जीव अनेक हैं परस्पर भी भिन्न हैं और जीव नित्य हैं जीवकी जीवता स्वरूपेण ही है कुछ अंतःकरण संबंधके अधीन नहीं । जो जीव परमात्माका दासानुदास है वह तो परमात्माके तुल्य =बराबर का भी नहीं बनसकता फिर परमात्मा ही कैसे बनसकेगा ? जीवको परमात्मा बनाना बडी कृतघ्नता (नमकहरामी) का कामहै श्रुति भी कहतीहै " न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते " " वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् " " तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्" "पतिं पतीनां भुवनेशमीड्यम्" इति । स्मृति यथा-"त्वं माता सर्वभूतानां देवि देवो हरिः पिता " " दासभूताः स्वतः सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः " वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः । वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः ॥ वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः । वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः ॥ " " इत्यच्युताङ्घ्रिभजनोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः । भवन्ति वै भागवतस्य राजन् ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥ " इत्यादि श्रुतिस्मृतिओंसे भी यही सिद्ध होता है कि श्रीनारायण स्वामी है जीव उसका दासानुदास है ॥ एवं और भी जीवके जो भगवदंशत्व अणुत्व कर्तृत्व ज्ञातृत्व भोक्तृत्वादि वास्तव धर्म हैं उनको भी आगे योग्यस्थानोंपर यथाशक्ति प्रतिपादन करूंगा ॥ १२ ॥

मू०--देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

दोहा-जीव यथा इसदेहमें कई अवस्था पाय ।
शोक कहा जो जीव तस नई देहमे जाय ॥ १३ ॥

टी०-हे भगवन् जीवके तो जन्ममरणादि प्रसिद्ध हैं फिर आप जीवको कैसे नित्य कहतेहैं इसशंकाको लेकर भगवान् कहतेहैं-देहिन इति । एक ही देहमें यथा जीव पहिले बाल्यावस्थाको फिर कुमारावस्थाको फिर युवास्थाको फिर वृद्धावस्थाको प्राप्त होताहै उन अवस्थाओंकी अदलबदलमें किसीको कुछ शोक भी नहीं होता तथैव जीव मरणानंतर द्वितियिकिसी देहको प्राप्त होजाता है इस हेतु ज्ञानीलोग जन्म तथा मरणकी कुछ चिंता नहीं करते क्यों कि जन्म मरणसे जीवकी कुछ भी हानि (क्षति) नहीं होती । देहांतरसे जो जीवका संबंधहै वही जन्म पदार्थ है देह

ही उत्पन्न होताहै जीव उत्पन्न नहीं होता क्यों कि जीव नित्य है । और प्राप्त देहसे जो जीवका निकलजाना है वही मरणपदार्थ है मरणसे देह ही नष्ट होताहै जीव नष्ट नहीं होता क्यों कि जीव नित्य है । इस विषयको आगे भगवान् स्वयं स्पष्ट करके कहेंगे ।

प्रायः अवैष्णव सभी लोग जीवको विभु (व्यापक) मानते हैं उनको इसश्लोक-पर अवश्य ध्यान देनाचाहिए । यदि जीव व्यापक होता तो एकदेहसे निकलकर दूसरे देहमें कैसे जासकता क्यों कि व्यापक कोई भी पदार्थ एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जा नहीं सकता क्यों कि वह सर्वत्र ही व्यापकहोताहै । और तत्वोपदेशकर्ता श्रीभगवान् तो यहांपर जीवके एक देहसे दूसरे देहमें जानेका प्रतिपादन करतेहैं इससे सिद्ध हुआ कि जीव व्यापक नहीं किंतु अणु (सूक्ष्म) है । श्रुति यथा--"तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति" "ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" इत्यादिश्रुति भी जीवके जाने आनेको प्रतिपादन करती है. विभुका जाना आना बन नहीं सकता मध्यमपरिमाण माननेसे अनित्यता प्राप्तहोगी इससे यही सिद्ध हुआ कि जीव अणु (बहुतछोटा) है ।

और यदि जीव व्यापक होता तो यज्ञदत्तके सुखदुःखोंका देवदत्तको भी अनुभव होता यदि कहो कि अंतःकरणके भेदसे ऐसा नहीं होता तो अंतःकरणादिका संबंध ही सुखाद्यनुभवमें हेतु है और देवदत्तरूप जीवका भी व्यापकत्वादेव देवदत्तीयअंतःकरणा-दिसे संबंध कहना पडेगा तब तो अवश्य ही यज्ञदत्तीयसुखादिका देवदत्तको भी अनुभव होना चाहिए होता तो नहीं. इससे यही सिद्ध होताहै कि जीव अणु है । और अनुभवसे भी सिद्ध है कि जीवकी स्थिति हृदयदेशमें प्रतीत होती है अन्यत्र नहीं इससे भी अणुत्व ही सिद्धहुआ । यदि कहो कि यदि जीव अणु है तो समग्र शरीरमें कैसे प्रकाशित होताहै तो यथा चंदनका लेप एकस्थानपर भी किआ हुआ समग्र देहको शीत तथा सुखी करताहै तथा जीव भी अणुहोनेसे हृदयदेशमेंभी रहकर समग्रदेहका प्रकाशक भी होताहै तथा समग्रशरीरवर्ती सुखदुःखादिका ग्राहक (अनुभविता) भी होताहै । श्रुति यथा--"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः"

"वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चाऽनन्त्याय कल्प्यते ॥" इति ॥

वडे खेदकी वार्ता है कि अद्वैतमतमें अंतःकरणावच्छिन्न चैतन्यका ही नाम जीव है और अंतःकरण स्वयं सूक्ष्मपदार्थ है व्यापक नहीं और अंतःकरणावच्छिन्न जीवको तो व्यापक बताते हैं । यथा घटके व्यापक न होनेसे घटावच्छिन्न आकाश भी व्यापक नहीं होसकता तथा अद्वैतमतानुसार भी अंतःकरणके व्यापक न होनेसे

अंतःकरणावच्छिन्न जीव भी व्यापक नहीं होसकता । यदि कहो कि " एष आत्मा महानजः " यह श्रुति जीवको व्यापक कहतीहै, तो यह श्रुति जीवको व्यापक नहीं कहती किंतु परमात्माका प्रकरण होनेसे परमात्माको ही व्यापक बतातीहै । " अणोरणीयान् महतो महीयान् " यहांपर तो जीवका ही प्रकरण है इस हेतु महत्शब्द यहां व्यापकताका वाचक नहीं किंतु उत्तमताका वाचक है क्यों कि ब्रह्मभिन्न पदार्थमात्रसे जीव उत्तम है । इससे सिद्ध हुआ कि जीव अणु ही है और ब्रह्मसे भिन्न भी है ॥ १३ ॥

मू०-मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

दोहा- विषयेंद्रियसंबंध तो सुखदुख अवसहि देत ।
प्राप्त होय पुनि नष्ट हो सो तुम सहो सचेत ॥ १४ ॥

टी०-शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध इनका नाम मात्रा है उनका इंद्रियोंके साथ जो संबंध है वही मात्रास्पर्श है अर्थात् विषय और इंद्रियके परस्परसंबंधको मात्रास्पर्श कहतेहैं, उस विषयेंद्रियसंबंधसे शीतोष्णादि किसीसे सुख किसीसे दुःख अवश्य होतेहैं, वे मात्रास्पर्श भी कुछ नित्य नहीं है किंतु अनित्य हैं अतएव आगमापायी हैं अर्थात् उत्पन्न भी होतेहैं और फिर नष्ट भी होजातेहैं क्यों कि प्रारब्धवशसे ही सभी पदार्थ जैसे एक दिन प्राप्त होतेहैं वैसे ही एक दिन दूर भी हट जातेहैं । हे भारत=अर्जुन उन अनित्य मात्रास्पर्शोंको तुम सहन करो अर्थात् देह तो विनाशी हईहै इससे वह भी चिंतायोग्य नहीं और जीवात्मा तो नित्य है इससे वह भी चिंतायोग्य नहीं क्योंकि शत्रुको मारनेसे उसका जीवात्मा मर नहीं सकता । हां बांधवजनोंकी संपत्ति तथा विपत्तिसे सुख दुःख अवश्य होतेहैं सो उन सुख दुःखोंको सहन करनेकेलिए बांधवजनोंकी संपत्ति तथा विपत्तिके प्रत्यक्ष (विषयेंद्रियसंबंध) को तुम्हे अवश्य सहन करनाचाहिये उसे सहनकरके क्षत्रियवर्णोचित जो युद्धरूप शास्त्रीयकर्म है उसे तुम अवश्य करो सो भी युद्धका फल जो विजय राज्यलाभ आदि है उसकी इच्छा न रक्खो क्यों कि फलकी इच्छासे रहित होकर कियाहुआ कर्म बंधनरूप नहीं होता अन्यथा बंधनरूप होताहै और यदि तुम स्ववर्णोचित कर्म युद्ध न करोगे तो तुमको वर्णधर्मपरित्यागका अवश्य ही पाप लगेगा ॥

आज कलह अंगरेजी पढाईका तो सभसे बढकर यही फल है कि ए बी सी पढते ही सभसे पहिले वर्णाश्रमधर्मोंपर चौका फेरना उस पर भी यह माजरा है कि गीताकी पोथी हरदम पाकटमें रहतीहै ।

अद्वैतवादीलोग जो प्रपंचमात्रको मिथ्या मानतेहैं उन्हे इसश्लोकपर तनिक ध्यान देना चाहिए कि तत्त्वोपदेश करते हुए श्रीभगवान् मात्रास्पर्शोंको अनित्य कहतेहैं यदि वस्तुगत्या प्रपंच मिथ्या होता तो यहांपर भगवान् कभी भी अनित्यशब्दका उच्चारण न करते अनित्य वह पदार्थ है जो किसी न किसी कालमें अवश्य हो (रहे) किं वा वर्तमानकालमें अवश्य रहे मिथ्या वह पदार्थ कहाताहै जो किसी भी कालमें न होसके और प्रतीयमान भी कभी हो जैसे शुक्तिरजत । प्रपंच वर्तमानकालमें अवश्य हुईहै और उसकी सत्ताकी कार्यसंपत्ति अनुमापक भीहै यथा जलपीनेसे तृषा शांत होतीहै यदि जल मिथ्या होता तो उससे कभी भी तृषा शांत न होती यदि मिथ्याजलसे भी तृषा शांत होसके तो शुक्तिरजतका भी भूषण बनसके शुक्तिरजतसे तो बन नहीं सकता और जलसे तो जलकार्य तृषाशांति होतीहै इससे शुक्तिरजत्की अपेक्षा जल अवश्य विलक्षण है वह जल नित्य तो है नहीं क्योंकि उसके नाशको प्रत्यक्ष देखतेहैं और वह जल असत् भी नहीं क्यों कि असत् वह पदार्थ है जिसकी कभी प्रतीति भी नहो यथा शशशृंग, जलकी तो प्रतीतिभी होतीहै जलसे कार्य भी होताहै इससे पाया जाताहै कि जल मिथ्या नहीं किंतु अनित्य है एवं समग्र ही प्रपंच मिथ्या नहीं होसकता किन्तु अनित्य ही है ।

बडे खेदकी वार्ता है कि अद्वैतीलोग सद्वादी हैं अर्थात् पदार्थमात्रको सत् मानतेहैं और तद्विरुद्ध प्रपंचमात्रको मिथ्या भी बतातेहैं यह भारी परस्परका विरोध है । और कहांतक उनकी धृष्टताको लिखूं वे परमेश्वरको भी सविशेष होनेसे मिथ्या ही मानते हैं वस्तुगत्या अद्वैतके सिद्धांतसे शून्यवाद ही प्राप्त होजाताहै क्यों कि निर्विशेषब्रह्मभिन्न तो पदार्थमात्रको मिथ्या ही कहदिआ शेष रहा निर्विशेष ब्रह्म उसमें भी कोई धर्म तो है ही नहीं तो वह शून्यके तुल्य ही हुआ ।

यथार्थ बात तो यह है कि जैसे दयानंदका भारतको परम नास्तिक बनानेका अभिप्राय था किं तु इकदम नास्तिक बननेसे उसका मत कभी न खडा होता इससे उसने सनातनधर्मके पदार्थोंको धीरे धीरे छोडा यदि वह कुछ और काल जीता तो वेदके मंत्रभाग तथा ईश्वरको भी छोड देता किन्तु बीचमें ही मरगया और उसके इस अभिप्रायको किसीने जाना नहीं इससे दयानंदी लोग नाहक मंत्रभाग और ईश्वरके जाल (पचड़े) में फँसे हैं । एवं जब श्रीशंकरस्वामीका अवतार हुआ तो उस समय समग्रभारतमें बौद्धमत फैलगया था वैदिकधर्म उच्छिन्न होगयाथा यह देख श्रीनारायणने वैदिकधर्मके उद्धारकेलिए श्रीमहादेवजीको आज्ञा दी सो श्रीमहादेवजी शंकराचार्यस्वामीके रूपसे जन्मे उनने देखा कि कोई भी इकदम विरुद्धधर्मको स्वीकार नहीं करता इस हेतु बहुतसी मर्यादा तो बौद्धोंके अनुसार रक्खी

यथा मिथ्यात्ववाद, और वेद तथा ब्रह्मको सनातनधर्मसे लेकर लोगोंके विश्वासको वेद और ब्रह्मपर चढाया । ब्रह्मके विषयमें भी इतना ही किआ कि जिस ज्ञान (अहमालय-ज्ञान) को बौद्ध अनित्य कहतेथे उसे शंकरस्वामीने नित्य सिद्ध किआ । उनका यह तात्पर्य था कि जब ये लोग वेद और ज्ञानकी नित्यतापर पूर्ण दृढ होजाएंगे तो इनको सविशेष ब्रह्मपर तथा प्रपंचसत्यतापर विश्वास दिलाकर जो यथार्थ धर्म (वैष्णवधर्म) है उसपर चढादेंगे किंतु उनके इस गूढ अभिप्रायको और कोई जानताथा नहीं और भगवत्को भी कलिकालके कारण वैष्णवधर्मकी विशेष उन्नति स्वीकार न थी इसलिए शंकरस्वामीका आयुष्य पूरा करादिआ वे अपने अभिप्रायको अधूरा ही छोडकर कैला-सको चलेगए पीछेके लोगोंने उनके आभिप्रायको जाना नहीं इस हेतु जितनी बातें वे कहगए उतनी बातोंपर ही पीछेके अद्वैतविद्वानोंने जोर लगाया उन्हीं प्रपंचमिथ्यात्वादि पदार्थोंको प्रतिपादन किआ । यदि कहो कि शंकरस्वामीका यदि यह अभि-प्राय होता तो वे प्रथमसे ही उसे क्यों न प्रकट करते. क्यों समर्थ होकर भी प्रपंचको मिथ्या बताते ? तो श्रीमहादेवजी समर्थ हैं वे अवतार धारण ही क्यों करते ? क्या वे अपनी इच्छामात्रसे ही बौद्धोंके विचारोंको बदलकर वैदिकधर्मपर नहीं ला सकते थे ! । तो यहां पर आप यही कहोगे कि यह मर्यादा नहीं तो हम भी यही कहेंगे कि यदि दूसरेको विरुद्धधर्मपर चढाना हो तो धीरे धीरे चढाना चाहिए इकदम विरुद्धधर्मका उपदेश करना भी मर्यादा (रीति) नहीं ।

दूसरा श्रीशंकरस्वामीने अनित्य प्रपंचको अनित्य जानकर भी मिथ्या इसलिए बताया कि लोग प्रथम ही संसारमें खचित थे यदि उन्हें प्रपंचको सत् बताया जाता मिथ्या न बताया जाता तो वे कभी भी प्रपंचको हेय न समझते । शंकरस्वामीने सोचा कि जैसे बलाको दूरसे ही रोका जाताहै वैसे प्रपंचको भी दूरसे ही रोकनाचाहिए सो प्रपंचको मिथ्या बतानेसे यदि लोग मिथ्या नहीं भी समझेंगे तो अनित्य तो अवश्य समझेंगे, अनित्य जानकर ही प्रपंचका परित्याग कर भगवत्में चित्त लगाएंगे बडे शोककी वार्ता है कि जो लोग प्रपंचको मिथ्या कहनेमें अग्रगण्य हैं उनके मठ देखो तो राजमहलोंसे भी बडे हैं उन्हे मिथ्याभूत शिखाके चार वालोंका सिरपर बोझ प्रतीत होताहै और सिरपर रक्खे मुकुट तथा लंबे लंबे फेंटोंका जरा भी बोझ प्रतीत नहीं होता । वस्तुगत्या वस्त्रभूषण सभ उनकी दृष्टिमें मिथ्या हैं इसीसे वे वस्त्रभूषणधनमठादि रखतेहुए न लजातेहैं न संकोच ही करतेहैं शिखा यज्ञोपवीत तो उनकी दृष्टिमें सत्य ही पदार्थहै इसीसे वे शिखा यज्ञोपवीतको त्याग देते हैं अन्यथा या तो सभीको रखते या सभीको त्यागते ।

यदि कहो कि “प्रपंचो मिथ्या दृश्यत्वात् शुक्तिरजतवत्” इत्यादि अनुमानसे ही प्रपंच मिथ्या सिद्ध होताहै तो ऐसे अनुमानवाक्य बनानेमें बडी कठिनाई कुछ

नहीं यथा 'ब्रह्म अचेतनं निराकारत्वादाकाशवत्' ब्रह्म तो पक्ष ही है जहां जहां निराकार-ताहै वहां वहां अचेतनताभी हुईहै । जीवको लेकर यदि दोष देना चाहो तो जीव भी आपके मतमें ब्रह्म ही है इससे इस अनुमानमें कुछ दोष नहीं तथापि यथा प्रमाण नहीं तथा तुम्हारा अनुमान भी प्रमाण नहीं । और तुमारे अनुमानमें कार्याऽकारित्व प्रतिभास-मात्रशरीरत्व इत्यादि अनेक उपाधि होनेसे भी तुमारा मिथ्यात्वानुमान दूषित है, और पक्षमें साध्यसिद्धि दृष्टांतके अधीन होतीहै सो तुम्हारा दृष्टांत भी अशुद्ध है क्योंकि प्रथम तो शुक्तिरजत कोई पदार्थ ही लोकमें नहीं जिसका दृष्टांत लगसके तुम्हारे सिवाय और कोई भी शुक्तिमें अनिर्वचनीयरजतकी उत्पत्ति नहीं मानता जो शुक्तिरजतदृष्टांत वनसके । और पदार्थ अपने समवायीकारणमें उत्पन्न होसकताहै शुक्ति तो रजतकी समवायी कारण नहीं इसहेतु शुक्तिरजत ही कुछ पदार्थ नहीं जिसका आप दृष्टांत देते हैं ।

यदि कहो कि 'रजतमिदम्' इत्याकारक प्रत्यक्ष होताहै और प्रत्यक्षके प्रति विषयें-द्रियसंयोग कारण है यदि वहां रजत न हो तो रजतमिदमित्याकार प्रत्यक्ष भी न हो और शुक्तिमें सत्यरजत तो हो नहीं सकता इसलिए शुक्तिमें अर्थापत्त्या-मिथ्यारजतकी कल्पना करनी चाहिए, तो इसका यह उत्तर है कि यथा अंकुरके प्रति बीज कारण है किंतु आकाशवेलि विना ही बीजके होजातीहै एवं यथार्थ-प्रत्यक्षके ही प्रति विषयेंद्रियसंयोग कारण है भ्रांतिरूप प्रत्यक्षके प्रति विषयेंद्रिय-संयोग कारण नहीं किंतु वहां विषय न होनेसे भी भ्रांति उत्पन्न होजातीहै यथा शुक्तिका सामान्यरूपसे प्रत्यक्ष हुआ संस्कारवशसे रजतकी स्मृति हुई वे दोनों ज्ञान पृथक् पृथक् प्रतीत होते नहीं और यह रजत नहीं इत्याकारक वाधज्ञान भी होता नहीं इसीसे शुक्तिमें रजतकी भ्रांति होजातीहै । यदि शुक्तिमें रजत उत्पन्न ही हो तो आपणस्थरजतज्ञानकालमें जैसे रजतके साथ इंद्रियसंबंध है वैसे ही शुक्तिरजतज्ञानकालमें भी रजतके साथ इंद्रियसंबंध होगया तब शुक्तिरजतज्ञान भ्रांति क्योंकर कहाएगा ? भ्रांति तो कहाताहै, इससे पायागया कि शुक्तिमें कोई रजत उत्पन्न नहीं होता । यदि कहो कि शुक्तिरजत मिथ्या है इससे शुक्तिरजतज्ञान भ्रांति कहाताहै तो आपके मतमें तो आपणस्थ रजत भी मिथ्या ही है उसके ज्ञानको भ्रांति क्यों नहीं कहते ।

और मिथ्यात्वका कोई लक्षण भी नहीं वनसकता । यदि कहो कि सत् और असत्से विलक्षण जो हो वही मिथ्या है तो तुमारे मतमें सत् एक ब्रह्म है असत् शशशृंगादिक है उन दोनोंसे प्रपंचको विलक्षण तो हम भी मानते हैं इससे सिद्धसाधनता दोष तुमारे मतमें आया । और पदार्थमात्रके दोही धर्म हैं या तो सत् होना या असत् होना सो प्रपंच असत् तो हो नहीं सकता क्यों कि

कार्यकारी है। इस हेतु प्रपंच सत् ही है याने अनित्य ही है मिथ्या नहीं। यदि कहो कि जैसे गजमें गोत्व भी नहीं रहता और गोत्वसे विरुद्ध धर्म अश्वत्व भी नहीं रहता एवं प्रपंचमें भी असत्त्व भी नहीं रहता और असत्त्वविरुद्ध सत्त्वभी नहीं रहता, तो नेत्र खोलकर देखिए कि चतुष्पादजातिमें रहनेवाले गजत्व गोत्व अश्वत्व अजात्व शशत्व इत्यादि अनेक धर्म परस्पर विरुद्ध हैं उनमेंसे एकमें एकही धर्म रहेगा यथा गजमें गजत्व ही रहेगा। परंतु पदार्थमात्रके परस्पर विरुद्ध धर्म तो सत्त्व और असत्त्व ये दो ही हैं इनमें एक तो अवश्य ही सर्वत्र रहेगा। यदि सत्त्व असत्त्व कत्व खत्व इत्यादि अनेक धर्म परस्पर विरुद्ध होते तो कह भी सकतेथे कि प्रपं-चमें तो कत्व वा खत्व धर्म रहताहै इसलिए सत्त्व असत्त्व दोनों ही प्रपंचमें नहीं रहते, ऐसा तो है नहीं, क्योंकि सत्त्व असत्त्व यह दो ही परस्पर विरुद्ध धर्म हैं। यदि कहो कि इन दोनोंसे विरुद्ध पदार्थका तीसरा धर्म मिथ्यात्व है तो आपका मिथ्यात्व तो अभीतक सिद्ध ही नहीं हुआ अन्यथा सिद्धसाधनतादोष लक्षणको लगेगा। यदि कहो कि तुमारा अनित्यत्व धर्म तो सत्त्व और असत्त्व इनदोनोंसे विरुद्ध तीसरा ही धर्म न है? तो हमारा अनित्यत्वधर्म सत्त्वसे विरुद्ध नहीं क्यों कि सत्के दो भेद हैं एक नित्यसत् यथा परमात्मा और जीवात्मा दूसरा अनित्यसत् यथा प्रपंच। यदि कहो कि अद्वैतसिद्धिमें मिथ्यात्वका निपुण प्रतिपादन कियाहै तो मैंने भी उसका खंडन किआहै और एक प्राचीन विद्वान्ने भी तरंगिणीनामक ग्रंथमें अद्वैतसिद्धिका दृढतर खंडन किआहै।

यदि कहो कि "नेह नानास्ति किंचन" इत्यादि श्रुति ही प्रपंचको मिथ्या बतातीहै, तो इह शब्दसे प्रपंचलेकर उसमें नानात्वका निषेध करनेसे प्रपंचको सत्यता ही प्राप्तहुई, यदि इहसे ब्रह्म लेतेहो तो ब्रह्ममें नानात्व धर्मका निषेध हमें भी इष्ट ही है क्योंकि ब्रह्म एक ही है और ब्रह्ममें नानात्वनिषेध करनेसे प्रपंचको कौनसे मार्गसे मिथ्यात्वरूपी राहू आपकडेगा?। वस्तुगत्या यह श्रुति प्रपंचमिथ्यात्वको प्रतिपादन नहीं करती किं तु प्रपंचकारणमें नानात्वका निषेध करतीहै अर्थात् प्रपंचका कारण एक ब्रह्म ही है किं तु नैयायिककी तरह निमित्तकारण तो ब्रह्म है उपादान कारण परमाणु हैं यह नहीं। प्रपंचका एक ब्रह्म ही कारण है यह आप भी मानतेहैं क्यों कि तुमने भी अभिन्ननिमित्तोपादानता प्रपंचमें मानी है।

श्रुति भी प्रपंचकी सत्यता प्रतिपादन करतीहै यथा-" यदिदं किं च तत्सत्यमि-त्याचक्षते " " सूर्याचंद्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् " "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा" इति वेदांतसूत्रकार श्रीव्यासदेवजीने भी " परिणामात्" इत्यादिसूत्रसे प्रपंचको ब्रह्मका परिणाम बताया है इससे भी प्रपंच मिथ्या नहीं यदि प्रपंच मिथ्या

होता तो प्रपंचको ब्रह्मका विवर्त बताते। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रपंच मिथ्या नहीं किं तु अनित्य है और मिथ्या न होनेपर भी प्रपंच अवश्य हेय ही है कोई तरह भी प्रपंच उपादेय नहीं होसकता॥

यदि कहो कि अनित्य प्रपंचको भी श्रीशंकरस्वामीने परित्यागकेलिए मिथ्या कहा सो ठीक, किं तु सविशेष ब्रह्मको क्यों व्यर्थ निर्विशेष कहा, तो इसका यह अभिप्राय है कि जैसे जो पुरुष दसकोस नित्य चलनेका अभ्यास करलेताहै उसे एक दो कोस चलना कठिन नहीं होता और जो पुरुष सूक्ष्मसे सूक्ष्म पदार्थको देखलेनेका अभ्यास करलेताहै उसे स्थूलपदार्थको देखलेना कठिन नहीं होता एवं श्रीशंकरस्वामीने भी सोचा कि ब्रह्मको निर्विशेष कहनेसे लोग उस निर्विशेषका ध्यान लगाएँगे तो यदि निर्विशेषध्यान सिद्ध होगया तो लोगोंको जो शंखचक्रगदापद्मकिरीटकुंडलवनमालापीतांबरादिधारणकरनेवाला सविशेष वास्तव (सच्चा) ब्रह्म परवासुदेव है उसका ध्यान लगाना कुछ भी कठिन नहीं होगा और यदि लोगोंका निर्विशेष ध्यान सिद्ध न हुआ तो भी उक्तसविशेषब्रह्मका ध्यान तो अवश्य ही सिद्ध होजायगा। इसी अभिप्रायसे उनने ब्रह्मको निर्विशेष कहा यदि वे जानते कि कुछ ेकालमें हमारे शिष्य मठोंका ध्यान लगाने लगेंगे तो वे कभी भी ऐसा न कहते। बडे खेदकी वार्ता है कि अद्वैतीलोग एक छोड पांच देवताओंकी मूर्ति रखतेहैं और उनकी उपासना भी कुछक करतेहैं और लोगोंसे तो कहतेहैं कि ब्रह्म निर्विशेष है और उसके ज्ञानमात्रसे मोक्ष होताहै सूत्रकारको उपासनासे अभिप्राय नहीं इत्यादि। वस्तुगत्या कहना कुछ और करना कुछ यह अँधाधुँद अद्वैतसंप्रदायमें बहुत है।

यदि कहो कि " अनणु अह्रस्वमदीर्घम्, अपाणिपादम् " इत्यादिश्रुति ही ब्रह्मको निर्विशेष बतातीहै तो इसका यह उत्तर है कि यह श्रुति निर्विशेषताको प्रतिपादन नहीं करती किं तु प्राकृतगुणराहित्यको प्रतिपादन करतीहै कि परमात्माके गुण सांसारिकगुणोंके तुल्य प्राकृत नहीं किंतु परमात्माके गुण दिव्य हैं, अन्यथा " अनण्वह्रस्वम् " इत्यादि श्रुति जैसे गुणराहित्यको प्रतिपादन करतीहै वैसे " सहस्रशीर्षापुरुषः " "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते " इत्यादि श्रुति गुणवत्ताको भी प्रतिपादन करती है दोनों ही प्रकारकी श्रुतिएं समानबल हैं तो क्या करोगे ? श्रुतिओंकी एक वाक्यता तो अवश्य करनी ही चाहिए इसलिए यही उचितहै कि गुणनिषेधक श्रुतिएं प्राकृतगुणोंका निषेध करतीहैं और गुणप्रतिपादक श्रुतिएं दिव्यगुणोंको प्रतिपादन करतीहैं ऐसा मानों ऐसा माननेसे श्रुतिओंका परस्पर विरोध दूर होकर एकवाक्यता होगई। यदि कहो कि " अनण्वह्रस्वम् " इत्यादि श्रुतिएं तो निर्विशेष ब्रह्मको ही प्रतिपादन करती हैं और " सहस्रशीर्षा पुरुषः " "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" इत्यादि श्रुतिएं

तो ईश्वरको प्रतिपादन करती हैं ईश्वर तो सगुण है ही, तो इसका यह उत्तर है कि तुमारे मतमें तो सगुण ईश्वर भी मिथ्या ही है और वेदांतवाक्य तो तत्त्वपदार्थको प्रतिपादन करनेकेलिए प्रवृत्त हुए हुए "सहस्रशीर्षा" इत्यादि सगुणवाक्योंसे भी मिथ्याभूत सगुणब्रह्मको कैसे प्रतिपादन करेंगे। वेदांतने जो प्रतिपादन कियाहै उसे तुम्हे विवश होकर सत्य मानना पडेगा और वेदांतने तो बहुत स्थानोंमें सगुणब्रह्मका ही निरूपण किया है गुणनिषेधकवाक्य तो बहुत अल्प हैं इसहेतु यही उचित है कि "अनणु" इत्यादि गुणनिषेधकवाक्य सामान्यतः गुणोंका निषेध नहीं करते किं तु प्राकृतगुणोंका ही निषेध करतेहैं इससे सिद्ध हुआ कि परब्रह्म सगुण है किन्तु उसके सभ गुण दिव्य हैं गुण छोडकर उसकी वैकुंठवाली जितनी सामग्री है वह सभ दिव्य ही है यह सभ पुराणोंमें व्यासदेवने सविस्तर प्रतिपादन किआहै। जिसके भृत्य सरस्वत्यादिकोंकी भी कृपासे जीव गुणवान् होजाते हैं वह परमात्मा समग्रब्रह्मांडोंका अधिपति भला कैसे निर्गुण होगा "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इसेभी देखो ॥ १४ ॥

मू०–यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

दोहा–विषयेंद्रियसंबन्धसो जस पीडा नहि होय ।
दुख सुख समझ वशी मोक्षयोग्य नर सोय ॥ १५ ॥

टी०–हे अर्जुन जिस पुरुषको उक्त मात्रा स्पर्शों (विषयेंद्रियसंबन्धों) से पीडा नहीं होती और वह धीर बनकर सुख और दुःखको तुल्य ही समझे अर्थात् जिसे सुख प्राप्तिसे हर्ष न हो दुःखप्राप्तिसे क्लांति न हो तो वह पुरुष मोक्षके योग्य होसकता है, तुमारेसा दुःखसे डरनेवाला पुरुष मोक्षके लायक नहीं होसकता इसहेतु स्ववर्णोचित जो जो कर्म हैं उन्हे अवश्य ही करनाचाहिए उनसे प्राप्त होनेवाले सुखदुःखोंको भी धीर बनकर अवश्य सहनाचाहिए ॥ १५ ॥

मू०–नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ॥
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

दोहा–काय असत् न रहैं सदा रहै सदा सत् जीव ।
दोनोको निर्णय इह पंडित कीन्ह अतीव ॥ १६ ॥

टी०–देह असत् नाम अनित्य है वह नित्य नहीं होसकता अर्थात् देह विनाशिनी ही है इससे देह भी चिन्तायोग्य नहीं। और जीवात्मा सत् नाम नित्य है इससे उसका नाश नहीं होसकता इस हेतु जीवात्मा भी चिन्तायोग्य नहीं। इन दोनों (देह और जीव) का विद्वानोंने यही पूर्वोक्त अंत नाम निर्णय किआहै। यहांपर असत् शब्द

अनित्यका लक्षण है कुछ तुच्छपरक नहीं क्यों कि प्रपंचको अद्वैती भी तुच्छ नहीं मानते अत एव मिथ्याका भी लक्षक नहीं। यहांपर मधुसूदनसरस्वतीने भावशब्दसे त्रैकालिक सत्ता लेकर उसके निषेधसे प्रपंचको मिथ्या प्रतिपादन किआहै सो सभ अनुचित है क्योंकि भगवान् स्वयं १४ के श्लोकमें प्रपंचांतर्गत मात्रास्पर्शोंको अनित्य कह चुकेहैं इससे प्रपंच मिथ्या नहीं किन्तु अनित्य ही है और भावशब्दका त्रैकालिकसत्ता अर्थ करनेसे भी प्रपंचको मिथ्यात्व प्राप्त नहीं होसकता त्रैकालिकसत्ता जो विशिष्ट है उसका निषेध करनेसे भी वर्त्तमानकालिक सत्ता प्राप्त होसकतीहै। यथा कोई तीन भ्राता हों उनको यदि कोई पूछे कि तीनों हैं तो वहां दो तो न हों किन्तु एक हो तोभी उत्तर देनेवाला एकके होनेपर भी कह सकता है कि तीनों तो नहीं हैं एवं यहांपर भी अनित्यतारूपी जो वर्तमानसत्ता है उसके होते भी विशिष्ट त्रैकालिकसत्ताका प्रपंचमें भगवत्ने निषेध किआहै। वास्तव अर्थ तो यही है कि देह विनाशी है जीव अविनाशी है इति। और पदार्थ जो विनाशी कहाताहै वह भी उस नाम तथा रूपके विनाशसे हीं विनाशी कहाता है कुछ वह पदार्थमात्र ही नष्ट नहीं होजाता क्यों कि जो इस समय घट है वह पहिले मृत्तिकास्वरूप था कुछ नहीं ही था सो नहीं, एवं घटनाशानंतर भी घटके नाम रूप ही नष्ट होगए कुछ पदार्थ नष्ट नहीं होगया किं तु वही घट टुकडे (खंड) रूप होगया क्यों कि घटध्वंससे यदि वह पदार्थ ही नष्ट होगया आगे न रहा तो यह भी कहना पडेगा कि घटावस्थासे पहिले भी घट नहीं था तब तो असत् घटकी उत्पत्ति होतीहै ऐसा कहोगे, जब मृत्तिकामें असत् (न होनेवाले) घटकी उत्पत्ति होतीहै तब मृत्तिकासे ही घट क्यों उत्पन्न होताहै तंतुओंसे घट क्यों नहीं उत्पन्न होता क्यों कि घटकी असत्ता तो तंतु और मृत्तिकामें तुल्य ही है, तंतुसे घट उत्पन्न नहीं होता मृत्तिकासे ही घट उत्पन्न होताहै इस नियमसे यही सिद्ध होताहै कि मृत्तिकामें प्रथमसे घट हईहै किं तु कुलालव्यापारसे मृत्तिकापिंडके नामरूप दूरहोकर घटके नामरूप प्रकट होजातेहैं यही अनित्यतावादका अभिप्राय है यही सद्वाद कहाताहै। एवं प्रलयकालमें भी कार्य जितने हैं वे अपने अपने कारणोंमें लीन होते होते परंपरासे प्रकृतिमें जाकर लीन होजाते हैं वह प्रकृति भी महाप्रलयमें श्रीनारायणभगवान्में लीन होजाती है कुछ नष्ट नहीं होती। "वाचारंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" यह श्रुति भी कुछ प्रपंचको मिथ्या नहीं कहती किं तु कार्यमें सर्वत्र समवायीकारण अनुवर्तमान रहताहै इसहेतु यह कहती है कि–प्रपंचकारण ब्रह्म ही सत्य नाम नित्य है प्रपंच नित्य नहीं अनित्य है यह कहसकती है।

और अर्जुनके कौरवोंको देह और जीवके विषयकी ही चिंता लगी है कि युद्धमें मर न जाएं इसलिए भगवान्‌ने यहां असत्‌शब्दसे देहमें और सत्‌शब्दसे जीवमें हीं

तात्पर्य है कुछ असत्‌शब्दसे समग्र प्रपचमें और सत्‌ शब्दसे परब्रह्म तात्पर्य नहीं क्यों कि ऐसा वणन करना असंगत " ॥ १६ ॥

मू०-अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्‌ ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

दोहा-अणुताकारण सवके भीतर वैठ्यो जोय ।
नाशरहित तिस जीवको कउसो नाश न होय ॥ १७ ॥

टी०-वह जीवात्मा अविनाशी = विनाशरहित है उस जीवसे यह समग्र अचेतन वर्ग व्याप्त है अर्थात्‌ सभ अचेतनके भीतरमें जीव रहता है वह जीव अव्यय है अर्थात्‌ उसमें स्वरूपविकार भी नहीं होता सदा वह एकस्वरूप रहताहै अर्थात्‌ नित्य है ऐसे अविनाशी तथा नित्यस्वरूप जीवका कोई भी नाश· नहीं करसकता ॥

यहांपर भगवान्‌ने जीवात्माका ही स्वरूप कहाहै क्यों कि अर्जुनको वांधवोंके जीव तथा देहके ही वारेमें संदेह है इसलिए जीवात्माका ही स्वरूप कहना संगत है, परमात्माका स्वरूप कहना संगत ही नहीं क्यों कि परमात्माके स्वरूपमें यहां अर्जुनको संदेह नहीं हुआ और आस्तिकमात्र स्वयं ही परमात्माको नित्य मानतेहैं इससे परमात्मा नित्य है यह तो अर्जुन भी जानता ही होगा ।: और जीवको तो प्रथम अणु कह ही चुकेहैं इसहेतु यहां पर "येन सर्वमिदं ततम्‌" इस वचनसे महत्परिमाणवत्तारूपव्यापकता नहीं जाननी क्यों कि यह जीवका प्रकरण है और जीव तो अणु हैं इसलिए यहां उक्त वाक्यसे अंतःप्रवेशरूपा ही व्यापकता लेगी । अंतःप्रवेशरूपा भी व्यापकता प्रसिद्ध है यथा आकाशमें टीडीदलके छाजानेसे लोग कहतेहैं कि आकाशमें तो टीडीदल व्याप्त होरहाहै यथा च शहतमें वहुतसी चीटी पडजानेसे कहतेहैं शहत तो चीटिओंसे व्याप्त है । यहांपर अंतःप्रवेशरूपा ही व्यापकताका जैसे वोध होताहै एवं भगवान्‌ने भी यहां जीवकी अंतःप्रवेशरूपा ही व्यापकता कही है अन्यथा १३ श्लोकपर जताईहुई जीवकी अणुतासे विरोध पडेगा ।

यहां पर मधुसूदनसरस्वतीजीने विनाशपदका देशकालवस्तुपरिच्छेद अर्थ किआहै उसका क्या खंडन लिखूं क्यों कि यह सब वालभाषित है विनाशपदका अर्थ लोकमें प्रसिद्ध ही है फिर देशकालवस्तुपरिच्छेद अर्थ करना केवल कुजालकल्पनामात्र है ॥

और १३ श्लोकमें "देहिनोस्मिन्‌" इस वचनसे भगवान्‌ स्पष्ट जीवात्माको कह चुके हैं आगे १८ श्लोकमें फिर "शरीरिणः" इसवचनसे जीवात्माको ही कहा है

क्यों कि देही और शरीरी ये शब्द जीवके ही वाचक हैं फिर बीचमें यहां परमात्माका प्रकरण कहांसे आया जो मधुसूदनी अर्थ उचित कहा सके ॥ १७ ॥

मू०--अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

दोहा—स्वप्रकाश नित जीवके नाशवंत इह काय ।
जान धर्म निज युद्ध कर फलसों चित्त हटाय ॥ १८ ॥

टी०—हे अर्जुन शरीर = जीवात्मा नित्यहै नाशरहित है और अप्रमेय है अर्थात् जीवभिन्नपदार्थमात्रका जीव ही प्रमाता = जाननेवालाहै ऐसे उस जीवके ये देह अंतवान् हैं नाम विनाशी हैं = कभी न कभी नष्ट होजातेहैं इसहेतु तेरे बांधवोंके देहोंने भी कभी न कभी नष्ट होना ही है फिर तू स्ववर्णधर्म जो युद्ध है उसको क्यों त्यागताहै मत त्याग युद्ध कर किं तु फलकी इच्छा न कर ।

अद्वैतमतानुसार अंतःकरणावच्छिन्न ही चैतन्य जीव कहाताहै और अंतःकरणके नाशसे मानो जीव भी नष्ट होजाताहै इसरीतिसे जीव भी मिथ्या ही है और अद्वैतसिद्धिमें तो जीवको क्या ईश्वरको भी मिथ्या बतायाहै और भगवान् तो यहां शरीरी= जीवात्माको " नित्यस्य " इसपदसे नित्य बताते हैं इससे जीव नित्य ही है । और मधुसूदनजीने यहांपर " शरीरिणः आध्यासिकसंबन्धेन शरीरवतः " ऐसा कहाहै अर्थात् मिथ्यासंबन्धसे शरीरवाला होनेसे आत्मा शरीरी कहाता है, यह सब उचित नहीं क्यों कि तत्त्वज्ञानोपदेशको देनेलगे भगवान् यहांपर मिथ्यापदार्थोंका निरूपण करते हैं यह कौन मतिमान् मानेगा ? इसहेतु आत्माका और शरीरका जो संबंध है वह यथार्थ ही है मिथ्या नहीं ।

और अद्वैती लोग चेतनको स्वयंप्रकाश होनेके कारणज्ञानस्वरूप मात्र मानते हैं ज्ञान धर्मी नहीं मानते सो भी ठीक नहीं क्यों कि जीवात्मा किंवा परमात्मा ज्ञानस्वरूप होकर ज्ञान धर्मी भी है अर्थात् जीवका ज्ञान भी एक धर्म है हां वह ज्ञानरूप धर्म भी जीवसे कभी पृथक् नहीं होता। एवं परमात्माका भी ज्ञान धर्म भी है, श्रुति भी ज्ञानको धर्म कहती है-" परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वभाविकी ज्ञानबलक्रिया च " इति । हां जीवके ज्ञानापेक्षया परमात्माका ज्ञान बहुत उत्कृष्ट है क्यों कि वह परमेश्वर है ।

यदि कहो कि ज्ञानके विना कोई भी पदार्थ स्वयंप्रकाश नहीं होसकता और चेतन तो स्वयंप्रकाश है इस हेतु चेतन ज्ञानस्वरूप ही है चेतनका ज्ञान धर्म नहीं, यह भी ठीक नहीं क्यों कि तुम चेतनको स्वयंप्रकाश सिद्ध करनेकेलिये सूर्य प्रदीप आदिका दृष्टांत देतेहो कि यथा दीप स्वयंप्रकाश है तथा चेतन भी स्वयंप्रकाश है तो यहांपर

यदि दीप स्वयंप्रकाश नहीं तव तो दृष्टांतासिद्धि साध्याप्रसिद्धि इत्यादि दोष तुमको लगेंगे यदि दीप वस्तुगत्या स्वयं प्रकाश है तव तो यथा दीपक जडपदार्थ है और ज्ञान-स्वरूप भी नहीं तो भी स्वयंप्रकाश है तथा चेतन भी यदि ज्ञानधर्मी होकर भी स्वयंप्रकाश है तो क्या दोष होगा ? कुछ नहीं। इससे चेतनमात्रका ज्ञान धर्म है इसीसे वेदांतसुत्रकारने कहाहै " ज्ञोऽत एव " अर्थात् जीवात्मा ज्ञ=ज्ञानधर्मा है, श्रुति यथा- "योयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिःपुरुषः" "विज्ञातारमेर केन विजानीयात्" " एष हि द्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता "इत्यादि श्रुतिएं भी ज्ञानको जीवका धर्म कहती हैं। और " विज्ञानात्मा पुरुषः " इत्यादिवाक्य भी जीवको ज्ञान स्वरूप मात्र नहीं कहते किं तु चेतन जीवका ज्ञानरूपी धर्म सदा वनारहताहै जीवसे कभी पृथक् नहीं होता इससे विज्ञानात्मा ऐसा कहाहै जैसे धर्मप्रधानपुरुषको धर्मात्मा कहते हैं यहांपरभी धर्म कुछ जीवका स्वरूप नहीं। जीवको " विज्ञानात्मा " इस वाक्यके अनुरोधसे ज्ञानस्वरूपमात्र मानोगे तो " एष हि द्रष्टा" इत्यादि वाक्यसे विरोध होगा और इस वाक्यका तो और कुछ अर्थ वदला भी नहीं जा सकता इससे ज्ञान स्वरूपभी चेतनका ज्ञान धर्म भी है यही मानना चाहिये।

और यदि जीवको ज्ञानस्वरूप मात्र कहोगे तो तुमारे मतमें तो जीवात्मा भी व्यापक-ही है और ज्ञानस्वरूप ही ठहरा तव तो जीवको सर्वत्रका ज्ञान होनेलगेगा सो तो होता नहीं इससे जीव अणु है और उसका ज्ञान धर्म है विषयके साथ इंद्रियसंबंध होनेसे उस विषयका प्रत्यक्ष होताहै यही सिद्धांत सिद्ध है ॥ १८ ॥

मू०-य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

दोहा-हंता अरु हत जीवको जो मानै सो मूढ ।
मरै न मारै जीव इह हरिअधीन सुन गूढ ॥ १९ ॥

टी०-जो पुरुष इस जीवको हंता=मारनेवाला समझताहै तथा जो इस जीवको हत=मरा समझताहै वे दोनों प्रकारके ही पुरुष अज्ञानी हैं क्यों कि यह जीवात्मा न मारताहै न मारा ही जाताहै। जीवात्मा भी नित्यपदार्थ है इसहेतु मारा भी नहीं जाता और जीवात्माका कर्तृत्वधर्म परमात्माके अधीन है अर्थात् जव भगवान् अंतर्यामी चाहते हैं तव यह कुछ क्रिया करसकताहै स्वतंत्ररूपसे कुछ नहीं करता इसी हेतु यहां-पर जीवकी स्वतंत्रकर्तृताका निषेध है कुछ स्वरूपेण नहीं अर्थात् भगवदऽधीनकर्तृताका निषेध नहीं।

यदि यहांपर सर्वात्मना हननकर्तृताका निषेध हो तो आपको यह अवश्य कहना ही पडेगा कि कुछ हननकर्तृतामात्रके निषेधसे तात्पर्य नहीं किंतु कर्तृतामात्रके

निषेधमें तात्पर्य है अन्यथा हननकर्तृता न रहनेपर भी जीवमें भक्षणादिकर्तृता रहस-कती है और सामान्यतः कर्तृतामात्रका निषेध तो पूर्वापरसे विरुद्ध है क्यों कि जीवकी " न त्वेवाहं जातु नासम् " यहांपर सत्ताकर्तृताको " तथा देहान्तरप्राप्तिः " यहांपर देहांतरप्राप्तिकर्तृताको भगवान् कहचुके हैं। और आगे " वासांसि जीर्णानि" यहांपर " संयाति " पदसे, देहांतरमें गमनकर्तृताको कहेंगे भी इसलिए कर्तृताके निषेध और विधिकी एकवाक्यता करनेकेलिए यही करना चाहिए कि यहांपर स्वाधीनकर्तृताका निषेध है सर्वात्मना कर्तृताका निषेध नहीं जीवात्मा भगवान्की इच्छासे ही कुछ करसकता है । और देहांतरप्राप्त्यादिमें भी जीवकी कर्तृता परमात्माके ही अधीन है ।

इससे यह सिद्ध हुआ कि अद्वैतीलोग जो कर्तृताको, अंतःकरणका धर्म मानकर जीवात्माको अकर्ता कहते हैं वह सभ अशुद्ध है । प्रत्यक्षसे देखाजाय तो शरीर ही कर्ता है परंतु शरीरमें कर्तृता होनेसे जन्मांतरमें तो वह शरीर रहता नहीं इसलिए शरीरांतरके किएहुए कर्मका शरीरांतरको फल मिलनेसे कृतहानि अकृताभ्यागम दोष होगा तब आप कहेंगे कि अंतःकरण तो पूर्वापरसमग्रशरीरोंमें एक होताहै वही कर्ता है तब तो कृतहानि अकृताभ्यागम दोष नहीं क्यों कि शरीरांतरमें जिस अंतःकरणने कर्म किआहै वही अंतःकरण शरीरांतरमें उसकर्मके फलको भोगताहै यह ठीक है किंतु आपके मतमें मोक्षावस्थामें तो अंतःकरण रहता नहीं नष्ट होजाताहै और क्रियामात्रका कर्त्ता तो अंतःकरण ही है तो श्रवणमननानिदिध्यासनादिक्रियाओंका भी कर्त्ता अंतःकरण ही होगा और उन क्रियाओंका फल जो मोक्ष है वह तो आत्माको प्राप्त होता है क्यों कि मोक्षप्राप्ति आत्माको कही जाती है इसरीतिसे यहांपर फिर आपको कृतहानि अकृताभ्यागम दोष लगा ही इसहेतु जीव ही कर्ता है यही मानो ।

और जीवको कर्त्ता न माननेसे प्रत्यक्षविरोध है । और जैसे जडहोनेके कारण शरीर कर्ता नहीं होसकता वैसे जडहोनेके कारण अंतःकरण भी कर्ता नहीं होसकता । हां अंतःकरणशरीरादिक क्रियाके साधन हैं विना शरादिके जीव कुछ नहीं करसकता और भगवदिच्छाके विना भी कुछ नहीं करसकता और " स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि वाक्य भी जीवको ही उद्देश करके यागादिका विधान करते हैं क्यों कि कामना चेतनका धर्म है जडभूत अंतःकरणका धर्म नहीं होसकता इसलिए स्वर्गकाम पदसे जीव ही का ग्रहण होताहै ।

वेदांतसूत्र भी है " कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् " अर्थात् शास्त्रीयकर्म जो यागादिक तथा ब्रह्मोपासना है उनके फल स्वर्गमोक्षादिका भोक्ता जीव है इसहेतु कर्ता

भी जीव ही है " विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च " यह श्रुति भी कहती है कि जीवात्मा यज्ञको तथा कर्मको करता है ।

यदि कहो कि " प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते " यहांपर स्पष्ट कहाहै कि प्रकृतिके गुण ही कर्ता हैं ? तो सांसारिकप्रवृत्तिमें जो जीवकी कर्तृता है वह सत्त्वरजस्तमोगुणके संसर्गसे है इसहेतु यहां पर गुणोंको कर्तृता कही है इसीसे कहाहै कि " कारणं गुणसंगोस्य सदसद्योनिजन्मसु " इति । जीवकी कर्तृता गुणसंग शरीरादिसाधन तथा भगवदिच्छा इनके परतंत्र है यही कहाहै कि- " अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् । विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ". इति । अधिष्ठान=शरीर. कर्ता= जीव. करण=इंद्रिय. दैव=भगवदंतर्यामी. चेष्टा=प्राण ये पांच पदार्थ प्रत्येक क्रियामें कारण हैं, कहा भी है- " शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः । न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ " अर्थात् जीवकी प्रत्येक क्रियामें शरीर इंद्रिय प्राण जीवात्मा अंतर्यामी ये पांच कारण हैं । इनमेंसे भी शरीरादि साधन हैं अंतर्यामी प्रेरक है प्राधान्येन कर्त्ता तो जीवात्मा ही है । इससे यह भी सिद्ध हुआ कि जीव अणु है व्यापक (विभु) नहीं क्यों कि व्यापकपदार्थ कोई तरह भी क्रिया नहीं करसकता । 'सुन गूढ' याने यह सिद्धांत बडा गूढ है ॥ १९

मू०-न जायते म्रियते वा कदाचित्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

दोहा-मरै न जन्मै जीव नित, कटै न काय कटात ।
कल्प आदि अरु अंतमें रहै सदा, सदऽजात ॥ २० ॥

टी०-जीवात्माकी नित्यतामें बहुत लोग विरोध करतेहैं इसहेतु भगवान् कृपाकर बारंबार जीवात्माकी नित्यताको प्रतिपादन करते हैं कि यह जीवात्मा उत्पन्न भी नहीं होता तथा मरता भी नहीं क्यों कि यह जीवात्मा अज नित्य पुराण=अनादि तथा शाश्वत=सदा रहनेवाला है अतएव शरीरको काटनेपर भी यह जीवात्मा कटता तथा मरता नहीं । और " नायं भूत्वा भविता वा न भूयः " अयं=जीवात्मा, भूत्वा= कल्पादिमें रहकर भी, भूयः=कल्पांतमें, न भविता इति न=नहीं होता सो नहीं किंतु होता ही है अर्थात् यह जीवात्मा कल्पादिमें भी होताहै और कल्पांत=प्रलयकालमें भी होता ही है क्यों कि नित्य है । हां यह अवश्य है कि प्रलयकालमें जीव भी

श्रीनारायणमें लीन होजातेहैं फिर कल्पादिमें श्रीनारायणसे ही प्रकट होतेहैं तो लीन होनेसे भी जीवका विनाश नहीं कहासकता क्यों कि यथा धनको पृथ्वीमें गाडदेनेसे धन नष्ट नहीं होता किन्तु पृथ्वीसे आच्छादित रहताहै और उस धनसे कोई व्यवहार नहीं होसकता एवं भगवत्में लीन होजानेपर भी जीवका स्वरूप नष्ट नहीं होता। जीवसे कोई व्यवहार उस समय नहीं होसकता।

यह भी ध्यान करलो कि हम सद्वादिओंके मतमें कोई भी पदार्थ सर्वात्मना नष्ट नहीं होता किं तु अपने अपने कारणमें लीन होताजाताहै, जाता जाता पदार्थमात्र अपने अपने कारणद्वारा प्रलयकालमें श्रीनारायणमें लीन होजाता है। और जीव भी प्रलयमें श्रीनारायणमें लीन होजातेहैं तब जडपदार्थोंकी सत्यताका और जीवोंकी सत्यताका यही भेद है कि जडपदार्थोंके ध्वंसानंतर किं वा रूपांतरेण परिणामानंतर 'उसके नाम और रूपका व्यवहार किं वा निर्देश नहीं रहता किं तु उसके नामरूप बदलते जातेहैं। और जीवके तो नाम रूप कभी भी (प्रलयमें भी) नहीं बदलते यह भेदहै।

और यहांपर " न जायते म्रियते वा " इससे जीवात्माका गर्भवास तथा शरीरांतरप्राप्ति किं वा प्राप्त शरीरका परित्याग निषिद्ध नहीं किआ किं तु जीवकी स्वरूपण उत्पत्ति तथा विनाशका ही निषेध किआहै अन्यथा पूर्वापरसे महाविरोध पड-जाएगा ॥ २० ॥

मू०–वेदाऽविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

दोहा--अज नित अव्यय जीव यह यह नर जानै जोय।
मारहुं कर मारै नहीं अरु नहिं काटै सोय ॥ २१ ॥

टी०–जीवात्माके नित्य होनेसेभी बांधवहननका मुझे कलंक लगेगा अर्जुनकी इस शंकापर कृपासिंधु कहतेहैं–वेदेति, जो पुरुष इस आत्माको नित्य अज और अव्यय जानताहै वह पुरुष किसको कैसे मारताहै? किं तु नहीं मारता अर्थात् जीव-स्वरूपको जाननेवाला पुरुष स्ववर्णोचित युद्धादिक्रियासे यदि किसीको मारता भी है तो भी वह मारक नहीं कहाता अर्थात् उसे हननका पाप नहीं लगता॥

यहांपर मधुसूदनसरस्वतीने जो " किं शब्द आक्षेपे " इत्यादि टीका लिखीहै वह शांतिग्रहणके लिए हमलोगोंको बहुत अच्छी है किं तु यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण-चंद्रका वह अभिप्राय नहीं क्यों कि उस अभिप्रायसे तो अर्जुन और भी रणसे विमुख ही होगा और भगवान्ने तो अर्जुनको लडानाहै इसहेतु भगवान्का यही अभिप्राय है कि तुम जीवको अविनाशी समझकर और युद्धको स्ववर्णधर्म समझकर युद्धफलसे चित्तको हटाकर युद्ध करो तब तुम्हे बांधवघातका पाप नहीं लगेगा॥ २१॥

मू०—वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा—
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

दोहा—वसन पुराने त्याग जिमि नूतन पहिरत देहि ।
मिली कायको त्याग तस नई कायको लेहि ॥ २२ ॥

टी०—यद्यपि शरीर विनाशी है तथापि पूज्यबांधवभीष्मादिके शरीरको भी कैसे काटकर नष्ट करूं इसशंकापर भगवान् कहतेहैं—वासांसीति, यथा जीव जीर्ण पुराने वस्त्रोंको त्यागकर नये वस्त्रोंको पहिरलेताहै एवं वर्तमान शरीरको त्यागकर जीव नवीनशरीरको प्राप्त होजाताहै उसपर भी भीष्मादिक तो वडे धर्मात्मा हैं और स्ववर्णोचितरणमें शरीरको त्यागेंगे इससे ये लोग तो स्वर्गीयशरीरोंको प्राप्त होकर सुख भोगेंगे इससे भीष्मादिका तुमारे युद्धसे उपकार ही होगा कुछ अपकार नहीं होगा इसहेतु तू अवश्य युद्ध कर ॥ यहांपर भी " संयाति " ऐसा कहाहै इससे प्रतीत होताहै कि जीवात्मा अवश्य अणु ही यदि व्यापक होता तो वह नूतनशरीरोंमें कैसे जा-सकता ॥ २२ ॥

मू०—नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

दोहा—काट सकै ना शस्त्र इह आग न दाह सकात ।
नीर भिगोय तिस शोष सकै नहि वात ॥ २३ ॥

टी०—इस जीवको शस्त्र काट भी नहीं सकते, अग्नि जला भी नहीं सकती, जल गला भी नहीं सकते, वायु सुखा भी नहीं सकता, इसहेतु हे अर्जुन तुम निःशंक होकर युद्ध करो ॥ २३ ॥

मू०—अच्छेद्योयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ॥
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोयं सनातनः ॥ २४ ॥

दोहा—छेदन शोषण दाह अरु भोजन योग्य न, भूप ।
अचल सनातन नित्य है स्थिर अणु जीवसुरूप ॥ २४ ॥

टी०—जीवको शस्त्र नहीं काटसकते इत्याद्युक्त अर्थको श्रीभगवान् हेतु देकर दृढ करतेहैं—अच्छेद्योति । यह जीवात्मा कटसकता नहीं इसहेतु इसे शस्त्र काट नहीं सकते । यह जीव दग्ध हो नहीं सकता इसहेतु इसे अग्नि भी दग्ध

नहीं करसकती। यह जीव गल ही नहीं सकता किं वा शिथिल नहीं हो सकता इसहेतु इसे जल गला वा शिथिल नहीं करसकता। तथा यह जीव शुष्क हो नहीं सकता इसहेतु इसे वायु सुखा नहीं सकता। जीव क्यों ऐसा है इसका हेतु कहते हैं कि नित्य है, सर्वगत है = सब पदार्थके भीतर रहनेवालाहै यहांपर भी विभुतारूप सर्वगतता नहीं जाननी किंतु पूर्वोक्तरीत्या अंतःप्रवेशरूपा ही सर्वगतता जाननी अन्यथा पूर्वोक्त अणुत्ववादसे विरोध पडैगा। स्थाणु = स्थिरस्वभाव है अचल है अव्यय है कांपनेवाला नहीं। अचलत्व धर्म भी कुछ विभुत्वव्याप्य नहीं जो अचल कहनेसे जीव विभु भी कहासके और जीवकी अणुतामें दोष पडे। सनातन अनादि है। इनहेतुओंसे जीव अच्छेद्यत्वादि धर्मवाला है।

यहां " सर्वगत " इसपदके अर्थको कहकर मधुसूदनजीने " यः पृथिव्यां तिष्ठन् " इस श्रुतिको उदाहरण दियाहै यह अनुचित है क्यों कि यहांपर तो जीवका प्रकरण है और वह श्रुति तो स्पष्टही अंतर्यामीका प्रतिपादन करतीहै यथा " यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष ते आत्मा अन्तर्याम्यमृतः " इति ॥ २४ ॥

मू०–अव्यक्तोयमचिन्त्योयमविकार्योयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

दोहा–ज्ञान–कर्म–इन्द्रिय मन इनको विषय न होय ।
जीवरूप इह जानिकै शोक तजो जन जोय ॥ २५ ॥

टी०–यह जीव अव्यक्त है चक्षुरादिज्ञानेंद्रिओंका भी विषय नहीं, अचिंत्य है अर्थात् मनका भी विषय नहीं, तथा अविकार्य है विकृत नहीं हो सक्ता अर्थात् कर्मेन्द्रियोंका भी विषय नहीं जब कि जीव इन्द्रियोंका विषय ही नहीं तथा मनका भी विषय नहीं तब इसे शस्त्रादिक कैसे काटसकतेहैं क्यों कि इंद्रियविषयपर ही शस्त्रादि चलसकतेहैं। तब तो हे अर्जुन इसजीवको उक्तरूप (नित्यत्वादिधर्मवान्) जानकर अपने शोकभारको त्याग कर युद्ध करो ॥ २५ ॥

मू०–अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

दोहा–जन्ममरणयुत देहकौ लख्यौ जीव तुम जोय ।
उचित न इह चिंता तऊ नाश अवस तस होय ॥ २६ ॥

टी०–हे अर्जुन यदि तू सदा उत्पन्नहोनेवाले तथा मरनेवाले देहको ही जीवात्मा समझताहै जीवपदार्थको देहसे पृथक् नहीं जानता तो भी तुझे उस बांधवदेहका भी इतना शोक (चिंता) करना उचित नहीं क्यों कि देहका विनाश अवश्य होना है।

इससे यदि तू युद्ध न भी करेगा तोभी कौरवोंके देह तो एक न एक दिन नष्ट होने ही हैं ॥ २६ ॥

मू०-जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

दोहा-जन्मै जो तिस मृत्यु हो मृतको जन्म जरूर ।
कोऊ न बदल जोय तहँ, हो जिन चिन्ताचूर ॥ २७ ॥

टी०-कौरवोंके देह क्यों अवश्य एकदिन नष्ट होंगे इसशंकापर श्रीवासुदेव कहते हैं- जातस्येति, जो जन्म लेताहै उसकी एक दिन अवश्य मृत्यु होतीहै और जो मरताहै उसका जन्म भी अवश्य होताहै इसहेतु जन्मेहुए कौरवोंकी एकदिन जब कि मृत्यु होनी ही है तो तुम इसकी (लाइलाजकी) क्यों चिंता करतेहो ।

यहांपर जन्मेकी मृत्यु अवश्य होती है किं तु मृतका जन्म अवश्य हो यह नियम नहीं क्यों कि मोक्षानंतर जन्म नहीं होताहै इससे " ध्रुवं जन्म मृतस्य च " यह प्रायोवाद है = विशेषकर मृतका जन्म ही होताहै मोक्ष तो किसी ही भाग्यवान्की होतीहै क्यों कि प्रथम ज्ञान हो फिर सांसारिक विषयमात्रका वैराग्य हो फिर श्रीनारायणके चरणकमलमें अनन्य भक्ति हो और प्रारब्धभोग समाप्त हो तब कहीं मोक्षकी आशा होसकती है सो ऐसा भाग्यवान् कोई ही होताहै जो इतनी दूर पहुंचसके । प्रारब्धकर्मके फल भोगे विना बीचमें ही यदि परमभक्तकी भी मृत्यु होगी तो उसे भी प्रारब्ध कर्मका फल भोगनेको द्वितीय जन्म लेना ही पडताहै ॥ श्रीरामानुजस्वामीने यहां सत्कार्यवादका निरूपण कियाहै मैं उसका प्रथम ही निरूपण करचुकाहूं ॥ २७ ॥

मू०-अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

दोहा-मृत्यु अनन्तर, जन्मतों पहिले व्यक्त न जोय ।
मध्यकालमें व्यक्त, तिस शोक देहको कोय ॥ २८ ॥

टी०-शरीरादि भूत जो हैं वे भी मरणानंतर सर्वात्मना नष्ट नहीं होते किं तु उनका उन नामरूपोंसे व्यवहार नहीं होता यथा घट फूटजानेपर भी टुकडे बने ही रहतेहैं हां उन टुकडोंका नाम घट यह कोई नहीं कहता तथा घटका वह रूप नहीं रहता यही विनाश पदार्थ है इससे तुमको कौरवदेहोंकी भी चिंता नहीं करनी चाहिये यह कहते हैं अव्यक्तादीनीति, भूत शरीरादिक आदिकालमें अपनी उत्पत्तिसे पूर्व अव्यक्त रहते हैं अर्थात् कारणस्वरूपसे रहतेहैं कुछ नहीं ही होने सो नहीं क्यों कि असत्की उत्पत्ति भी नहीं होसकती । मध्यमें अर्थात् उत्पत्तिकालसे लेकर नाशपर्यन्त भूत व्यक्त रहतेहैं अर्थात् अपने अपने (कार्यानुगत)

नाम रूपको धारण करतेहैं। फिर निधनकालमें—नाशानंतर अव्यक्त होजातेहैं अपने कारणमें लीन होजातेहैं कुछ नष्ट नहीं होते। एवं रीतिसे शरीर भी सर्वात्मना नष्ट नहीं होता किं तु कारणमें लीन होजाताहै तो ऐसे शरीरादिका भी शोक करना व्यर्थ है क्यों कि शोककालमें भी वह कारणमें लीन हुआहुआ हई है। यही सद्वादका स्वरूप है॥ २८॥

मू०—आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ २९॥

दोहा--अचरज कर इन जीवको भाग्यवान नर जोउ।
सुनत कहत जानत तथा सुनहुँ न जानै कोउ॥ २९॥

टी०—यह जीव स्वभिन्नप्राकृतपदार्थोंसे विलक्षण होनेसे आश्चर्यवदवस्थित है ऐसे आश्चर्यस्वरूपसे रहनेवाले इस जीवको कोई भाग्यवान् ही जानताहै = ध्यानविषय करताहै क्यों कि प्रकृतिपुरुषविवेकसे भी वेदांतीको भी मोक्ष इष्ट है। तथा ऐसे जीवको जानकरपरके प्रति कोई भाग्यवान् ही उपदेश करसकताहै = बतासकता है। और ऐसे विलक्षण जीवको कोई भाग्यवान् ही सुनताहै। कोई भाग्यहीन तो सुनकर भी नाम आचार्यके उपदेशसे भी इस जीवको जान नहीं सकते नाम इसका साक्षात्कार कर नहीं सकते। अर्थात् जीवका भी तत्त्वज्ञान दुर्लभ है।

मधुसूदनसरस्वती तो यहांपर " आविद्यिकनानाविधविरुद्धधर्मवत्तया सन्तमप्यसंतमिव, स्वप्रकाशचैतन्यरूपमपि जडमिवानन्दघनमपि दुःखितमिव, संभावितविचित्रानेकाकारप्रतीतिविषयं पश्यति " ऐसा गीत गातेहैं अर्थात् अज्ञानके कारण कोई इसे सत्स्वरूपको भी असत् देखता है कोई चेतनस्वरूपको भी जड मानताहै कोई आनंदस्वरूपको भी दुःखित जानताहै इत्यादि। यह सम ठीक नहीं क्यों कि उक्त स्वरूप अज्ञान तो अद्वैतमतसे भी संसारमें बहुत जीवोंको है कुछ थोडेसे जीवोंको नहीं इसलिये मूलका "कश्चित्"पद संगत नहीं होसकता यदि मधुसूदनी अर्थमें ही भगवान्का तात्पर्य होता तो भगवान् "कश्चित्"और" आश्चर्यवत्" यह न कहते। कश्चित् पद कहनेसे तो यही प्रतीत होताहै कि भगवान्का यही तात्पर्य है कि--कोई ही पुरुष जीवात्माके तत्त्वस्वरूपको जानताहै विशेष लोग तो नहीं ही जानते वह जाननेवालाभी जीवस्वरूपको जानकर चकित होजाताहै और चकित होकर ही द्वितीयके प्रति कहताहै, सुननेवाला भी चकित होजाताहै क्यों कि यह जीव अणु (अतिसूक्ष्म) भी है तो भी समग्र देहमें प्रकाशजाताहै हृदयके भीतर रहकर भी बाह्यके समग्र विषयों-

को मन इंद्रियद्वारा जानलेताहै इत्यादि जो जीवस्वरूप है उन्हीके कारणतज्ज्ञानीको आश्चर्य होताहै ॥ २९ ॥

मू०--देही नित्यमवध्योयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

दोहा--सकलदेहमे जीव है नित अवध्य अणुमान ।
याते कोउहु जीवको शोक करो न सुजान ॥ ३० ॥

टी०-हे पार्थ सभ हीके देहमें रहनेवाला यह देही = जीवात्मा अवध्य है अर्थात् देहवधके साथ इस जीवका किसीकी भी देहमें वध नहीं होसकता इस हेतु तुम्हे अपने बांधव छोड किसी भी भूतका शोक करना नहीं चाहिए क्यों कि किसी भी जीवात्माका वध हो नहीं सकता और शरीर तो सभीके विनाशी ही हैं ।

यहांपर 'देहे वध्यमाने सति' ऐसी सतिसप्तमीकी कल्पनापेक्षया 'देहे' यह अधिकरण सप्तमी ही माननी ठीक है यही श्रीवरवरमुनिस्वामीका भी अभिप्राय है गीतार्थसंग्रहदीपिकामें देखलो । भगवान्ने यहांपर साफ साफ कहदियाहै कि 'देहे देही' इति अर्थात् जीव देहमें रहनेवाला है, इससे सिद्ध हुआ कि जीव अवश्य अणु ही है यदि जीवव्यापक होता तो वह सर्वत्र रह सकता उसे देहमें रहनेवाला न कहते प्रत्युत देहको ही जीवमें रहनेवाला कहते क्योंकि व्याप्यपदार्थ व्यापकमें रहतेहैं । यदि कहो कि व्यापक भी आकाश यथा व्याप्यघटमें रहताहै एवं व्यापक भी जीव व्याप्यदेहमें रहेगा और उस रहनेका व्यवहार भी होगा तो एक तो यदि जीव व्यापक हो तो देवदत्तको स्वसुखादिज्ञानवत् परसुखादिज्ञान भी होनाचाहिए होता तो नहीं यह दोष: होगा द्वितीय पूर्वोक्त श्रुति सूत्रादिप्रमाण जो जीवको अणु प्रतिपादन करतेहैं उनसे विरोध पडेगा इसलिए जीव अणु ही है ॥ ३० ॥

मू०--स्वधर्ममपि चाऽवेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

दोहा--जानधर्म निज युद्धको हटिवो उचित न तोय ।
धर्मयुद्धसे श्रेष्ठ अरु क्षत्रियको नहिं कोय ॥ ३१ ॥

टी०-हे सखे जीवमात्रको अपने अपने वर्णाश्रमधर्मका अवश्य ही निर्वाह करनाचाहिए स्वधर्मका कभी परित्याग नहीं करनाचाहिए और युद्ध तो क्षत्रियका धर्म है यदि तुम युद्धको अपना धर्म समझते हो तो भी जीव चाहे नित्य हो चाहे अनित्य हो किंतु तुम्हें युद्धरूप स्वधर्मसे हटना उचित नहीं क्यों कि धर्मयुद्धसे बढकर क्षत्रियकेलिए और कोई भी पदार्थ श्रेष्ठ नहीं । और प्रत्येक व्यवहारमें एकपक्षमें तो अवश्य

हानिकी संभावना होतीहै युद्धमें तो क्षत्रियके लिए किसी पक्षमें भी हानि नहीं क्योंकि जीतेगा तो यहां सुख पाएगा युद्धमें मरेगा तो स्वर्गमें पहुंच सुख पाएगा।

जब कि भगवान् परमहिंसास्वरूप युद्धरूपी स्वधर्मसे भी हटना उचित नहीं समझते जब सात्त्विकधर्म जो जप तप संध्यावंदनादि शिखायज्ञोपवीतादि हैं तथा परम सात्त्विक और मोक्षफल देनेवाली जो भगवदुपासना है उससे जो हटे उसे मनुष्य भी मानना एक हठ ही है। महाराज युधिष्ठिरके राजसूययज्ञमें श्रीनारदजीने कहा भी है "कृष्णं कमलपत्राक्षं नार्चयिष्यन्ति ये नराः। जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न संभाष्याः कदाचन" इति अर्थात् जो श्रीकृष्णभगवान्का पूजन नहीं करते वे नर जीतेहुए भी मृतके तुल्य हैं उनके साथ कभी संभाषण भी नहीं करनाचाहिए ॥ ३१ ॥

मू०—यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

दोहा—दैवयोगसों जो मिल्यो खुल्यो स्वर्गको द्वार।
ऐसो रण अर्जुन मिले जस नृप पुण्य अगार ॥ ३२ ॥

टी०—हे पार्थ यह धर्मयुद्ध दैवयोगसे प्राप्त हुआहै और स्वर्गका मानो खुलाहुआ द्वार ही है ऐसायुद्ध कोई पुण्यवान् ही क्षत्रियको प्राप्त होता है इसहेतु तुम्हे इसयुद्धसे विमुख होना उचित नहीं ॥३२॥

मू०—अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

दोहा—जो तू इसको ना करै धर्म युद्धको भूप।
तौ स्वधर्म यश हीन ह्वै गिरै पापके कूप ॥ ३३ ॥

टी०—यदि तू इस धर्मयुद्धको नहीं करेगा तो तुझे स्वर्गका अलाभ मात्र ही नहीं किंतु तू स्वधर्म और यशसे हीन होकर पापको प्राप्त होगा अर्थात् तुझे पाप लगेगा। हमारे बहुतसे खाते पीते समर्थ वैष्णवलोगोंको भी नित्य नैमित्तिक कर्मसे ग्लानि है उन्हे भी कृपाकर इन भगवद्वचनोंपर तथा श्रीशेषावतारकृतभाष्यपर तनिक ध्यान अवश्य देना चाहिये ॥३३॥

मू०—अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

दोहा—अपयश सभ ही सर्वदा तव करि है नर नार ।
समरथको अपयश बुरो मरणहुं सो तु निहार ॥ ३४ ॥

टी०—केवल यशहानिमात्र ही युद्धत्यागसे नहीं होगी किं तु सभी जीव सर्वदा तेरा अपयश गाएंगे कि क्षत्रिय होकर भी अर्जुन धर्मयुद्धसे कायरकी तरह भाग-गया । और तुम जगत्में बडे प्रतिष्ठित हो सो प्रतिष्ठित पुरुषका अपयश तो मरणसे भी बढकर दुःखप्रद है । अर्थात् अपयश होनेके स्थानमें मरजाना ही अच्छा है ॥ ३४ ॥

मू०—भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

दोहा—भयकर रणसों चलदिओं तुहि कहिहै जग जेउ ।
अवजानैं जे शूर तुमि कायर जानिहै तेउ ॥ ३५ ॥

टी०—हे पार्थ तुम तो बंधुस्नेहसे करुणा करके रणको छोडोगे और लोग यह नहीं जानेंगे कि करुणासे युद्ध त्यागदिआ किं तु यही कहेंगे कि भयके कारण (डरकर) अर्जुन रणसे भागगया । और जो वीर तुमको आज एक अद्वितीय वीर समझतेहैं वे फिर तुम्हे कायर समझ जाएंगे तेरा अपमान भी करेंगे । इससे युद्धसे हटना तुझे उचित नहीं ॥ ३५ ॥

मू०—अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाऽहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

दोहा—कायरताबोधकवचन बोलिहै वैरी जौन ।
निंदिहै तव सामर्थ्यको तासौ अतिदुख कौन ॥ ३६ ॥

टी०—और तेरे शत्रु ही तेरी सामर्थ्यकी निन्दा करतेहुए अकथनीयवचन (गाली प्रभृति) तेरेको सुनाएंगे, उससे बढकर तो दुःख कोई नहीं । अर्थात् शत्रुके कटाक्ष-वचन सुननेकी अपेक्षा इस युद्धमें प्राण देदेना ही अच्छा है ।

यदि प्रपंच मिथ्या होता तो भगवान् तत्त्वोपदेशप्रस्तारमें युद्धकेलिए इतना आग्रह न करते यही कहते कि यह सभ मिथ्या ही है तू इच्छा हो तो युद्धकर चाहे न कर । इससे पाया जाताहै कि प्रपंच मिथ्या नहीं । यद्यपि प्रपंच मिथ्या हो चाहे अनित्यहो और तो क्या चाहे नित्य (सत्य) ही हो तो भी उपादेय नहीं किं तु हेय ही है तथापि वारवार मिथ्यात्वनिषेधका यह तात्पर्य है कि यथा ब्रह्मोपासनासे वेदांतीको मुक्ति इष्ट है तथा प्रकृतिवियुक्तजीवात्मोपासनासे भी मुक्ति इष्ट है उसमें तो प्रकृतिपुरुष-विवेक अवश्य होना चाहिए तभी प्रकृतिवियुक्तात्मज्ञान होगा इस हेतु प्रकृतिके

स्वरूपका ज्ञान होना भी इस पक्षमें आवश्यक है और प्रपंच प्रकृतिका ही परिणाम है प्रपंचको मिथ्यामाननेसे प्रकृतिको भी मिथ्या मानना पडेगा तब तो प्रकृतिका उलटा-विरुद्ध ही ज्ञान हुआ जो सत् प्रकृतिको मिथ्या जाना तब तो मोक्षसिद्धि भी इस पक्षमें नहीं होगी इस हेतु वारंवार प्रपंचमिथ्यात्वका निरास किआ जाताहै ॥ ३६ ॥

मू०—हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

दोहा—तासौ काटि कस युद्धको धनुष उठाओ धीर ।
मरिहौ तौ सुख स्वर्गको जीतै भूसुख वीर ॥ ३७ ॥

टी०—हे अर्जुन यदि तू युद्धमें मरजाएगा तो स्वर्गसुखको भोगेगा, यदि तू जीतेगा तो राज्य पाकर भूसुखको भोगेगा इसहेतु दोनों ही पक्षमें तेरोलिए इष्ट ही है इसकारण युद्धकेलिए कमर कस । और फलेच्छाको त्यागकर स्वधर्म समझ युद्ध करनेसे यह युद्ध तेरे मोक्षमें भी उपयोगी होगा अन्यथा स्वधर्मत्यागरूपी पापसे तेरा हृदय कलुषित होजाएगा तो फिर मोक्षकी बात कहां ॥ ३७ ॥

मू०—सुखदुःखे समे कृत्वा लाभाऽलाभौ जयाऽजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

दोहा—दुख सुख लाभ अलाभ जय हार इन्है सम मान ।
जुटो युद्धमें तत्र नही पाप लगै मन ठान ॥ ३८ ॥

टी०—सुख दुःख लाभ अलाभ जय पराजय इनको सम समझकर अर्थात् निष्काम होकर स्वधर्म समझकर तुम युद्ध करो, निष्काम हो युद्ध करनेसे तुमको पाप नहीं लगेगा अर्थात् पापरूपी संसारमें नहीं बंधोगे क्यों कि स्वधर्म परिपालन करना यह भगवदाज्ञा है भगवदाज्ञाके परिपालनकरनेसे संभव है कि संसार निवृत्त हो ॥ ३८ ॥

मू०—एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

दोहा—आत्मतत्त्वम हिमा कही कर्मयोगको तात ।
ज्ञान सुनौ जासौ सखे भवबधन कटिजात ॥ ३९ ॥

टी०—यहां पर सांख्यशब्दका अर्थ सांख्यमत नहीं समझना किं तु आत्मतत्त्व समझना क्यों कि पीछे जीवात्माके ही स्वरूपका निरूपण किआहै संख्या नाम है बुद्धिका उससे जो जानाजाय वह सांख्य है आत्मतत्त्व हे अर्जुन यहांतक

आत्मत्व तुमको सुनायाहै अब तुम कर्मयोगको सुनो उस कर्मयोगके ज्ञानसे तुमारा संसाररूपी बंधन छूट जाएगा।

यद्यपि संसारनिवृत्तिपूर्वक श्रीवैकुंठप्राप्तिकेलिए भगवद्भक्ति ही प्रधान साधन है कर्मयोग नहीं तथापि भक्ति विना ज्ञानके नहीं होती और ज्ञान भी स्ववर्णाश्रमधर्मोंके किए विना नहीं होता इसहेतु कर्मयोग भी परंपरया संसारनिवृत्तिमें साधन है किं वा कर्मयोगसे संसार निवृत्त होताहै और भगवद्भक्तिसे मोक्षप्राप्ति होतीहै ऐसा श्रीमदाचार्योंका अभिप्राय है श्रुति भी कहती है "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" अर्थात् अविद्यापदवाच्य कर्मसे मृत्युपदवाच्य संसारको तरकर विद्यापदवाच्य उपासनासे अमृतपदवाच्य मोक्षको जीव प्राप्त होताहै। यहांपर भी विद्याशब्द केवल ज्ञान (परिचय) मात्रका बोधक नहीं किंतु उपानास्वरूपज्ञानका ही बोधक है इसी अभिप्रायसे श्रीरामानुजस्वामीने कहाहै-" मम भवतु परस्मिन् शेमुषी भक्तिरूपा " इति "।

यहां मधुसूदनजी लिखते हैं" सम्यक् ख्यायते = सर्वोपाधिशून्यतया प्रतिपाद्यते परमात्मतत्त्वमनयेति संख्या उपनिषत्" क्या ही आंखोंमें धूल डालतेहैं उपनिषदोंमें एक भी वाक्य ऐसा नहीं जो निर्विशेष परमात्माका प्रतिपादन करे और आप तो समग्र उपनिषदोंको ही निर्विशेष परमात्मप्रतिपादिनी कहतेहैं यह भी नहीं सोचा कि निर्विशेषका प्रतिपादन ही कैसे होगा प्रथम तो प्रतिपाद्यत्व और निर्विशेषत्व यही दोनों धर्म परस्पर विरुद्ध हैं और सांख्यशब्दका आपने परमात्मा अर्थ किआहै सोभी विरुद्ध है क्यों कि गीताका पाठमात्र करनेवाला भी यह जानताहै कि भगवान्ने अबतक परमात्माका कहीं नाम भी नहीं लिआ केवल जीवात्माका ही निरूपण किआहै। यदि कहो कि जीव भी तो परमात्मासे अभिन्न ही है ? यह भी ठीक नहीं क्यों कि जीव परमात्मासे भिन्न है अणु है नित्य है ज्ञानधर्मवाला है कर्ता है इत्यादि प्रथम ही अच्छीतरह प्रतिपादन करदिआहै पीछे देखो इससे यहांपर सांख्यशब्दका जीवात्मा ही अर्थ है ॥ ३९ ॥

मू०—नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

दोहा कर्मयोग आरभ हू निष्फल नाहिन जात।
पाप न अरु असमाप्तिसो, तनिकहु भवहुँ रखात ॥ ४० ॥

टी०—वक्ष्यमाण कर्मयोगकी भगवान् महिमा (माहात्म्य) कहतेहैं—नेहेति, इस कर्मयोगका अभिक्रम = आरंभमात्र भी नष्ट याने निष्फल नहीं जाता अर्थात् सफल है।

और आरंभकियाहुआ कर्मयोग यदि समाप्त न हो किं तु बीचमें ही विच्छिन्न होजाए तो पाप भी नहीं लगता. यह कर्मयोग (फलेच्छारहित होकर कर्मकरना) ऐसा प्रशस्त है । और जो काम्यकर्म हैं वे ऐसे नहीं क्यों कि उनके आरंभमात्रसे कुछ फल नहीं मिलता किं तु निर्विघ्न समाप्त होनेसें ही फल मिलताहै । और काम्यकर्मका यदि बीचमें विच्छेद होजाय तो उलटा कर्ताको पाप भी लगताहै इससे काम्यकर्मकी अपेक्षा कर्मयोग बहुत प्रशस्त है । और इस कर्मयोगरूपी धर्मका लेशमात्र = अंशमात्र भी संसाररूपी भयसे रक्षा करताहै ॥ ४० ॥

मू०--व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

दोहा—आत्मस्वरूपनिश्चयपरा कर्मयोगमति एक ।
काम्यकर्ममति मूढकी अपरा त्रिविध अनेक ॥ ४१ ॥

टी०—हे अर्जुन व्यवसायात्मिका = आत्मतत्त्वनिश्चयपरा किं वा कर्मफलेच्छारहित कर्मयोगविषया यह बुद्धि एक है क्यों कि इस बुद्धि = ज्ञानका फल मोक्षरूप एक है और यह बुद्धि एक ही मोक्षरूपी फलकी साधन है । और अव्यवसायी = आत्मस्वरूपज्ञानहीनपुरुषोंकी काम्यकर्मविषया बुद्धि अनेकप्रकारकीहै फिर उसके एक२प्रकारके भी अनेक प्रकार हैं क्यों कि पुरुषकी कामना अनेक हैं यथा—पुत्रकलत्रधनादि विषयक उन अनेक कामनाओंकी साधनीभूत होनेसे वह बुद्धि भी अनेकप्रकारकी है फिर एक ही पुत्रमें अनेक प्रकार हैं यथा पुत्र शूर हो किं वा विद्वान् हो किं वा धनी हो किं वा सुंदर हो, तो एक पुत्र विषया भी बुद्धि अनेक प्रकारकी होगई । अनेकप्रकारकी बुद्धिकी अपेक्षा तो एक प्रकारकी बुद्धि सर्वथा श्रेष्ठ है, इसहेतु जो नित्यनैमित्तिक तथा काम्यकर्म करना हो उसे फलेच्छारहित होकर ही करनाचाहिए तब तो वह कर्म कर्मयोग होजाएगा उसमें संसार भी निवृत्त होगा। चित्तशुद्ध होकर भगवत्के ज्ञान भक्ति होकर मोक्ष भी प्राप्त होगी ॥ ४१ ॥

मू०--यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

दोहा--स्वर्गादिकसुखग्रस्त जे ज्ञानहीन नर नारि ।
अधिक न सुख स्वर्गादिसों अजगुत वैन उचारि ॥ ४२ ॥
भोगईशताधामहित काम्यकर्मकी बात ।
विषयी भाषत जाहिसों पुनि पुनि जन्म हि पात ॥ ४३ ॥
स्वर्गादिकसुखवैनसो हिय हरयो जस मूढ ।
कर्मयोगबुद्धी नहीं उपजत तिनमन कूढ ॥ ४४ ॥

टी०--भगवान् काम्यकर्मसे फलेच्छा रखनेवालोंकी ३ श्लोकोंसे निंदा करतेहैं--यामिति तीनों श्लोकोंका मिलकर अन्वय है । वेदवादरताः = वेदमें जो स्वर्गादिफलविषयक वाद (प्रशंसा) है उनमें सक्त, अविपश्चितः = अज्ञानीलोग, कामात्मानः = विषयभोगमें खचित, तथा स्वर्गपराः = स्वर्गसुखकी इच्छा रखनेवाले मूढ पुरुष, जन्मकर्मफलप्रदाम् = स्वर्गादिभोगानंतर जन्मरूपी जो कर्मफल है उसे देनेवाली क्यों कि स्वर्गादिभोगानंतर जन्म होता ही है श्रुति भी कहती है--"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति" तथा क्रियाविशेषबहुलाम् = तत्त्वज्ञानविरुद्धहोनेसे उसमें विशेष कर क्रिया ही प्रधान है तत्त्वज्ञानकी कुछ अपेक्षा नहीं, ऐसी जो भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्ति है उसके प्रति = उसके विषयमें, पुष्पिताम् = आपातरमणीय = श्रुतियुक्तिसे विरुद्ध वचनको कहते हैं कि नान्यदस्ति = स्वर्गादिसुखसे अधिक कुछ भी नहीं ऐसे कहनेवालोके इनवचनोंसे चुरागयाहै हृदय जिनका तथा भोग और ऐश्वर्यरूप विषयमात्रमें जो खचित हैं वे अव्यवसायी लोग हैं उनके समाधौ = मनमें व्यवसायात्मिका = फलेच्छारहित होकर कर्मयोगपूर्वक तत्त्वज्ञानविषया बुद्धि, न विधीयते = उत्पन्न नहीं होती क्यो कि वे तो विषयमें खचित हैं इससें उनकी फलेच्छा ही प्रथम तो दूर नहीं हो सकती ॥

तीनों श्लोकोंका तात्पर्य यह कि है कि विषयखचित लोग कहतेहैं कि स्वर्गादिसे बढकर कुछ नहीं ऐसे वचनको कहनेवाले तथा सुननेवाले विषयीलोगोंके मनमें कर्मयोगविषयक तथा तत्त्वज्ञानविषयक बुद्धि उत्पन्न ही नहीं होती, इति ॥

मधुसूदनजी प्रथम लिखचुकेहैं--"व्यवसायात्मिका आत्मतत्त्वनिश्चयात्मिका बुद्धिः" अब यहांपर लिखते हैं कि "अहं ब्रह्मेत्यवस्थानं समाधिस्तन्निमित्तं व्यवसायात्मिका बुद्धिर्नोत्पद्यते" इति । यह सभ उचित नहीं क्यों कि व्यवसायात्मिका बुद्धि भी आत्मतत्त्वनिश्चयस्वरूपा है और अहं ब्रह्मेत्यवस्थानरूप समाधिको भी आत्मतत्त्वनिश्चयस्वरूपा बुद्धि ही कहनापडेगा तब आत्मतत्त्वनिश्चयरूपा बुद्धि ही आत्मतत्त्वनिश्चयरूप बुद्धिके प्रति तो हेतु नहीं होसकती ? और पूर्वोक्तरीतिसे जीवात्मा परमात्मासे भिन्न है परमात्माका दासानुदास है इससे अहं ब्रह्म इत्याकारक समाधि

भी किसी ज्ञानीको तो हो नहीं सकती, हां किसी अज्ञानी मदांधको हो तो आश्चर्य भी नहीं इस समाधिका तो यही दृष्टांत है कि कोईपुरुष अपने लडकेको एक बावाजीके पास ले गया और बाबाजीसे कहा कि महाराज आपलोगोंमें चेला वडा होता है या गुरु ? बावाजीने कहा कि गुरु वडा होताहै तो वह गँवार बोला कि तब तो आप मेरे लडकेको गुरु ही बना लीजिए । इसीतरह अद्वैतिओंने भी सोचा कि सभसे वडा ब्रह्म है सो ब्रह्म ही बनना चाहिए। यहांपर समाधिशब्दका अर्थ अंतःकरण (मन) ही जानना. श्रीरामानुजस्वामीने यहां कहा भी है कि " समाधीयतेऽस्मिन्नात्मज्ञानमिति समाधिर्मनः " इति ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

मू०—त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

दोह—त्रिगुणपुरुषहित वेद है, सात्त्विक बन तम तोड ।
द्वंद्वरहित ज्ञानी बनो काम्यकर्म तुम छोड ॥ ४९ ॥

टी०—हे अर्जुन, त्रैगुण्यशब्दका अर्थ है सत्त्व रज तथा तमप्रधान पुरुष सो जो पुरुष केवल सत्त्वप्रधान नहीं है किं तु तीनोंगुण जिनमें वरावरके प्रधान हैं उन पुरुषोंके लिए वेद (कर्मकांड) है क्यों कि सत्त्वगुणहीन पुरुषोंके हितके (अपेक्षित) स्वर्ग पुत्रकलत्रादिसांसारिक विषयोंको, ही सिद्धकरनेवाले यागादिकनको वेद प्रायः प्रतिपादन करते हैं। हे पार्थ तू तो रजोगुण और तमोगुणको हटाकर निस्त्रैगुण्य=सात्त्विक बन अर्थात् तीनों गुणोंको वरावरके मत रख किं तु सत्त्वगुणको वढा । हे भगवन् तमोगुण रजोगुण दवकर सत्त्वगुण कैसे वढेगा ? इसपर भगवान् नंदनंदन कहते हैं कि—निर्द्वन्द्वेति सुख दुःख लाभालाभ शीतोष्ण जयपराजय इत्यादि जो संसारीभाव हैं वे ही द्वंद्व हैं तू इनसे रहित होजा, और निर्योगक्षेम होजा अर्थात् अप्राप्तकी प्राप्ति ही योग है और प्राप्तका रक्षण ही क्षेम है, सो तत्त्वज्ञानको जो पदार्थ हेतु नहीं हैं तू उन सभोंको छोड दे न तो उनकी प्राप्तिकेलिए ही यत्न कर और दैवयोगसे ऐसे (तत्त्वज्ञानभक्तिके असाधनरूप) पदार्थ प्राप्त भी होजाएं तो उनकी रक्षा मतकर दैवसे नष्ट हों तो नष्ट होनेदे । और तू आत्मवान् हो अर्थात् आत्मस्वरूप क्या है इसकी खोजकर सो जब तू निर्द्वंद्व निर्योगक्षेम तथा आत्मवान् होगा तव तू नित्यसत्त्वस्थ होगा अर्थात् तव तेरा सत्त्व वढेगा तू सदा सत्त्वप्रधान=सात्त्विक बना रहेगा ॥

जो लोग ज्ञानिओंमें भी मरणपर्यंत मात्रया अविद्यासंबंध मानकर भी यहांपर निस्त्रैगुण्यशब्दका संसाराहित्य अर्थ करते हैं वह परस्पर विरुद्ध है क्यो कि उनके मतमें अविद्या ही संसार है ॥ ४५ ॥

मू०–यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

दोहा–नीरभरो सरवर यथा तृषित न सगरो पीत ।
तथा वेदसौं कर्म लो मुक्तिहेतु इह रीत ॥ ४६ ॥

टी०–भगवन् वेदोक्तकर्मका कैसे परित्याग करना चाहिए यह अनुचित है इसशंका-पर भगवान् श्रीवासुदेव कहते हैं–यावानिति, यथा सरोवर चारों ओर जलसे भरा होता है किं तु जलार्थी कुछ समग्र जलको तो नहीं लेजाता किं तु जितने जलकी अपेक्षा होती है उतने ही जलको लेताहै, तथा वेदमें बहुतसा कुछ कहाहै वह सभ ज्ञानीके हित नहीं इसहेतु ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी पुरुषको तो वेदमें जो मोक्षसाधनीभूत ही कर्मयोग कहे हैं उनीको ग्रहण करना चाहिए । भगवान्के इसी वचनके प्रमाणसे वैष्णवाचार्योंने काम्यकर्म करनेका निषेध किआहै ॥ ४६ ॥

मू०–कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

दोहा–रसक्तिहै तुम कर्म ही फल इच्छा न बनाउ ।
युद्ध करौ, जिन कर्तृता जानौ अपने माउ ॥ ४७ ॥

टी०–हे अर्जुन तेरा कर्ममात्रमें अधिकार है अर्थात् तुझे कर्म अवश्य करना ही चाहिए । फलमें तेरा अधिकार नहीं क्यों कि कर्मका फल तो परमात्माके अधीन है, किं वा फलमें तेरा अधिकार (इच्छा) नहीं होना चाहिए अर्थात् तू फलकी इच्छा मतकर ! और कर्म तथा फलका तू कर्ता भी अपने आपको ही मत जान क्यों कि फलका कर्ता (दाता) तो परमात्मा ही है और कर्मका कर्ता भी तू केवल नहीं किं तु कर्ममें भी शरीर प्राण इंद्रिय गुणसंग तथा परमात्मा ये भी तेरी तरह कारण हैं। यहां भी जीवकी स्वतंत्रकर्तृताका ही निषेध है । किं वा तू कर्मकर्तृताका अभिमान मतकर । और 'मैं युद्ध नहीं करूंगा' इत्यादि जो तैंने कहा सो कर्मपरित्यागका भी तुझे हठ नहीं चाहिए किं तु कर्म तो करो उसके फलका त्याग करदो यही अच्छा मार्ग है क्यों कि निष्काम कर्म भगवत्प्राप्तिका उपाय होजाता है ॥ ४७ ॥

मू०–योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यऽसिद्ध्योः समो भूत्वा, समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

दोहा—प्रीतिछोड योगस्थ हो कर्म करौ अनुरूप ।
सिद्धि असिद्धी जान सम, समता योगस्वरूप ॥ ४८ ॥

टी०--हे अर्जुन राज्यबंधुप्रभृतिमें संग (प्रीति) को त्यागकर योगस्थ होकर नित्यनैमित्तिककर्मोंको अवश्य करो । और कर्म तथा उसके फलकी सिद्धि और असिद्धिको तुल्य जानो अर्थात् कर्मके समाप्त होनेसे और उसका फल प्राप्त होनेसे हर्ष न करो और कर्मका विच्छेद (त्रुटि) होजानेसे तथा उसका फल न होनेसे खेद मत मनाओ । योगस्थ यहांके योगपदार्थको कहते हैं--समत्वमिति, समता ही योग है सो तुम्हे भी समबुद्धिवाला होनाचाहिए ॥ ४८ ॥

मू०--दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

दोहा—बुद्धियोगसों हीनतर काम्यकर्मको जान ।
बुद्धियोग तिस ला हियो, अधम फलेच्छामान ॥ ४९ ॥

टी०--पूर्वश्लोकमें जो समतारूप योग कहाहै उसीका नाम है बुद्धियोग उस बुद्धियोगसे अर्थात् निष्कामकर्मसे सकाम कर्म बहुत निकृष्ट है इसहेतु तू निष्काम होकर ही कर्म कर । सकाम होकर कर्म करनेवाले तो बडे कृपण=अधम हैं अर्थात् सदा संसारचक्रमें ही फँसे रहतेहैं । कहा भी है--

"नद्यां कीटा इवावर्तादावर्तान्तरमाशुते ।
व्रजन्तो जन्मनो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिम् ॥
कुर्वते कर्म भोगाय कर्म कर्तुं च भुञ्जते ॥" इति ॥ ४९ ॥

मू०--बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

दोहा—बुद्धियोगयुतकर्मते पाप पुण्य धुर जाइ ।
बुद्धियोग लग, कर्ममें फलत्याग चतुराइ ॥ ५० ॥

टी०—बुद्धियुक्त होकर=कर्मस्वरूप तथा उसके फलकी सिद्धि और असिद्धिके विषयमें सम होकर जो पुरुष कर्म करताहै उसके पुण्य और पाप दोनों ही नष्ट होजातेहैं पुण्यपापके नष्ट होजानेसे ही जीव श्रीवैकुंठको प्राप्त होसकताहै इसहेतु तुम योगमें अर्थात् फलेच्छाके त्यागमें लगो, क्यों कि कर्ममें योग ही चतुराई है अर्थात् कर्मकरते रहकर भी उसके फलकी इच्छा न करके सिद्धि और असिद्धिमें सम होना यही चतुराई है, चतुराई वही कहातीहै जिससे कुछ अधिक लाभ हो सो सकाम होकर कर्मकरनेसे तो उस कर्मका फल पुत्रकलत्रधनस्वर्गादिरूप परिच्छिन्न तथा विनाशी ही प्राप्त होगा और

निष्काम होकर कर्म करनेसे तो उस कर्मका फल संसारनिवृत्ति होगा और भक्ति कर परधामप्राप्ति भी होगी तो वह संसारनिवृत्तिरूप फल विनाशी नहीं किं तु अनंत है तो सांत फलकी अपेक्षा अनंत फलका लाभ उठाना यही चतुराई है। इससे यह कहा कि--फलेच्छा-का त्याग करना ही चतुराई है। यथा किसी पुरुषको पुत्र यदि अपना शत्रु हो तो उस पुरुषको प्रेम रखकर भी उसके पुत्रसे प्रेम नहीं किआजाता एवं कर्मका अनुष्ठान करने-पर भी उसका पुत्रस्वरूप जो फल है उससे प्रेम करना उचित नहीं क्यों कि वह फल बंधनस्वरूप होनेसे जीवका शत्रुभूत है ॥ ५० ॥

मू०--कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

दोहा--बुद्धियोगयुत धीर नर त्याग कर्मफल तात ।
जन्मबन्ध परिहीन ह्वै परमधामको जात ॥ ५१ ॥

टी०--बुद्धियुक्त = फलकी सिद्धि और असिद्धिको सम समझनेवाले फलेच्छारहित पुरुष कर्मसे प्राप्त होनेवाले फलको त्यागकर भगवदर्पण करके अर्थात् वेद भगवत्की आज्ञास्वरूप है इससे भगवदाज्ञाके अनुरोधसे भगवत्की प्रीति (प्रसन्नता) के लिए जो पुरुष निष्काम हो कर्म करतेहैं वे जन्मबंध (संसार) से निर्मुक्त होकर दुःखरहित जो परधाम (वैकुंठ) है उसको प्राप्त होतेहैं । " तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निर-ञ्जनः परमं साम्यमुपैति " इति श्रुति ॥

इतना ध्यान करलेना कि निष्कामकर्ममात्रसे ही जीव परमधामको प्राप्त नहीं होसकता किं तु निष्काम कर्मसे तो संसारनिवृत्तिमात्र होतीहै परमधामप्राप्ति तो ज्ञानपूर्वक भगव-द्भक्तिके विना नहीं होसकती श्रुति भी कहती है--" अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽ-मृतमश्नुते " इति । यथा कोई रोगीसे कहताहै कि तुम पथ्य करो पथ्यसे ही सभतरह आरोग्य होजाएगा तो यहांपर पथ्यमात्रसे रोग नहीं निवृत्त होता किं तु औषधसे ही रोग निवृत्त होताहै हां पथ्यका यही फल है कि जो कुपथ्यसे विकार होनाहै वह नहीं होगा एवं यहांपर भी भगवान्ने निष्काम कर्मकी प्रशंसा की है । वस्तुगत्या सकामकर्म कर-नेसे जो संसाररूपी बंध आगे भी बना रहेगा वह निष्कामकर्म करनेसे बना नहीं रहेगा यदि कहो कि संसारनिवृत्ति ही मोक्ष है तो यदि संसारनिवृत्ति ही मोक्ष होती तो यहां पर भगवान् ही स्वयं जन्मबंधनिवृत्तिसे पृथक् परधामको क्यों कहते इससे पायाजाताहै कि जैसे वस्त्रकी मल दूर होकर सफेदी और पदार्थ है और उस सफेद वस्त्रपर रंग होना और पदार्थ है इसी तरह संसारनिवृत्ति और पदार्थ है मोक्ष और पदार्थ है इसीसे श्रुतिने भी दोनोंको पृथक् पदार्थ कहाहै--"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते " इति । हां संसारनिवृत्ति हुए विना मोक्ष (परधाम) प्राप्ति नहीं होसकती ॥

जिक पुरुषने कर्म तो निष्काम किआहै किं तु दौर्भाग्यसे भगवान्का ज्ञान तथा भक्ति नहीं प्राप्त किये उस पुरुषका ज्ञान और भक्तिकी प्राप्तिकेलिए अवश्य ही जन्मांतर होगा यह अर्थापत्तिसे सिद्ध होताहै । यदि कहो कि यदि उसका जन्म ही हुआ तो भगवान्का " जन्मबंधविनिर्मुक्ताः " यह वाक्य झूठा होजाएगा ? यह भी मत कहो यथा किसी राजाको कैद किआजाए तो उसके हथकडी भी नहीं लगती और सभ सुख सामग्री बनीरहती है तथापि वह कैदी कहाताहै और एक गृहस्थ वडा कंगाल है उसके पास कुछ भी सुखकी सामग्री नहीं तथापि वह कैदी नहीं कहाता, और राजाका वह भारी महल भी बंधन कहाताहै और उस कंगालगृहस्थकी वह झोंपडी भी बंधन नहीं कहाती एवं सकामकर्म करनेवाले जन्म लेनेसे बद्ध कहाते हैं और उनका वह जन्म बंधन कहाताहै और निष्कामकर्म करनेवाला बद्ध नहीं कहाता और उसका जन्मांतर बंधन भी नहीं कहाता । और यथा थोडीसी कैद शेष रहजानेसे कैदी मुक्त ही कहाने लगताहै एवं निष्काम कर्म करनेवालेको यदि भक्ति नहीं हुई तो वह दूसरे ही जन्ममें भक्ति संपादनकर मुक्त होजाएगा इससे वह भक्तिहीन जन्ममें भी मुक्त कहा जाताहै । अन्यथा यदि निष्काम-कर्ममात्रसे ही मोक्ष होगी तो वेदांतमीमांसा व्यर्थ होजायगी इससे यही सिद्ध हुआ कि निष्कामकर्मसे संसार निवृत्त होताहै नाम आगेको बंधन तयार नहीं होता और ज्ञान तथा भक्ति (उपासना) से मोक्ष प्राप्त होताहै ॥ ५१ ॥

मू०—यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

दोहा—बुद्धियोगयुत कर्मते जब तब मोह नसाइ ।
तब तेरो श्रोतव्य श्रुत फलसों मन हटजाइ ॥ ५२ ॥

टी०—निष्काम होकर स्ववर्णाश्रमोचित कर्म करते करते जब तेरा अंतःकरण शुद्ध होनेसे अज्ञानरूपी कीचड नष्ट होजाएगा तब तैंने आजतक जो कर्मके फल स्वर्गादि सुने हैं यथा आगेको जो सुनोंगे उन सभसे तुझे स्वयं निर्वेद-वैराग्य होजायगा । क्यों कि कर्मफल सभ विनाशी हैं सो ज्ञानी पुरुषको तो विनाशीफलसे वैराग्य हो ही जाताहै श्रुतिने भी कहाहै—"तस्माद् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्" इति ।

जैसे कीचडमें फँसा पुरुष आगे नहीं बढसकता एवं अज्ञानमें फँसी बुद्धि भी आगे नहीं बढसकती इससे अज्ञानको कलिल तथा पंक कहते हैं । कलिल भी गाढेसे पदार्थका नामहै जैसे कीचड । अर्जुन उपलब्धसमग्रवेदको पढचुका है तथापि भगवान्ने "श्रोतव्यस्य" ऐसा कहाहै इससे पाया जाता है कि भगवान्का भी वेदकी अनंततामें ही तात्पर्य है श्रुति भी है कि " अनंता वै वेदाः" इससे जो लोग उपलब्ध अल्पमात्र

वेदमें कोई विषय न होनेसे उस समयमें अनास्था करके कहदेते हैं कि यह बात वेदमें तो है नहीं वे लोग मूढ और नास्तिक हैं क्योंकि वेदराशि अनंत है जो विषय उपलब्ध-वेदोंमें नहीं है वह वेदके किसी अनुपलब्ध भागमें अवश्य होगा। यथा–"चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्" इस प्रमाणसे एक अरवपाठ श्रीरामायणका सिद्ध होताहै किं तु हमलोगोंको तो उसमेंसे अल्पमात्र २४ हजारका भाग प्राप्त है एवं वेद भी अनंत हैं उनमेंसे प्रत्येकवेदका थोडा थोडा भाग ही हमको भाग्यसे प्राप्त है और इतने भी वेदको जब कि लोग पढते नहीं तो समग्रवेदोंको भगवान् क्यों हमें दें ? ॥ ५२ ॥

मू०–श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावऽचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

दोहा–आत्मतत्त्वनिश्चयपरा अचला मति श्रुतजात।
जब शुध हियमें होय तब आत्मरूप दरसात ॥ ५३ ॥

टी०–श्रुति = जो तुमने मुझसे श्रवण किआहै उससे, प्रतिपन्न सकलेतर विजातीय (विलक्षण) नित्य (निरतिशय) असीम सूक्ष्मतत्त्वविषया बुद्धि, अर्थात् आत्मस्वरूपको विषय करनेवाली बुद्धि निश्चय होकर, जब तेरे समाधि = हृदयमें बैठ जाएगी तब तू आत्मदर्शनरूप जोग है उसको प्राप्त होगा क्यों कि यद्विषयकबुद्धि प्रथम होती है तदनंतर ही जीव उसका दर्शन भी प्राप्त करताहै इससे जब तुम्हे यह ज्ञान होगा कि आत्मा सभ पदार्थोंसे विलक्षण है तब तुम उसके साक्षात्कारकेलिए यत्न करोगे तब तुमें उस आत्माका साक्षात्कार होगा। वह बुद्धि मनमें कब स्थित होगी ? तो जब तुम निष्काम कर्म करोगे तो उस निष्काम कर्मसे जब तुमारा चित्त शुद्ध होगा तबै वह उक्तबुद्धि तुमारे चित्तमें स्थिर होगी यही श्रीरामानुजस्वामीने लिखाहै कि–शास्त्रजन्यात्मज्ञानपूर्वक निष्कामकर्मसे स्थितप्रज्ञता (ज्ञानसीमा) होतीहै और उस स्थित प्रज्ञतासे आत्माका साक्षात्कार होताहै ॥ ५३ ॥

अर्जुन उवाच–

मू०–स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत् किम् ॥ ५४ ॥

दोहा–योगहेतु थिरप्रज्ञतालक्षण कहो सुजान।
चलनो बोलन बैठनो स्थिरधीवृत्त बखान ॥ ५४ ॥

टी०–हे श्रीकेशव आपने कहा कि स्थितप्रज्ञतासे आत्मदर्शनरूपी योग प्राप्त होताहै सो स्थितप्रज्ञपुरुषका लक्षण कहिए और स्थितप्रज्ञपुरुष कैसे क्या बोलताहै कैसे बैठना तथा चलताहै इत्यादि उसस्थितप्रज्ञका आचार (नित्यक्रिया) भी कहो।

भाषाशब्द यहां वाचकका वाचक है किं तु लक्षणमें लक्षणा है अर्थात् स्थितप्रज्ञका क्या स्वरूप है यह कहो ॥५४॥

श्रीभगवान् उवाच—

मू०--प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

दोहा—सकल मनोरथ त्यागकर भगवतमें चित लाय ।
आत्मानंदसुहाय तौ स्थितप्रज्ञ वन जाय ॥ ५५ ॥

टी० — जब जीव मानसिक मनोरथमात्रको अर्थात् लौकिक और पारलौकिक विषयमात्रकी अभिलाषाको त्याग करके भगवच्चरणारविंदमें चित्त लगाकर आत्मदर्शनजन्यसुखसे तुष्ट होता है तो वह स्थितप्रज्ञ कहाताहै । क्योंकि आत्मदर्शनसे बढ़कर और कोई पदार्थ नहीं इसहेतु आत्माको प्राप्त होकर बुद्धि स्थिर होतीहै सांसारिकविषयोंमें दौडती नहीं इससे स्थितप्रज्ञ कहाताहै इसी सर्वकामपरित्यागको ही योगी लोग वशीकारसंज्ञवैराग्य कहते हैं ।

यहांपर मधुसूदनजी लिखतेहैं कि काम सब चित्तके धर्म हैं सो चित्तका परित्याग करनेसे उसके धर्मभूतकामोंका भी परित्याग होजाताहै । यह सब अनुचित है क्यों कि संसारमें होनेवाला स्थितप्रज्ञ अपने चित्तका कैसे परित्याग कर सकेगा ?, जब कि स्थूल शरीरका भी परित्याग अपने वशकी बात नहीं तो चित्त परित्यागकी बात तो कौन कहे । यह केवल बालभाषित है । यदि कहो कि जीवन्मुक्ति हम मानतेहैं सो जीवन्मुक्तका चित्त नष्ट होजाताहै सो ध्यान रक्खो कि जीवन्मुक्ति मिथ्यापदार्थ है क्यों कि जीवन्मुक्ति कुछ पदार्थ ही नहीं प्रथम तो जीवन् और मुक्त यहां जीवित्व और मुक्तत्व दोनोंधर्म ही परस्पर विरुद्ध होनेसे परस्पर व्याघात दोष है क्यों कि जीताहै वह अवश्य प्राणको भी धारण करताहै और जन्ममरण बंधनसे निर्मुक्त नहीं फिर वह मुक्त कैसे होसकताहै । और तुम लोग प्रियाऽप्रियके विनाशको ही मोक्ष मानतेहो और श्रुति तो कहतीहै " न ह वै स शरीरस्य प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्ति" अर्थात् शरीरधारणकरनेवालेके प्रिय और अप्रिय = सुख दुःखका नाश नहीं होता । और जीवन्मुक्त तो प्रत्यक्ष ही शरीरधारी है जब उसके सुखदुःखका नाश श्रुतिसे ही बाधित है तब शरीरधारी = जीताहुआ पुरुष मुक्त (जीवन्मुक्त) कैसे कहा सकताहै ?, इससे यह सिद्ध हुआ कि जीवन्मुक्ति कुछ पदार्थ ही नहीं तब तो चित्तका परित्याग करना भी असंभव है और जिस पात्रमें कीचड भरजाए तो कीचडके परित्यागकेलिए उसपात्रका तो परित्याग नहीं किआजाता ? किं तु पात्रको धोकर साफ किआजाताहै एवं चित्तमेंके संकल्पसमूहरूपी कीचडको

निष्कामकर्मरूपी जलसे धोकर उसचित्तरूपी शुद्धहुए पात्रमें भगवद्भक्तिरूप अमृतको भर दो यही पक्ष साधु है ॥ ५५ ॥

मू०—दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दोहा—दुखसो जो उद्वेग ना, सुखमें रुचि नहिं होय ।
क्रोधरागभयहीन जो थिरप्रज्ञ मुनि सोय ॥ ५६ ॥

टी०—दुःखसे उद्विग्न न हो = घबराए मत और सुखमें रुचि (प्रीति) न करे और राग द्वेष तथा भयसे रहित हो तो वह भी स्थितप्रज्ञ कहाताहै । अनिष्टप्राप्तिकी चिंता भय पदार्थ है । अप्राप्तविषयकरुचि राग है। प्राप्तविषयके नाशके दुःखसे होनेवाला मनोविकार क्रोध है। यह सब लोकमें भी प्रसिद्ध है । श्रीवरवरमुनिस्वामीने स्थितप्रज्ञके चार प्रकार यहां कहेहैं उनमेंसे सर्वोत्कृष्ट स्थितप्रज्ञ तो पूर्वश्लोकमें कहाहै । उससे नीचे दरजेका इस श्लोकमें कहाहै । इससे भी नीचे दरजेका आगेके श्लोकमें कहेंगे उससे भी नीचे दरजेका तीसरे (५८) श्लोकमें कहेंगे। इनके भेद आगे कहूंगा॥५६॥

मू०—यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

दोहा—शुभफलसों सुख नाहि जस दुख न अशुभसों होउ ।
जाकी प्रीति न काहुम थिरप्रज्ञ है सोउ ॥ ५७ ॥

टी०—जिसकी किसीभी सांसारिक पदार्थमें प्रीति नहीं तथा सुखप्राप्त होनेसे हर्ष भी नहीं मनाता दुःख प्राप्त होनेसे दुःखी भी नहीं होता उसकी प्रज्ञा (बुद्धि) प्रतिष्ठित है अर्थात् वह भी स्थिरप्रज्ञ है ॥ ५७ ॥

मू०—यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

दोहा—विषयसक्त सम इंद्रिय जो विषयनसु हटाय ।
कच्छपअगसकोचसम, स्थिरधी सोउ कहाय ॥ ५८ ॥

टी०—यथा कच्छप अपने बाहिर निकलेहुए हस्तपादादिअंगोंको भयसे भीत समेटलेताहै तथा संसारभयसे जो पुरुष इंद्रियोंके शब्दस्पर्शरूपादिविषयोंसे अपनी इंद्रियोंको समेटताहै = रोकताहै उसकी भी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है = वह भी स्थिरप्रज्ञ है ।

इन चारश्लोकोंसे चार स्थिरप्रज्ञोंके स्वरूप कहेहैं उनमेंसे यहां जो स्थिरप्रज्ञ कहाहै इसकी इंद्रियें ही विषयोंसे निवृत्त हुई हैं मन नहीं। इससे पूर्व ५७ के श्लोकमें जो

स्थिरप्रज्ञ कहाहै उसका मन भी विषयोंसे हटगया है किंतु मनकी विषयवासना निवृत्त नहीं हुई। उससे पूर्व ५६ के श्लोकमें जो स्थिरप्रज्ञ कहाहै उसकी विषयवासना भी नष्ट होगई है किंतु उसे भी आत्मसाक्षात्कार नहीं हुआ। उससे भी पूर्व ५५ के श्लोकमें जो स्थिरप्रज्ञ कहाहै उसे आत्मसाक्षात्कार भी होगयाहै यही इन चारोंके भेद हैं। पूर्वपूर्व उत्कृष्ट है। और यौगिक चारप्रकारके वैराग्योंका इनचारों श्लोकपर समन्वय करना संगत प्रतीत नहीं होता ॥ ५८ ॥

मू०–विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

दोहा–विषयनतों नरि इन्द्रिय रोकहुँ जे कोउ।
तिनउ वासना ना हटे, हटे पेख पर (आत्मको) सोउ ॥ ५९ ॥

टी०–यथा पेटका आहार अन्न है एवं इंद्रियोंका आहार विषय हैं निराहारस्य = उन विषयोंसे रोकली हैं इंद्रियें जिसपुरुषने उसके विषय निवृत्त होजाते हैं अर्थात् बाह्यविषयोंसे मन तथा इंद्रियें निवृत्त होजाते हैं किंतु तथापि रस = राग (वासना) निवृत्त नहीं होता और जब उस जीतेन्द्रिय पुरुषको परमात्माका किंवा आत्माका साक्षात्कार होजाताहै तब तो विषयरस (राग) भी निवृत्त होजाताहै। यथा गंधले जलका स्थूलमल बहुतवार छाननेसे भी निकल जाताहै किंतु सूक्ष्म मल नहीं निकलता और कतक (निर्मली) चूर्णसे वह सूक्ष्ममल भी निवृत्त होजाताहै एवं अभ्यासादिसे विषय तो निवृत्त होजातेहैं वासना निवृत्त नहीं होती जब श्रीनारायणचरणारविंदका दृढ ध्यान लगकर साक्षात्कार होजाता है नाम चित्तमें श्रीनारायणचरणारविंदका प्रादुर्भाव होजाताहै तो चित्तकी विषयवासना भी निवृत्त होजाती है ॥ ५९ ॥

मू०–यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

दोहा–बहुरि यत्न करतो सुधी इंद्रियनिग्रह हेत।
विषयमाहँ मनको तऊ इंद्रिय बोरहिं देत ॥ ६० ॥

टी०–मनके निग्रहकेलिए बहुतसा यत्न करनेपर भी मनको प्रमथन करनेवाली इंद्रियें बलसे मनको विषयमें लगा ही देतीहैं क्यों कि इंद्रियग्राम बडा बलवान् है। आत्मसाक्षात्कारके विना यह दोष होताहै आत्मसाक्षात्कार होजानेसे इंद्रियें मनको विषयमें लगा नहीं सकतीं, क्यों कि मनको कोई न कोई विषय अवश्य चाहिए जब मनको श्रीनारायणका परममंगल पतितपावन श्रीचरण प्राप्त होजाता है तो मन

इंद्रियोंका बहकानेसे भी बाह्य विषयमें नहीं लगता । मन ऐसा मूढ नहीं जो अद्वितीयनिधि भगवच्चरणको छोडकर बाह्यविषयको दौडे ॥ ६० ॥

मू०--तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

दोहा--सकल इंद्रियें रोककर मोंमें हिया लगाय ।
वशमें जाके इंद्रिये स्थिरधी सोउ कहाय ॥६१॥

टी०--उक्त पद्यसे कहा कि इंद्रियजय बडा कठिन है, अब उसका, श्रीहरि उपाय बताते हैं--हे अर्जुन जैसे कैसे उन लोलुप इंद्रियोंको रोककर मेरेमें चित्तको लगाकर बैठजाए तब तो उसके मनके सब मल दूर होजाएंगे फिर कभी इंद्रियें तथा मन विषयोंकी ओर नहीं दौडेंगे । कहा भी है--

"यथाग्निरुद्धतशिखः कक्षं दहति सानिलः ।
तथा चित्तस्थितो विष्णुर्योगिनां सर्वकिल्बिषम् ॥" इति ।

और जिसके इंद्रियें वशमें होगई हैं वह तो स्थितप्रज्ञ ही है ॥ ६१ ॥

मू०--ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात् क्रोधोभिजायते ॥ ६२ ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

दोहा--विषयध्यानसों पुरुषको विषयराग बढजात ।
विषयकाम हो रागसों, काम क्रोध उपजात ॥ ६२ ॥
मोह बढै पुनि क्रोधसों, मोह करे स्मृतिहान ।
बुद्धिनाश स्मृतिहानते, तौ हति अपुनी जान ॥ ६३ ॥

टी०--अब विपक्षमें बाधक कहतेहैं अर्थात् भगवत्में मनको न लगानेमें जीवकी हानिको सुनाते हैं । मनकेलिए कोई न कोई विषय अवश्य ही चाहिए क्योंकि मन विषयका ऐसा भूखा है कि आंखमूंदकर सो जानेपर भी चुप नहीं बैठता किं तु स्वप्नके विषयोंमें डूबताहै । ऐसे लुच्चे भुक्खड मनको यदि भगवच्चरणरूपी विषयमें नहीं लगाओगे तो वह मन बाह्य (सांसारिक) विषयोंका अवश्य ध्यान करेगा विषयोंके ध्यानकरनेसे उन बाह्यविषयोंमें प्रीति भी उत्पन्न होती है । उस प्रीतिसे बाह्यविषयोंकी भोगेच्छा (अभिलाषा) उत्पन्न होतीहै यही कामपदार्थ है । फिर कदाचित् अभिलषितविषय न प्राप्त हुआ तो समीपस्थ लोगोंपर क्रोध उत्पन्न होता है कि ये ही हमारे भोगमें विघ्नकरनेवाले हैं । उस क्रोधसे मोह = कृत्याकृत्यविवेकशून्यता

उत्पन्न होती है अर्थात् क्रोधसे कार्य अकार्यका विवेक नष्ट होजाताहै वही मोह पदार्थ है । उसमोहसे इंद्रियजयकेलिए जो प्रयत्नका आरंभ कियाहोताहै उसकी स्मृति (याद) नष्ट होजातीहै । उस स्मृतिनाशसे आत्मज्ञानविषयक जो बुद्धि होतीहै उसका नाश होजाताहै । उस बुद्धिके नाशसे स्वयं नष्ट होजाताहै, अर्थात् फिर पुनः पुनः संसारसागरमें गोते लगाने लगताहै । इस हेतु मनको अवश्य ही भगवच्चरणमें लगानाचाहिए । भगवच्चरणमें लगा मन बाह्यविषयोंका ध्यान नहीं करेगा तव तो उक्त अनर्थपरंपरा भी प्राप्त नहीं होगी । तथा कतक (निर्मली) का यह स्वभाव है कि जलके मलको दूर करदेताहै । एवं मनमें प्रादुर्भूत भगवच्चरण भी मनके सभ मलोंको दूरकर पवित्र करदेता है जिस श्रीचरणसे अयोध्यामथुरादिभूतिकी पृथ्वी भी पवित्र होगई उस श्रीचरणसे मनका पवित्र होना तो कुछ भी कठिन नहीं हां मनमें उस श्रीचरणका प्रादुर्भाव ही कठिन है । सूरदासजीने भी कहाहै–

"सवै दिन गए विषयके हेत ।

तीनोंपन ऐसे ही बीते केश भयें शिरश्वेत । आंखिनि अंध श्रवन नहीं सुनियत थाके चरणसमेत । गंगाजल तजि पियत कूपजल हरितजि पूजत प्रेत । रामनाम बिन क्यों छूटेंगे चंद्रग्रहै ज्यौं केत । सूरदास कुछ खरच न लागत रामनाम मुख लेत ॥ ॥ १ ॥" हाफिजने भी कहाहै "हजूरी गर हमी ख्वाही अजो गायब मशो हाफिज ।" श्रीकुलशेखराल्वारने भी कहाहै–

" आनन्द गोविन्दमुकुन्द राम
नारायणानन्त निरामयेति ।
वक्तुं समर्थोपि न वक्ति कश्चि-
दहो जनानां व्यसनानि मोक्षे " ॥ इति ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

मू०--रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

दोहा–रागद्वेषविहीन जितइंद्रियसों नर जोय ।
विषयहि त्यागे चित्तसो मन निर्मल तस होय ॥ ६४ ॥

टी०--विषयोंके प्रति रागद्वेषसे रहित अर्थात् किसी भी सुखजनक विषयमें राग न हो और दुःखजनकविषयमें द्वेष न हो ऐसे तथा अपनेवशीभूत इंद्रियोंकरके चरन् = रहनेवाला विधेयात्मा वशीभूत है मन जिसका उस पुरुषका मन (अंतःकरण) निर्मल होजाता है ।

यहांपर ऐसा उलटा मनमाना अर्थ नहीं करना कि–जो रागद्वेषवियुक्त इंद्रियोंसे विषयोंको भोगताहै उसका मन निर्मल होताहै, क्यों कि यह अर्थ सर्वथा

अशुद्ध है किंतु 'विषयान् प्रति आत्मवश्यै रागद्वेषवियुक्तैरिन्द्रियैश्चरन् वर्तमानः प्रसादं प्राप्नोति ' ऐसा ही अर्थ ठीक है। यदि आपकी विषयवासना मिटी नहीं तो विषयभोगको प्रमाणित बनानेकेलिए गीता विचारीको मत भ्रष्ट कीजिए ॥ ६४ ॥

मू०-प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

दोहा--मनके निर्मल होत हीं सगरो दुख मिटिजाय ।

आत्मतत्त्वमति निश्चला तब हो अरु मोहि पाय ॥ ६५ ॥

टी०-विषयोंके त्यागसे जब मन निर्मल होजाताहै तो उस पुरुषके सब दुःख नष्ट होजातेहैं क्यों कि प्रायः सभी दुःख मनके कलुषित होनेके कारण ही होतेहैं। और जिसका मन निर्मल होजाताहै उसकी बुद्धि भी तुरत ही स्थिर होजाती है नाम परमात्मामें लगजाती है ॥ ६५॥

मू०-नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

दोहा--मोमें चित्त लगे विना मम मति ध्यानउ नाहिं ।

राग हटै ना ध्यानबिन सुख रागी न मिलाहिं ॥ ६६ ॥

टी०-जो पुरुष भगवच्चरणमें चित्त नहीं लगाता उसका बडा अनिष्ट होताहै अब यह श्रीवासुदेवभगवान् कहतेहैं-नास्तीति, जो पुरुष अयुक्त है अर्थात् जिसने मेरेमें चित्तको नहीं लगाया उसकी बुद्धि आत्मतत्त्वविषय नहीं होती, और उसका मेरेमें ध्यान भी नहीं बँधता। और जिसका मुझमें ध्यान नहीं बँधता उसको शांति प्राप्त नहीं होती अर्थात् उसकी विषयवासना निवृत्त नहीं होती। और अशांत विषयवासनावालेको सुख नहीं प्राप्त होता। क्यों कि सब दुःखोंका मूल विषयवासना ही है। श्रीतुलसीदासजीने अच्छा कहाहै-"राम राम राम जीभ जौलौं तू न जपिहै, तौ लौं कहूं जाय चहै तिहौं ताप तपिहै ॥" इति ॥ ६७ ॥

मू०-इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥

दोहा--विषयखचित इन इंद्रियन पाछे मन जो लाय ।

तिहमति विषय लगे यथा नावहि वायु वहाय ॥ ६७ ॥

टी०-जो पुरुष विषयमें खचित इंद्रियोंके पीछेपीछे मनको लगादेताहै किंतु मनको विषयोंसे रोकता नहीं उस पुरुषका वह इंद्रियोंके पीछे लगाहुआ मन उस पुरुषकी प्रज्ञा = आत्मतत्त्वविषया मतिको हरलेताहै नाम विषयोंमें लगादेताहै।

जैसे जलमें वहनेवाली नावको वायु जिधरको जाताहै हठसे उधरको ही ले जाताहै। एवं मन जिधरको जाताहै मति भी उसी ओर जातीहै इससे मनको भगवच्चरणमें ही लगानाचाहिए जो मति भी वहीं लगे ॥ ६७॥

मू०–तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

दोहा–सब विषयनसुं हटायके मन अरु इंद्रियग्राम।
हरिचरणन चित ल ः जो स्थिरधी तिसऊ नाम ॥ ६८ ॥

टी०–हे अर्जुन जिसपुरुषने इंद्रियोंके समग्र विषयोंसे इंद्रियोंको रोकलिआहै उसकी प्रज्ञा–बुद्धि प्रतिष्ठितहै–मुझमें लगीहै ऐसा जानना चाहिए ॥ ६८ ॥

मू–या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

देहा–लोक लगै जिस ज्ञानना रमै योगि तिस माहँ।
रमैं विषय जस लोक तहँ योगीको चित नाहँ॥ ६९ ॥

टी०–जो आत्मतत्त्वविषया बुद्धि सांसारिकलोगोंकेलिए निशा रात्रिके सदृश अप्रकाशिका है उस आत्मविषयकबुद्धिमें संयमी योगीनर जागताहै=लगा रहताहै। अर्थात् आत्मविषयकबुद्धिमें संसारीलोग रमण नहीं करते योगी ही उसमें रमण करताहै। और जिसविषयविषयिका बुद्धिमें सांसारिक लोक जागतेहैं–लगे रहतेहैं वह बुद्धि योगीकेलिए निशा रात्रिके तुल्य अप्रकाशिका है अर्थात् संसारीलोग विषयभोगमतिमें लगे रहतेहैं और योगीपुरुष विषयभोगमतिमें नहीं लगता ॥ इससे संसारीकी और योगीकी मति तथा प्रवृत्ति परस्पर विरुद्ध है यह कहा ॥ ६९ ॥

मू०–आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः
प्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति
सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥

दोहा–नदीनरिसों सिंधु जिमि घटतो वढतो नाहि।
तथा विषयको देख जो धीर (अचल) रह सुख ताहि॥ ७० ॥

टी०–यथा समुद्र अपने ही जलसे भर रहाहै तथा अचल=एकरूप प्रतिष्ठा=स्थितिवाला है अर्थात् सदा वैसा ही भरा रहताहै उस समुद्रमें अनेक नदिओंके जलप्रवाह

जाकर गिरतेहैं तथापि समुद्र चंचल नहीं होता अर्थात् बढता घटता नहीं किं तु एकरूप बनारहताहै । एवं जिस संयमीमें समग्र विषय प्रवेश करतेहैं अर्थात् जो संयमी विषयोंको देखकर चंचल नहीं होता किं तु समुद्र तथा पर्वतके सदृश धीर बना रहताहै उन विषयोंमें जरा भी फँसता नहीं उनकी ओर देखता भी नहीं वह ऐसा धीर संयमी शांति (सुख) को प्राप्त होताहै । न कामकामी = जो पुरुष विषयोंकी कामना रखताहै वह सुख नहीं पासकता क्यों कि प्रथम तो मनोभिलषित विषयोंके न प्राप्त होनेसे ही दुःख होताहै जो यथाकथंचित् विषय मिलते भी हैं उनको दैवात् भोग न सकनेसे भी दुःख होताहै जो कुछ थोडा भोग भी किआ तो विषयभोगपर्यवसानमें अनेक प्रकारके दुःख देताहै । संसार टूटता नहीं ॥ ७० ॥

मू०—विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

दोहा--सकलविषयको त्याग तो जो नर इच्छाहीन ।
ममताऽहंता छोड तो तिस दुख सभ हों छीन ॥ ७१ ॥

टी०—जो पुरुष समग्र काम = विषयोंको त्यागकर तथा विषयवासनाको छोडकर अकर अहंता और ममताको छोडदेताहै वह पुरुष सुखको प्राप्त होताहै । कहा भी है--

सूरसुघडता नैन धरि लोह सिलाई ताय ।
भामिनिभोगिनिपान जिन जीवनपथ निकराय ॥
" घोरेऽस्मिन् हतसंसारे नित्यं सततघातिनि ।
कदलीस्तंभनिस्सारे संसारे सारमार्गणम् ।
यः करोति स संमूढो जलबुद्बुदसंनिभे ॥ "
" न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ " इति ।

ममता नाम है प्रापंचिक पदार्थोंको अपना समझना यह अभिमानस्वरूप होनेसे भी दोषहै और पदार्थमात्र श्रीनारायणका है उसका अपना समझना अनुचित होनेसे भी दोष है अहंता नाम है आत्माभिमानका यथा मैं बडाहूं पूज्य हूं राजा हूं गुरु हूं इत्यादि तथा मैंने यह किआ इत्यादि यह अभिमानस्वरूप होनेसे भी दोष है और जीवमात्र श्रीगोविंदका दासानुदास है उस अपनको प्रधान समझना अपराध है तथा

कार्यमात्रका कर्ता कारयिता श्रीनारायण ही है फिर अपनेमें कर्तृत्वाभिमान करना भी अपराध है इससे भी दोष है।

श्रीयामुनाचार्यस्वामीने भी कहाहै—

" मम नाथ यदस्ति योऽस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव माधव।
नियतः स्वमिति प्रबुद्धधीरथ वा किं नु समर्पयामि ते ॥ "

अर्थात् हे भगवन् मैं और मेरा पदार्थ मात्र आपका है तथा आपके ही अधीन है फिर मैं आपको क्या समर्पण करूं? यदि मेरा वा मैं कुछ स्वतन्त्र होता तो मैं उसे आपके समर्पण करता " तथा—

" न देहं न प्राणान्न च सुखमशेषाभिलषितं
न चात्मानं नान्यत् किमपि तव शेषत्वविभवात्।
बहिर्भूतं नाथ क्षणमपि सहे यातु शतधा
विनाशं तत्सत्यं मधुमथन विज्ञापनमिदम् ॥ "

इस श्लोकका अर्थ अष्टादशरहस्य भाषामें लिखाहै देख लो ॥ ७१ ॥

मू०—एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

दोहा—आत्मतत्त्वमति, औ कही कर्मयोगकी बात।
मोह हटै इनसौं अरू, परमधामको जात ॥ ७२ ॥

टी०—हे पार्थ मैंने यह नित्यात्मज्ञानपूर्वक निष्कामकर्म करनेकी जो रीति बताई है यह मार्ग ब्रह्मप्रापिका है तथा इसके अनुष्ठानसे जीव कभीभी मोह (अज्ञान) को प्राप्त नहीं होता। अंतकाल=वृद्धावस्थामें भी इसका अनुष्ठान करनेसे जीव सुखस्वरूप ब्रह्मको प्राप्त होता है किं वा सायुज्यमुक्तिको प्राप्त होताहै। यह उक्तरीति ऐसी प्रशस्त है ॥ ७२ ॥

॥ इति [illegible]प्रणीतसतमई तथा तत्त्वार्थसुदर्शनीटीकासहित
श्रीमद्भगवद्गीताका द्वितीयाध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥

॥ अथ तृतीयाऽध्यायप्रारंभः ॥



अर्जुन उवाच--

मू०--ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

दोहा--आत्मतत्त्वमति कर्मसो व्रुनीकी यदि तोय ।
तौ क्यों हिंसारूपरण कर्म लगावा मोय ॥ १ ॥

टी०--मुमुक्षुलोगोंको परम (सर्वोत्तम) प्राप्य परब्रह्मपदार्थ है जिसे वेद और वेदांतोंने प्रतिपादन किआहै । उसकी प्राप्तिका उपाय उपासनाध्यानादिशब्द-वाच्य परभक्ति है उसभक्तियोगको ही द्वितीयषट्कमें भगवान्‌ने प्रतिपादन करनाहै । उस भक्तियोगका अंगभूत है जीवात्माका यथार्थज्ञान, क्यों कि जबतक जीव अपने आत्माको नित्य नहीं समझेगा तबतक वह भक्तिजिज्ञासामें प्रवृत्त ही नहीं होगा क्यों कि भक्तिका फल है मोक्ष वह मरणानंतर ही प्राप्त होसकताहै यदि जीव अपनेको अनित्य समझलेगा किं वा नित्य न समझेगा तो विनाशी समझकर मोक्षसे निराश होजायगा तो व्यर्थ होनेसे भक्तिजिज्ञासामें प्रवृत नहीं होगा इस हेतु जीवस्वरूपका तत्त्वज्ञान भी भक्तियोगका अंगहै । और आत्मतत्त्वज्ञान भी आत्म नित्यताज्ञानपूर्वक निष्कामकर्म करनेसे होताहै यह बात भगवान् कहचुकेहैं इसी तरह उपनिषदोंने प्रतिपादन किआहै इसे गीताभाष्यमें देखना चाहिए श्रुति भी कहती है कि "यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति" "एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति अर्थात् जो पुरुष जीवात्माको जानकर पीछे परमात्माको जानताहै वह इस शरीरसे निकलकर पर-ब्रह्मको प्राप्त होकर अपने स्वरूपको प्राप्त होताहै । प्रथम कहचुकाहूं कि संसाराव-स्थामें जीवस्वरूप तिरोहित रहताहै परमात्माको प्राप्तहोनेसे वह प्रादुर्भूत होता है इस हेतु वक्ष्यमाण साधनीय भक्तियोगका अंगभूत जो जीवात्मदर्शन है उसे अवश्य प्रतिपादनीय जानकर निरस्तनिखिलदोष समस्तासंख्येयदिव्यकल्याणगुणगणै-कमूर्ति कृपासागर देवकीकल्पलताफल भगवान् श्रीवासुदेव आगेके चारों अध्यायोंमें सविस्तर वर्णन करेंगे तथा उस जीवात्मतत्त्वदर्शनके साधनोंको भी कहेंगे ।

ज्यायसीति--हे भगवन् यदि आप कर्मापेक्षया आत्मतत्त्वज्ञानको ही उत्तम सम-झतेहैं तो आप मुझे हिंसारूप होनेसे घोर कर्मयुद्धमें क्यों लगातेहैं ? । अर्थात् आत्मदर्श

नका ज्ञाननिष्ठा साधन है आत्मदर्शनसाधनीभूता ज्ञाननिष्ठा तो इंद्रियें और मनके संयमसे तथा विषयविषयकव्यापारत्यागसे होती है यह भी आपने कहाहै। जब कि विषय-विषयक इंद्रियव्यापारत्यागसाध्य आत्मतत्त्वज्ञान ही साधनीय है फिर आप मुझे इस घोरकर्ममें क्यों नियुक्त करतेहैं प्रत्युत (बल्कि) आत्मतत्त्वज्ञानकी सिद्धिके-लिए मुझे सकलकर्मनिवृत्तिपूर्वक ज्ञाननिष्ठामें ही नियुक्त करना चाहिए यह अर्जुनका अभिप्राय है ॥

यह अर्जुनका जो पूर्वपक्ष है उसके दो दल हैं एक तो ज्ञाननिष्ठा द्वितीय नित्य-नैमित्तिककर्मसे निवृत्ति, इनमेंसे नित्यनैमित्तिककर्मकी निवृत्ति ही आजकल्हके वेदांतिओंका सिद्धांत है उनने गीता तथा उपनिषत् सूत्रादिसे यही सिद्धांत निकाला-है कि केवल शास्त्रीयकर्मका परित्याग करदेना और कुछ नहीं करना। इसीको मेरे-श्रीगुरुमवर क्लीनवेदांत कहाकरते हैं ॥ १ ॥

मू०--व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

दोहा--ज्ञानकर्मदउश्रेष्टता कहि तिन मोहो मोय ।
एक कहो निश्चय यथा मोर भलाई होय ॥ २ ॥

टी० -हे भगवन् आप कभी ज्ञानयोगकी प्रशंसा करके कभी कर्मयोगकी प्रशंसा करके मेरी बुद्धिको मुग्ध (संशयित) करलेहो सो ऐसा मत कीजिए किंतु एक बात निश्चयरूपसे कहिए जिससे मेरी भलाई हो। अर्थात् ज्ञानयोगश्रेष्ठ हो तो वह कहो कर्म-योगश्रेष्ठ हो तो वह कहो ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच-

मू०--लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

दोहा--आत्मतत्त्वरत पुरुषको ज्ञानयोगकी रीति ।
विषयविहरत नरको कही कर्मयोगकी नीति ॥ ३ ॥

टी०--हे अनघ = दोषरहित अर्जुन, मैंने दोप्रकारकी निष्ठा कही है एक तो ज्ञान-निष्ठा द्वितीय कर्मनिष्ठा उनमेंसे ज्ञाननिष्ठा = ज्ञानयोगमें अर्थात् आत्मतत्त्वविषयक-ज्ञानमें सांख्योंका = विषयवासनारहितमनवालोंका अधिकार है और कर्मनिष्ठा = कर्म-योगमें अर्थात् निष्कामकर्ममें ही योगिओंका अर्थात् जिनकी विषयवासना नष्ट नहीं-हुई उनका अधिकार है।

अभिप्राय यह है कि जीवको मोक्षाभिलाष होते ही मोक्षसाधनीभूतज्ञानयोगमें अधि-कार नहीं होसकता क्यों कि उसके मनकी अभी विषयवासनारूपीमल धुपी नहीं

इसहेतु मोक्षाभिलाषी पुरुषको भी प्रथम मनोमलको धोनेकेलिए निष्काम होकर कर्म ही करना चाहिए कहा भी है--

" यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ " इति ।

अर्थात् जो श्रीनारायण व्यापक और इस प्रपंचमात्रका उत्पादक है उसको स्ववर्णाश्रमोचित निष्काम कर्मोंसे अर्चन करके ही पुरुष सिद्धिको प्राप्त होताहै । जब निष्कामकर्मसे वासनारूपी चित्तकी मल धुपकर चित्त शुद्ध होजाताहै तब जीवका ज्ञानयोगमें अधिकार होताहै इसहेतु हे अर्जुन अभी तुमको भी वासनारूपी मलको धोनेकेलिए निष्काम होकर कर्म ही करनेचाहिए । जो लोग यथाकथंचित् ब्रह्मका नाममात्र जानकर समग्रशास्त्रीयकर्मका त्याग करदेते हैं उन्हें इनश्लोकोंपर भी कृपाकर तनिक ध्यान अवश्य देना चाहिए ॥ ३ ॥

मू०—न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ॥
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

दोहा--करि आरंभहु कर्मको छोडदेत नर जोय ।
कर्म न करतो जो तथा तिनको सिद्धि न होय ॥ ४ ॥

टी०--शास्त्रोक्त जो स्ववर्णाश्रमोचित कर्म हैं उनको न करनेसे भी नैष्कर्म्य = ज्ञाननिष्ठाको पुरुष प्राप्त नहीं होसकता तथा उनकर्मोंको आरंभ करके बीचमेंसे छोडनेसे भी अर्थात् यथाकथंचित् करनेसे भी जीवसिद्धि = ज्ञाननिष्ठाको प्राप्त नहीं हो सकता किंतु कर्मोंको पूर्णरीतिसे निष्काम होकर करनेसे ही ज्ञाननिष्ठा प्राप्त हो सकती है ॥ ४ ॥

मू०—न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

दोहा--कर्मरहित नर एकछिन रहि नहि सकतो कोइ ।
वबसों कर्म करावँ सब गुण प्रकृतीके जोइ ॥ ५ ॥

टी०--कोई भी पुरुष ऐसा नहीं जो एकक्षण भी कर्मरहित होसके किंतु प्रकृतिके गुण जो सत्त्वादि हैं वे जीवको विवशकरके सभी कर्म करातेहैं क्योंकि गुणसंग ही सविस्तर कर्मक्रियामें हेतु है ॥ ५ ॥

...गाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
ज्यायसीति—हे भग०...
होतेहैं तो आप मुझे हिंसारूप होने... **...त्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥**

दोहा०—कर्मेंद्रियँको रोकतो विषयनसों नर जोय ।

मनसों विषयहिं ध्यावतो मिथ्याचार हि सोय ॥ ६ ॥

टी०—जो पुरुष विषयोंसे केवल कर्मेंद्रियोंको रोकताहै अर्थात् विषयका भोगमात्र नहीं करता किं तु मनसे उन इंद्रियोंके विषयोंका ही सदा ध्यान करताहै वह मिथ्याचार=झूठे आचरणवाला पुरुष है । यद्यपि जो पुरुष कर्मेन्द्रियको भी नहीं रोकता उसकी अपेक्षा तो केवल कर्मेंद्रियोंको भी रोकनेवाला बहुत श्रेष्ठहै किंतु वह पुरुष जो संयमिताका पाखंड लगाताहै कि हम तो सदा भगवत्का ध्यान करतेहैं यह कहताहै और विषयोंका ध्यान लगाताहै उसका वह भगवद्ध्यानरूपी आचार मिथ्या होनेसे वह पुरुष मिथ्याचार कहाताहै यह निंदा है ॥ ६ ॥

मू०—यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्याऽऽरभतेऽर्जुन ।

कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

दोहा०—मनसों इंद्रियें रोकके सगहीन नर जोय ।

कामरहित ह्वै कर्मको करतो उत्तम सोय ॥ ७ ॥

टी०—जो पुरुष मनसे इंद्रियोंको रोककर अर्थात् विषयोंसे इन्द्रियोंको तथा मनको रोककर और असंग=निष्काम होकर कर्मेंद्रियोंसे कर्मयोगका अनुष्ठान करताहै वह पुरुष उत्तम है क्यों कि एक तो वह पाखंड नहीं लगाता द्वितीय कर्मसे उसका चित्त शुद्ध होजायगा तब वह ज्ञाननिष्ठाकोभी प्राप्त होजायगा ॥ ७ ॥

मू०—नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

दोहा—कर्म करो तुम, नीक है ज्ञान योगते सोय (कर्म)।

कायहुका निवाहना कर्म छाँडिके होय ॥ ८ ॥

टी०—हे अर्जुन कर्म नियत=अनादिकालसे अभ्यस्तहै क्यों कि अनादिकालसे ही जीवका प्रकृतिके साथ संबंध है और प्रकृतिके गुण तो जीवसे अवश्य कर्म कराते ही हैं इससे वह कर्म नियत हैं इस हेतु तुम अब भी कर्मको छोड़ नहीं सकोगे इसलिए तुम स्ववर्णाश्रमोचित शास्त्रीय कर्मको अवश्य करो । अकर्मणः=ज्ञाननिष्ठाकी अपेक्षा भी कर्मयोग ही श्रेष्ठ है क्यों कि कर्मयोगसे अंतःकरण शुद्ध होताहै अंतःकरणके शुद्ध होनेसे ही ज्ञाननिष्ठा भी दृढ होती है कर्म न करनेसे अंतःकरण मलिन होजायगा तो ज्ञाननिष्ठाभी शिथिल होजायगी । कर्मपरित्यागमें श्रीभगवान् स्वयं सर्वथा अनुपेक्षणीय दोष देतेहैं—शरीरयात्रेति—यदि तुम सर्वथा कर्मका परित्याग करदोगे तो तुमारे शरीरका भी निर्वाह नहीं होगा क्यों कि शरीरधारणकेलिए भोजन करनाचाहिए भोजन तो पंचमहायज्ञों विना निषिद्ध है पंचमहायज्ञोंके लिये तो तुम्हें कर्म करना ही

पड़ेगा यदि तुम पंचमहायज्ञोंके त्यागके लिये भोजनका भी त्याग करोगे तो शरीरका निर्वाह नहीं होगा शरीर विना तो ज्ञाननिष्ठा भी सिद्ध नहीं होसकती इससे तुम अवश्य कर्म करो।

और कर्म जो करना है वह आत्माको नित्य जानकर करना है तथा आत्मा स्वतंत्ररूपसे कर्ता नहीं किं तु भगवदधीन होकर ही कर्त्ता है यह जानकर कर्म करना है तब तो जीवात्मरूपज्ञान भी कर्मयोगके भीतर आगया इसहेतु भी ज्ञाननिष्ठाकी अपेक्षा कर्म योग श्रेष्ठ है ॥ ८ ॥

मू०—यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोयं कर्मबंधनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ ९ ॥

दोहा—परमार्थके हेतु जो कर्म करै विन प्रीति (संग)।
तिन्ह नर बंधन होत ना, कर्म करौ इस रीति ॥ ९ ॥

टी०—यज्ञादिक जो शास्त्रीय कर्म हैं उनसे भिन्न लौकिककार्योंके लिये जो द्रव्यार्जनादि कर्म किआजाताहै वह जीवकेलिए बंधन होताहै और शास्त्रीययागादिकर्मके लिए जो द्रव्यार्जनादिकर्म कियाजाताहै वह = जीवके लिए बंधन नहीं बनता इसलिए तुम यज्ञादिशास्त्रीयकर्मकेलिए द्रव्यार्जनादि तथा युद्धादिकर्मको निष्काम होकर अवश्य करो। इसी भगवत्के वचनको आश्रय लेकर श्रीपरकालाल्वारस्वामी डाका मारकर भी नित्यं प्रति सहस्रवैष्णवोंको भोजनकराते रहे।

यथा किसी राजाने भृत्यको आज्ञा दी कि वृक्षके सिरपरसे उसफलको तोड़कर ला. तो भृत्य वृक्षपर चढनेगया तो यदि वृक्षकी कोई शाखा पत्र टूटते हैं तो उस भृत्यको दंड नहीं मिलता प्रत्युत इनाम ही मिलताहै क्यों कि विना शाखा पत्र टूटे वह फल उतर ही नहीं सकताथा एवं द्रव्यार्जनादिके विना शास्त्रीयकर्म हो ही नहीं सकता इसहेतु वह द्रव्यार्जनादि भी बंधन नहीं बनता किं तु उपकारक ही होताहै ॥ ९ ॥

मू० -सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

दोहा--प्रजा यज्ञ दोउ सर्ग कर इह हरे बोले बात।
करो वृद्धि निज यज्ञसों यज्ञ तुमारी मात ॥ १० ॥

टी०--कल्पके आदिमें भगवान् श्रीनारायणने यज्ञको और प्रजाको उत्पन्न (प्रकट) करके कहा कि हे प्रजा इस यज्ञसे तुम अपनी वृद्धिको सिद्ध करो यह यज्ञ तुमारेलिए इष्टसाधिका कामधेनु ही है अर्थात् तुम यज्ञ करो यज्ञसे तुमारे सभ मनोरथ पूर्ण होंगे। यहांपर प्रजापतिशब्द चतुर्मुखब्रह्माका वाचक नहीं कि

तु " यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इस श्रुतिके प्रमाणसे परब्रह्म श्रीनारायणका ही वाचक है ॥ १० ॥

मू०-देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

दोहा-देवन पूजो यज्ञसों तुमको देव बढायँ ।
दोउ परस्पर हितकरो दोउ मोक्षको पाँय ॥ ११ ॥

टी०-श्रीनारायणने प्रजाको और यह कहा कि हे लोगो तुम इस यज्ञसे देवोंका आराधन करो और देवतालोग भी तुम्हारी वृद्धि करें इसरीतिसे परस्परोपकारसे तुम दोनों=देवता और तुम (प्रजा) मोक्षको प्राप्त होगे ॥ यद्यपि कर्मसे मोक्ष नहीं होता किंतु कर्मसे अंतःकरण शुद्ध होगा तो ज्ञान होगा तब भक्ति होकर मोक्ष होताहै तथापि परंपरया कर्म भी मोक्षका साधन है ही । और इंद्रादि देवताओंको भगवत्का रूपांतर समझकर यज्ञादिसे उनका पूजन करना दोष नहीं किं वा इंद्रादिदेवताओंके अंतर्यामी श्रीनारायणको ही उद्देश्य करके यज्ञादिकरनेसे अनन्यतामें भी दोष नहीं लगता ॥ ११ ॥

मू०-इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

दोहा-यज्ञोंसे अर्चित सुर काम पूरिहैं तोर ।
देव दिएसों देवको ना पूजे सो चोर ॥ १२ ॥

टी०-श्रीनारायणने प्रजाको और यह कहा कि जब तुम यज्ञसे देवताओंका आराधन करोगे तो देवतालोग भी तुमको अभिलषितपदार्थ देंगे उनपदार्थोंसे भी फिर तुमें यज्ञादिद्वारा देवताओंका आराधन करना ही चाहिए क्यों कि देवताओंके दिए पदार्थको जो पुरुष यज्ञादिद्वारा देवताओंको निवेदन किएविना स्वयं ही भोग करताहै वह चोर ही है क्यों कि देवताओंने जो तुम्हे पदार्थ दिआहै वा देंगे वह सब उनने यज्ञादिद्वारा अपने ही आराधनकेलिए दियाहै फिर जो उसपदार्थसे देवताराधन नहीं करता वह अवश्य ही चोर कहाएगा ॥ १२ ॥

मू०-यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यंते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

दोहा-यज्ञशेष भोजन करें पापहुँ तिन मिटजायँ ।
महापाप जन सोय जे अपने हेत पकायँ ॥ १३ ॥

टी०-यज्ञशेष अन्नका भोजन करनेवाले सत्पुरुष समग्रपापोंसे छूटजातेहैं और जो लोग यज्ञ नहीं करते किं तु अपने ही लिए पकाकर आपही खाजातेहैं वे लोग तो

अन्न नहीं खाते किंतु पापको ही खातेहैं अर्थात् वे बडे पापी हैं। यथा राजाके ही दिए पदार्थको भृत्यलोग राजाको यदि नैवेद् नहीं करते तौ उनपर राजा अप्रसन्न होताहै एवं देवताओंकेदिए पदार्थको अवश्य ही देवताओंके निवेदन करना चाहिए ॥

जो हिंदुलोग कहतेहैं कि साधुलोग ठाकुरजीका वहाना करके स्वयं ही सव रसोईको चवा जातेहैं नाहक ठाकुरके आगे रखतेहैं ठाकुर तो खाता नहीं इसलिये साधु वैष्णव पाखंडी हैं, उन्हें इस भगवद्वचनपर ध्यान देना चाहिये । साधुलोग पाखंड नहीं करते क्यों कि देवताके उद्देश्यसे पकाकर देवताके समर्पण करके फिर स्वयं भी भोजन करना यह वात उक्त इत्यादि प्रमाणोंसे सिद्ध है । जो साधु कहतेहैं कि हमारे रामजीकी आज लड्डूखानेकी इच्छा है यह भी पाखंड नहीं क्यों कि जीव जो काम करताहै वह रामजी जो अंतर्यामी है उसीकी प्रेरणोंसे करताहै इसलिए वह लड्डूखानेकी इच्छा अवश्य श्रीरामजीकी ही है । यद्यपि पापमें भी जीवकी प्रवृत्ति अंतर्यामी प्रेरणा विना नहीं होती तथापि पापकर्मके करनेसे जीवको अवश्य नरक होता ही है । यथा कोई राजा किसीको नष्ट करनेके लिए प्रथम उसे किसीके घातमें प्रवृत्त करदेताहै फिर उस घात करनेवालेको दंड भी देताहै यदि वह घातक पुरुष राजासे कहे कि मैंने तो आपकी आज्ञासे ही घात किआहै तो राजा कुछ नहीं सुनता न क्षमा ही करताहै एवं भगवान् प्रेरणा भी करतेहैं फिर पापकरनेवालेको दंड भी देतेहैं । और भगवत्की प्रेरणासे जीव वाहिर भी नहीं रह सकता परंतु इस प्रेरणामें भी जीवके पुण्य पाप ही हेतु हैं सो पुण्य वान्को भगवान् पुण्यकी ही प्रेरणा करतेहैं पापी पापकी प्रेरणा करते हैं ॥ १३ ॥

मू०-अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

दोहा-प्रजा अन्नसो अन्न हो वर्षासो सुनि सोय ।
वर्षा हो पुनि यज्ञसो, यज्ञ कर्मसों होय ॥ १४ ॥

टी०-अन्नके विना प्रजा रह नहीं सकती, और अन्न तो वर्षासे ही होताहै, वर्षाभी यज्ञसे होतीहै, और यज्ञ तो द्रव्यार्जनादिरूप कर्मसे होताहै इसहेतु यज्ञके लिए द्रव्यार्जनादि अवश्य करने चाहिए सो तुमें भी युद्ध करना चाहिए अन्यथा यज्ञ-विना वर्षा न होगी तव अन्न विना प्रजा भी कैसे वचेगी ? अर्थात् शरीरधारण भी कैसे होगा ? ॥ १४ ॥

मू०-कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

दोहा—जीव अधिष्ठित कायसों कर्म बनैहै तात । (यह आभिप्राय मात्र है)
यज्ञमूल तिसि कायकों सज्जन यज्ञ लगात ॥ १५ ॥

टी०—ब्रह्मशब्द प्रकृतिका भी वाचक है सो यहां प्रकृतिका परिणामरूप शरीर ही ब्रह्मशब्दका अर्थ है । अक्षरशब्द जीवात्माका वाचक है । अर्थ—यज्ञादिक कर्म ब्रह्म=शरीरसे होसकते हैं वह ब्रह्म=शरीर भी अक्षरसमुद्भव है अर्थात् जीवाधिष्ठित (जीता-हुआ) ही शरीर भी कर्म करसकताहै तस्मात्=इसहेतु वहब्रह्म =शरीर, सर्वगत है अर्थात् अधिकारिमात्रके साथ संवद्ध है=कार्यमात्रमें शरीरसाधन है विना शरीरके कुछ नहीं बनसकता । और वह शरीर यज्ञमूल है अर्थात् शरीरका यज्ञके साथ संबंध है इसहेतु शरीरसे यज्ञादिकर्म अवश्य करने ही चाहिए ।

इन दोश्लोकोंसे भगवान्‌ने, भूत-अन्न-पर्जन्य-यज्ञ-कर्म-भूत इनका चक्र कहाहै, अर्थात् भूत=जीवाधिष्ठितशरीरसे कर्म=द्रव्यार्जनादि होताहै, कर्मसे यज्ञ होताहै यज्ञसे पर्जन्य=वर्षा होती है, पर्जन्यसे अन्न होता है अन्नसे भूत=जीवाधिष्ठित शरीर होताहै=रह सकताहै । फिर भूतसे कर्म कर्मसे यज्ञ इत्यादि । सो " नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्" इस वाक्यका यही अर्थ है कि शरीर ही यज्ञका मूल है ॥

मधुसूदनजीने यहांपर ब्रह्मशब्दका वेद और अक्षर शब्दका परब्रह्म अर्थ किआहै यद्यपि यह अर्थ असंग नहीं तथापि भगवान्‌का ऐसा अभिप्राय प्रतीत नहीं होता क्यों कि उत्तर श्लोकमें वक्ष्यमाण इस चक्रमें वेद और परमात्माका समावेश संगत नहीं अन्यथा वेद और ब्रह्मको अनित्यता प्राप्त होगी ॥ १५ ॥

मू०—एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

दोहा—भूत अन्न पर्जन्य अरु यज्ञ कर्म पुनि भूत ।
इह न निवाहै चक्र सो जीवत व्यर्थ कुपूत ॥ १६ ॥

टी०—भूत—अन्न—पर्जन्य (वर्षा)—यज्ञ—कर्म—भूत—यह एक चक्र है जो पुरुष इस चक्रका अनुवर्तन नहीं करता, अर्थात् भूत (जीवितदेह) से कर्म=द्रव्यार्जनादि नहीं करता, कर्म=द्रव्यार्जनादि करके यज्ञ नहीं करता वह पुरुष पापजीवी है विषयीमात्र है और उसका जीवन व्यर्थ है ॥ यज्ञसे वर्षा होगीही वर्षासे अन्न होगा ही अन्नसे शरीररक्षा भी होगी ही इस हेतु मैंने ' यज्ञ नहीं करता' यहां ही तक ऊपर चक्र कहाहै ॥१६॥

मू०—यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

दोहा--आत्मासो नर तृप्त जो आत्मामें अरु प्रीति ।
आत्मामें संतोष, तिस नहीं कर्मसों भीति ॥ १७ ॥

टी०--जो पुरुष जन्मांतरकृतपुण्यसंचयसे जन्मसे स्वयं ही आत्मरति=जिसे आत्मामें ही प्रीति आभिमुख्यहै सांसारिकविषयोंमें प्रीति नहीं आत्माकरके ही तृप्त हो अन्नपानादिकनसे जिसकी तृप्ति न हो, और आत्माकरके ही संतुष्ट हो स्रक्चंदनादिबाह्यविषयोंसे संतुष्ट न हो ऐसे आत्माराम पुरुषकेलिए किसी भी कर्मका नियम नहीं कि अवश्य करो क्यों कि कर्मोंसे अंतःकरण शुद्धहोकर ज्ञाननिष्ठासे आत्मसाक्षात्कार प्राप्त होनाहै उक्त आत्माराम पुरुषको तो स्वयं ही आत्मसाक्षात्कार सिद्ध होगयाहै इसलिए उसकेलिए कर्मका नियम नहीं ।

ऐसे पुरुषकी अलभ्यताकेलिए भगवान् 'यस्तु' ऐसा कहते हैं और आज कल्ह तो यह आत्मारामावस्था छद्मके गेरूमें बनजातीहै घरघर आत्माराम रमण करते फिरतेहैं अहो कैसा घोर कलिकाल प्राप्त हुआहै ॥ १७ ॥

मू०--नैव तस्य कृतेनार्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

दोहा--आत्माराम जो जन्मसो तिन न कर्मसों स्वार्थ ।
नहीं अपेक्षा कोइकी ग्राह्य न कछुहु पदार्थ ॥ १८ ॥

टी०--जो पुरुष उक्तरीतिका आत्माराम है उसे कर्मकरनेसे भी कुछ प्रयोजन नहीं और उसे कर्म न करनेका पाप भी लगता नहीं और उस आत्मव्यतिरिक्त सकल सांसारिक विषयोंसे विमुख आत्मारामको किसी भी विषय (पदार्थ) की अपेक्षा नहीं होती, और वह किसी भी विषयका आश्रय किं वा संग्रह भी नहीं करता किं वा उस आत्मारामको कोई भी पदार्थ साधनतया उपादेय नहीं होता क्योंकि साधनत्वेन-उपादान तो असिद्ध ही करताहै उक्तरूप आत्माराम तो सिद्ध होचुकाहै ॥ किं तु ऐसी अवस्था प्राप्तहुए विना जो लोग कर्मका परित्याग करदेतेहैं वे दोनोंओरसे भ्रष्ट होकर दिनोंदिन अधोगतिको ही प्राप्त होते हैं सुनते हैं कि काशीके पूर्णाश्रमस्वामीने सोलहवर्षअपने चित्तकी परीक्षामें लगादिए जब सोलहवर्षपर्यंत चित्त डगमगाया नहीं तब संन्यासग्रहण किआ । ऐसाही चाहिए परिपक्वमति पुरुषोंका यही मार्ग है । चित्तके आवेगमें आकर किसी भी कार्यको तुरत करडालना यह धीर पुरुषका काम नहीं किं तु अधीर बालकोंका ही काम है ॥ १८ ॥

मू०--तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

दोहा–करौ निरंतर कर्म तुम संग छाडिके तात।
संगहीन नर कर्मकर परमधामको जात ॥ १९ ॥

टी०–तस्मात्=उक्त हेतुसे स्वतःसिद्ध जिसको आत्मसाक्षात्कार है उसीको कर्मका नियम नहीं, और ज्ञानयोगकी अपेक्षा भी पूर्वोक्तरीतिसे कर्मयोग श्रेष्ठहै, और कर्मके विना देहयात्रा भी नहीं चलसकती इनहेतुओंसे हे पार्थ तुम कर्तव्यकर्मको निःसंग=निष्काम होकर निरंतरकरतेरहो। असंग होकर कर्मकरनेवाला जीव मोक्षको प्राप्त होताहै ॥ १९ ॥

मू०–कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

दोहा–ज्ञानी जन जनकादि हू कर्महि सो सिधि पाइ।
जगमर्याद रक्षाहित कर्म करौ तुम भाइ ॥ २० ॥

टी०–ज्ञानीजनोंमें प्रधानभूत जनकादिक भी कर्मसे ही सिद्धिको=ज्ञाननिष्ठा तथा आत्मसाक्षात्कारको प्राप्त हुएहैं इसहेतु कर्मयोग बहुत श्रेष्ठ है और लोकमर्यादाकी रक्षाकेलिए भी तुमे अवश्य कर्म करना ही चाहिए क्यों कि यदि तुम कर्मको त्याग दोगे तो तुमको देख और भी लोग कर्मको त्याग देंगे, कर्मत्यागसे नष्ट भी होंगे इसहेतु तुमे अवश्य कर्मकरना ही चाहिए ॥ २० ॥

मू०–यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥ २१ ॥

दोहा–करै कर्म जो श्रेष्ठजन लोकहु करतो सोय।
जिसविध करतो श्रेष्ठ तिस विध करतो सम कोय ॥ २१ ॥

टी०–श्रेष्ठ=प्रधानपुरुष जैसा करताहै वैसा ही अप्रधान पुरुष भी करते हैं और श्रेष्ठ पुरुष जिस कर्मको जिन अंगोंसे युक्तको करताहै अर्थात् जिस प्रकार करताहै उसीप्रकार उसकर्मको और लोग भी करते हैं। हे अर्जुन तू श्रेष्ठ पुरुष है यदि तू कर्म करेगा तो और लोग भी करेंगे यदि तू कर्म नहीं करेगा तो तुझे देख और लोग भी कर्मको छोडदेंगे तो वह पाप भी तुमको लगेगा। इस हेतु ज्ञाननिष्ठाको प्राप्तहुआ भी श्रेष्ठपुरुष अवश्य ही कर्म करे अन्यथा उसको देख मूढलोग कर्माधिकारी भी कर्मको छोडदेंगे तो बडा अनर्थ होगा ॥ २१ ॥

मू०–न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

दोहा–मोहे कछु कर्त्तव्य ना, नहिं कछुहू अप्राप्त ।
तौउ निरंतर कर्म हौं करौं लोकहित आप्त ॥ २२ ॥

टी०--हे पार्थ वस्तुगत्या कर्म जो किया जाताहै वह किसी न किसी अप्राप्त पदार्थकी प्राप्तिकेलिए कियाजाताहै यथा अंततः मनकी निर्मलता प्राप्त नहीं उसकी प्राप्तिके ही लिए ज्ञानीलोग कर्म करतेहैं सो तीनों लोकमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो मुझे प्राप्त नहो इसहेतु मुझे कोईएक भी कर्म कर्तव्य नहीं तथापि मैं निरंतर कर्म करताहूं क्यों कि मैं आप्त = श्रेष्ठ हूं मैंने सर्व श्रेष्ठ क्षत्रिय शिरोरत्न वसुदेवके घर जन्म लिआहै यदि मैं कर्म न करूं तो मुझे देख और भी अपक्वलोग कर्मको छोडदेंगे इस हेतु तुमें भी अवश्य कर्म करना ही चाहिए ॥ २२ ॥

मू०–यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यऽतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

दोहा–हौं न करौं यदि कर्म मम पाछे लगे अनेक ।
मोय देख सब छोड दें कर्ममार्ग की टेक ॥ २३ ॥

टी०--पूर्वोक्त अभिप्रायको स्पष्ट कहतेहैं--यदीति, हे पार्थ सब लोग मेरे पीछे लगेहैं जैसे मैं करताहूं सब वैसे करतेहैं सो यदि मैं निरंतर कर्म न करूं तो मुझे देख और भी अपक्वलोग कर्मको छोडदें तब तो बडा अनर्थ होजाय इस हेतु कर्म करना ही चाहिए ॥ २३ ॥

मू०–उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

दोहा--नष्ट होयँ सब लोग हौं कर्म करौं यदि नायँ ।
शिष्टाशिष्ट विभाग औ प्रजा नष्ट होजायँ ॥ २४ ॥

टी०–यदि मैं कर्म न करूं तो मुझे देख ये सब लोक कर्मको त्यागदें और कर्म त्यागसे नष्ट भी होजायँ कर्म त्यागनेसे लोक विनाशका कर्ता मैं ही कहाऊं और संकर=शिष्टाशिष्टविभागका नाशक भी मैं ही कहाऊं अर्थात् मेरे कर्म करनेसे जो मुझे देख कर्म करतेहैं वे अवशिष्ट कहातेहैं जो नहीं करते वे अशिष्ट (असज्जन) कहाते हैं यह शिष्टाशिष्ट विभाग बनाहै यदि मैं कर्म न करूं तो मुझे देख सभी लोग कर्म छोड देंगे तो कौन शिष्ट है कौन अशिष्ट है यह विभाग प्रतीत नहीं होगा किं तु नष्ट ही होजाएगा इस हेतु मैं कर्म करताहूं इसी हेतु तुमें भी कर्म करना चाहिए ।

यहांपर मधुसूदनसरस्वतीने संकरशब्दका वर्णसंकर अर्थ किआहै सो ठीक नहीं क्यों कि वर्णसंकरता पुरुषोंके कर्मके अधीन नहीं किं तु स्त्रीके पातिव्रत्यके अधीन है और पुरुषके कर्म त्यागदेनेपर भी स्त्री पातिव्रता रहकर वर्णसं-

करताको नहीं होनेदेगी इस हेतु यहां संकरशब्दका शिष्टाशिष्टविभाग संकर ही अर्थ ठीक है क्यों कि शिष्टाशिष्टविभाग तो कर्मके ही अधीन है ॥ २४ ॥

मू०—सक्ताः कर्मण्यऽविद्वांसो यथा कुर्वंति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

दोहा—जन अज्ञानी सक्त हो करतो कर्म यथा हि ।
संग छांडि ज्ञानी करौ जनहित कर्म तथा हि ॥ २५ ॥

टी०—हे भारत=अर्जुन अज्ञानी लोग यथा सक्त=सकाम होकर कर्म करते हैं ज्ञानीको भी संग छोडकर वैसे ही कर्म करना चाहिये लोकसंग्रह=लोक मर्यादा रक्षाकेलिए । कर्ममें ज्ञानी और अज्ञानीका यही भेद है कि ज्ञानीलोग निष्काम होकर भगवदाज्ञा समझकर कर्म करते हैं और अज्ञानीलोग अपने मनोरथकी सिद्धिकेलिए कर्म करतेहैं । निष्काम कर्मसे अंतःकरण शुद्ध होताहै ॥ २५ ॥

मू०—न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

दोहा—कर्मसक्त अज्ञानिमति भेदहु जिन उपजाय ।
करहु कर्म बुध कर्मते सुख प्रीति बढाय ॥ २६ ॥

टी०—ज्ञानीपुरुष कर्ममें सक्त अज्ञानी पुरुषकी बुद्धिमें भेद (विगाड) न करके अर्थात् कर्मसंगिओंको यों न कहे कि 'आत्मदर्शनका कर्मकाण्ड उपाय नहीं किं तु कर्मयोगसे भिन्न ही ज्ञानयोग आत्मसाक्षात्कारका मार्ग है उससे ही आत्मसाक्षात्कार होता है' इति । किं तु ज्ञानीपुरुष निष्काम होकर स्वयं कर्म करताहुआ कर्ममें अज्ञानीकी प्रीति (रुचि) को बढाए क्यों कि कर्म करनेसे अज्ञानी भी कभी ज्ञानी बनजाएगा । अज्ञानीसे कर्मत्याग करनेसे तो वह सर्वथा नष्ट भ्रष्ट ही होजाएगा ॥ २६ ॥

मू०—प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

दोहा—प्रकृतीके सत्त्वादिगुण कर्म करैं सब जोय ।
अपनको कर्ता कहै मूढबुद्धि नर होय ॥ २७ ॥

टी०—प्रकृतीके जो सत्त्व रज तम तीन गुण हैं उनीके संबंधसे जीव कर्मकरताहै इसहेतु प्रकृतिके गुणोंको ही यहां कर्ता कहाहै और जीवको कर्तृत्वाभिमान नहीं करना चाहिए इसलिए जीवमें कर्तृत्वका निषेध करतेहैं कुछ सर्वथा जीवमें कर्तृत्वका निषेध नहीं यह द्वितीयाध्यायके १९ के श्लोकपर सिद्ध करचुकेहैं ।

अर्थ—प्रकृतिके गुण ही सभ कर्मोंको करतेहैं अहंकारी पुरुष यह मान बैठताहै कि मैं ही कर्ता हूं। ज्ञानीपुरुष तो अपनेको स्वतंत्रकर्ता नहीं मानता किं तु गुणसंग तथा भगवदिच्छाके अधीन अपनी कर्तृताको मानता है। कर्तृताका अभिमान करना अच्छा नहीं ॥ २७ ॥

मू०—तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्त्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

दोहा—गुण अरु कर्म विभागको जो जानैं नर सोय ।
कर्म करैं गुण—जान इह गर्व करैं ना कोय ॥ २८ ॥

टी०—हे महाबाहो=वीर गुण तो सत्त्व रज तम हैं, सत्त्व प्रकाशक है, रज प्रेरक है, तम आच्छादक है, इत्यादि गुणस्वरूपको, तथा कर्म=क्रिया स्वरूप हैं गुणोंके संगसे होतेहैं अतएव कर्म गुणोंके कार्य हैं। इस गुण और कर्मके विभागको जाननेवाला ज्ञानीपुरुष तो "गुणा गुणेषु (स्वकार्येषु कर्मसु) प्रवर्त्तन्ते" सत्त्वादिगुण गुणोंमें नाम कर्मोंमें प्रवृत्त होतेहैं अर्थात् गुण ही सभ कर्म=कार्योंको=क्रियाओंको करतेहैं यह जानकर अपनेमें कर्तृत्वाभिमान नहीं करता और अज्ञानी पुरुष तो उक्त गुणकर्मविभागको नहीं जानता इसहेतु केवल अपनेको ही कर्ता मान बैठताहै, यह उचित नहीं ॥ २८ ॥

मू०—प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानऽकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

दोहा—आत्मज्ञानहुके लिए लगें कर्ममें मूढ ।
तिन जिन रोके कर्मसों ज्ञानभूमिकारूढ ॥ २९ ॥

टी०—प्रकृतिके सत्त्वादिगुणोंसे मूढ मलिनबुद्धिवाले संसारीजीव आत्मसाक्षात्कारकेलिए भी कर्मकांडमें ही प्रवृत्त होतेहैं वे जानते हैं कि आत्मसाक्षात्कार भी कर्मसे ही होगा ऐसे पुरुषोंको ज्ञानीमहानुभाव कर्ममार्गसे विचलित न करे=रोके मत। प्रत्युत ज्ञानीपुरुष स्वयं भी कर्मको करता रहे जो ज्ञानीको देख अज्ञानीलोग भी कर्ममें प्रवृत्त रहें कर्मको न छोडें। अन्यथा ज्ञानीको कर्ममार्ग छोडते देख अज्ञानी भी यदि कर्ममार्गको छोडदेंगे तो नष्ट ही होजाएंगे। और ज्ञानीपुरुष स्वयं भी अपनेमें कर्तृत्वाभिमान न करे किं तु गुणोंको ही कर्ता जानै ऐसे जान कर्म करनेसे वह कर्म ज्ञानीकेलिए बंधन भी नहीं होगा, लोकमर्यादा भी चलेगी ॥ २९ ॥

मू०—मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

दोहा—ज्ञानयुक्त मनसों मुझे कर्माणि कर्त्ता जान।
ममताऽहता कामना त्याग इन्है रण ठान॥ ३०॥

टी०—यथा गुणसंगके विना जीव कुछ नहीं करसकता इसलिए गुणोंको कर्ता जाने यह कहा एवं भगवत्प्रेरणाके विना भी जीव किसी भी कार्यको नहीं करसकता प्रत्युत गुणसंग भी भगवदिच्छाके अधीन है इसहेतु प्रधानतः भगवान् अंतर्यामी ही कर्मोंका कर्ता है सो जीव अपनेमें कर्तृत्वाभिमान न करे किंतु श्रीनारायणको ही कर्ता माने यह वार्ता तत्त्वभूत कहतेहैं—मयीति, हे अर्जुन तू अध्यात्मचेतसा=आत्मामें जो चित्त लगाहै वह अध्यात्मचित्त कहाताहै उस अध्यात्मचित्तकरके अर्थात् आत्मस्वरूपज्ञानयुक्त चित्तसे सभकर्मोंको मेरेमें संन्यस्य=समर्पण करके अर्थात् सभकर्मोंका मुझ सकलजगदीश्वर अंतर्यामीको कर्ता समझकर अपना कर्तृत्वाभिमान छोडकर निराशीः=निष्काम होकर. निर्ममः=क्रियमाण कर्मोंकी ममता=कर्मकर्तृताभिमानको छोडकर विगतज्वरः=अनादिकालप्रवृत्त जो अनंतपापसंचय है उससे उत्पन्नहुई जो चिंताहै कि 'कैसे होगा मेरी न जाने क्या दशा होगी' इत्यादि उसे छोडकर युद्धकर=कर्मयोगमें निःशंकप्रवृत्त हो इसरीतिसे कर्मयोग करनेसे मैं सर्वेश्वर कृपैकसिंधु तेरा भला ही करूंगा परमधाममें बुलालऊंगा।

"अंतःप्रविष्टः शास्ता जनानाम्" "अन्तःप्रविष्टं कर्तारमेतम्" "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः" "तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्" "नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः" इत्यादिश्रुतिओंसे, तथा—"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया" इत्यादिस्मृतिओंसे उक्त अर्थ सिद्ध होते हैं कि श्रीनारायण ही सकलेश्वर है वही अंतर्यामी है वही कर्मकेलिए जीवको प्रेरणा करता है इसहेतु उसे ही कर्मका कर्ता जानना चाहिए। आजकल्ह भी कुछलोगोंका ऐसा ज्ञान है किंतु वे पापमात्रका कर्ता तो अंतर्यामी श्रीनारायणको ही कहते हैं और पुण्यका कर्ता तो अपनेको ही समझते हैं प्रत्युत पुण्यकर्तृताके विद्यमान अभिमानको मूछोंपर ताव देकर खूब जताते भी हैं। ऐसा उचित नहीं पुण्यकर्मका कर्ता भी अंतर्यामीको ही जानना चाहिए। कहा भी है—"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः। केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि" इति॥ ३०॥

मू०—ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेपि कर्मभिः॥ ३१॥

दोहा—उक्तरीतिको मोहि जो कर्ता जानिहैं जीव ।
श्रद्धायुत अनसूय तिन कटिहै पाप अतीव ॥ ३१ ॥

टी०—जो पुरुष मेरे उक्तमार्गका अनुष्ठान करतेहैं अर्थात् स्वकर्तृत्वाभिमानको छोडकर मुझे ही कर्मोंका निश्चयकर जानते हैं वे पुरुष सर्वपापोंसे मुक्त होजाते हैं अर्थात् उनको पाप लगते नहीं। और जो पुरुष ऐसा अनुष्ठान तो नहीं करसकते किंतु उक्तमार्गमें श्रद्धा रखतेहैं और जो इसमार्गकी निंदा नहीं करते वे भी कुछकालमें उक्तमार्गके अनुष्ठानके समर्थ होजायँगे और समर्थ होकर अनुष्ठानकर सभ पापोंसे मुक्त होजातेहैं ॥ ३१ ॥

मू०—ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

दोहा—उक्तरीतिविरुद्ध जो आपनि कर्ता होय ।
ज्ञानहीन सो नष्ट हो मोमत चलै न जोय ॥ ३२ ॥

टी०—जो लोग मेरे उक्तमार्गका अनुष्ठान नहीं करते और उक्तमार्गमें श्रद्धा नहीं रखते निंदा करतेहैं अपनेको ही प्रधानकर्ता मानबैठे हैं वे सर्वात्मना ज्ञानहीन हैं और नष्टप्राय हैं अर्थात् वे मरते ही नरकमें ही जायँगे। वैष्णवधर्मनिंदकोंको इसपर ध्यान देना चाहिए ॥ ३२ ॥

मू०—सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

दोहा—ज्ञानी हू निजवासना अनुगुण विषय मनाय ।
जीव वासना अनुसरैं, ज्ञान करै तिन काय ॥ ३३ ॥

टी०—जीव जो कर्म करता है उसमें गुणसंग ही हेतु है गुणसंगकृत भी जीवकी कर्तृता परमात्माके अधीनहै इस हेतु प्रधानकरके परमात्मा ही कर्ता कारयिता है इत्याद्यनुसंधानपूर्वक किआहुआ कर्मयोग ज्ञानयोगसे भी श्रेष्ठ है इत्यादिक विषय प्रतिपादन करके अब भगवान् ज्ञानयोगकी कठिनाईको प्रतिपादन करतेहैं = सदृशमिति ।

आत्मस्वरूपको जाननेवाला ज्ञानयोगका अनुष्ठान करनेवाला ज्ञानी भी अपनी अनादिवासनाके तुल्य ही चेष्टा करताहै अर्थात् प्राकृतविषयोंमें फँस जाताहै, क्यों कि भूत = अचित्पदार्थ जो शरीरादि हैं उनके साथ संबंध रखनेवाले जीव अपनी वासनाके ही अनुकूल काम किआ करतेहैं उनका निग्रह = शास्त्रजन्यज्ञानरूप दंड क्या कर सकताहै ? ॥ ३३ ॥

मू०-इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

दोहा-इन्द्रियविषयोंके विषे द्वेष राग जो तात ।
ज्ञानी तिनवश ना पडै, करै ज्ञानको घात ॥ ३४ ॥

टी०-नेत्र रसना घ्राण श्रवण त्वचा ये पांच ज्ञानेंद्रियें हैं, वाक् पाणि पाद गुदा उपस्थ ये पांच कर्मेंद्रियें हैं, ज्ञानेंद्रियोंके रूप रस गंध शब्द स्पर्श ये विषय हैं और कर्मेंद्रियोंके वचन आदानादि विषय हैं इन प्रत्येक विषयोंमें राग द्वेष व्यवस्थित हैं अर्थात् जो विषय अनुकूल हैं उनमें राग उत्पन्न होताहै और जो विषय प्रतिकूल हैं उनमें द्वेष उत्पन्न होताहै । ज्ञानीको इन राग द्वेषोंके वश नहीं होनाचाहिए क्यों कि रागद्वेषसे ज्ञान नष्ट होजाताहै इससे रागद्वेष ज्ञानीके शत्रुरूप हैं । यथा मृगमें रागके कारण महाराज जडभरतको जन्मांतर प्राप्त हुआ । एवं द्वेषसे हिंसा करेगा हिंसारूपी पापसे मन मलिन होगा फिर ज्ञान कहां ॥ ३४ ॥

मू०-श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

दोहा-सांगयोगसों बुद्धिके विगुण हु कर्म प्रधान ।
कर्म हि करते मरण हू भलौ ज्ञानते मान ॥ ३५ ॥

टी०-अच्छीतरह सकल अंगोंसे सहित अनुष्ठित जो परधर्म=ज्ञानयोग है उसकी अपेक्षा विगुण भी=कुछ अंगोंसे हीन भी स्वधर्म=कर्मयोग श्रेष्ठ है क्यों कि ज्ञानयोगमें प्रमादकी संभावना है कर्मयोगमें प्रमादकी संभावना नहीं कर्मयोगसे चित्त निर्मल होकर आप ही ज्ञान सिद्ध होताजायगा इत्यादि श्रेष्ठताहेतु पूर्व कहचुके हैं । स्वधर्म=कर्मयोगमें मरण भी श्रेष्ठ है अर्थात् युद्धादिक वर्णोचित कर्म करता हुआ यदि नर मर भी जाय तो भी श्रेष्ठ है क्यों कि उसे भी स्वर्ग प्राप्त होताहै । और परधर्म जो ज्ञानयोग है वह बडा क्रूर है अर्थात् उसमें तनिक भी त्रुटि होनेसे बडी हानि होती है ॥ किं वा यहांपर स्वधर्मसे स्वधर्ममात्र जानना परधर्म पदसे परधर्ममात्र जानना कर्मयोग और ज्ञानयोग यह विशेष ही अर्थ चाहे जानना दोनों अर्थ हो सकते हैं किं तु यहां प्रकरण कर्मयोग और ज्ञानयोगका ही होनेसे पूर्वोक्तार्थ ही ठीक है ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच-

मू०-अथ केन प्रयुक्तोयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

दोहा- ज्ञानयोगयुत पापको करनो चाहत नाहँ ।
तऊ पाप करतो विवश प्रेरक को तिस माहँ ॥ ३६ ॥

टी०-हे वृष्णिकुलावतंस भगवन् ज्ञानीपुरुष पाप करनेको चाहता नहीं तो भी किसीकी वलवती प्रेरणासे जो वह पाप कर भी डालताहै उसमें कौन प्रेरक है । पापशब्द हिंसादि तथा विषयानुभवपरक है ॥ ३६ ॥

श्रीभगवान् उवाच--

मू०-काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

दोहा-काम रजोगुणसे भयो, विषय विघ्नते जान ।
क्रोधरूप हो, पापमें प्रेरत वैरिसमान ॥ ३७ ॥

टी०-सत्त्वगुणसे ज्ञान होताहै, तमोगुणसे मोह उत्पन्न होताहै, और रजोगुणसे काम=विषयभोगेच्छा उत्पन्न होतीहै क्यों कि रजो गुण प्रेरक है सो जीवके विषय भोगके लिए प्रेरणा करताहै वह महाशन=बहुतखानेवाला है अर्थात् विषयभोगसे उसकामकी तृप्ति नहीं होती किं तु बढता ही जाताहै कहा भी है-"न जातु कामः कामाना मुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते " इति । अतएव यह काम-महापाप्मा=महा पापस्वरूप है और यह काम ज्ञानयोगका वैरी है । अभिलषित विषयकी प्राप्तिमें जव कुछ विघ्न पडताहै तो वही काम क्रोधरूपसे परिणत होजाताहै=क्रोध बनजाताहै । क्रोधबनकर अभिलषित विषयकी प्राप्तिका जो प्रतिबंधक है उसके उच्छेदादिरूप पापमें जीवको प्रवृत्त करताहै सो काम ही क्रोधरूप होकर पापमें लगाताहै ॥ ३७ ॥

मू०-धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

दोहा-दर्पणपर मल, गर्भपै उल्व, अग्निपर धूम ।
छाय रह्यो तिसविध सखे काम जीवपै सूम ॥ ३८ ॥

टी०-यथा धूम अग्निको ढक लेताहै मल दर्पणको ढक लेताहै प्रतिबिंबग्रहणासमर्थ मलिन करदेताहै उल्व=गर्भाशयका सूक्ष्म मांसजाल गर्भको ढकलेताहै चारों ओरसे लिपट जाताहै तथा हि यह जीव इस कामसे ढँकाहै अर्थात् जीवमात्रपर काम छारहाहै । यहां यह भी भगवान्का अभिप्राय है कि यथा दर्पणादिके ऊपरसे मलादिक निवृत्त होसकते हैं तथा यत्नसे यह काम भी निवृत्त होसकताहै ॥ ३८ ॥

मू०–आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

दोहा–नित्यवैरि दुष्पूर अरु पर्याप्ती जस नाहिं ।
ढप्यौ रहै तिस कामसों ज्ञानी ज्ञान सदाहि ॥ ३९ ॥

टी०–वह काम ज्ञानीका नित्यवैरि है सदा बिगाड करनेवाला है, दुष्पूर है नाम जो पदार्थ प्राप्त नहीं होसकते किं वा धर्मविरुद्ध हों उन्हींमें वह काम उत्पन्न होताहै और वह अनल है नाम पर्याप्तिरहित है अर्थात् इतना विषय भोगकर काम निवृत्त होगा यह नियम नहीं किं तु काम दिनोंदिन बढता ही जाताहै कहा भी है " विषयाभ्यासो हि कौशलमुत्पादयतीन्द्रियाणाम् " इति । उस शत्रुभूत कामसे ज्ञानीका ज्ञान आवृत (ढका) है इसीहेतु ज्ञानी भी पापमें प्रवृत्त होजाताहै उस कामरूपीआवरणका कर्मयोगसे ही नाश होसकताहै ॥ ३९ ॥

मू०–इंद्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

दोहा–मन बुद्धि अरु इंद्रिये इते कामके गेह ।
इन द्वारा बहु मोहतो जीवहि मतिढक एह ॥ ४० ॥

टी०–मन बुद्धि और इंद्रियें ये कामके रहनेके स्थान हैं अर्थात् रजोगुणसे प्रथम इंद्रियोंमें काम उत्पन्न होताहै फिर मनमें फिर बुद्धिमें । बुद्धिका धर्म निश्चय करनाहै इससे बुद्धिमें जब काम उत्पन्न होकर बैठताहै तो जीव कामितविषयके भोगकेलिए पक्की कमर कसलेताहै फिर तो अनर्थका आगे गढा तयार ही है उस गढेमें कामांध जीव गिरपडताहै । वह काम जीवके ज्ञानको ढककर इन कामाक्रांत मन बुद्धि और इंद्रियोंसे जीवको मुग्ध (मोहित) करताहै अर्थात् विषयमें प्रवृत्त करदेताहै । तदनंतर पापका द्वार भी खुलजाताहै ॥ ४० ॥

मू०–तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

दोहा–इंद्रिय वशकर आपुने प्रथम ज्ञानके हेत ।
ज्ञानविनाशक कामका नाश करौ तब चेत ॥ ४१ ॥

टी०–रजोगुणसे उत्पन्न हुआ हुआ काम प्रथम इंद्रियोंको ही विषयप्रवण करताहै इस हेतु हे अर्जुन तुम प्रथम इंद्रियोंको ही विषयोंसे रोको तब तुम इसकामका भी नाश करो यह काम पापस्वरूप=पापमें प्रवर्तक है अतएव ज्ञान=आत्मस्वरूपविषयक बुद्धिका नाशक है और विज्ञान=आत्माका और प्रकृतिका जो भेदज्ञान है उसका भी नाशक है। तार्किकलोगोंने भी कामिनीजिज्ञासारूप कामको ज्ञानका प्रतिबंधक मानाहै ॥ ४१ ॥

मू०-इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

दोहा-इंद्रिय वैरी ज्ञानकी मन तिन बढकर वाम ।
मनसों बढकर बुद्धि है तासों बढकर काम ॥ ४२ ॥

टी०-इंद्रिय मन बुद्धि काम ये ज्ञानके वैरी हैं इनमेंसे प्रथम तो इंद्रियें ही ज्ञानकी एक भारी शत्रु हैं क्यों कि जब इंद्रियें विषयलीन होती हैं तो आत्मज्ञान नहीं होसकता प्रत्युत हुआ हुआ भी नष्ट होजाताहै । इंद्रियोंसे बढकर मन ज्ञानका वैरी है क्यों कि यदि इन्द्रियें विषयसे विरक्त भी होगई हों और मन विरक्त न हुआ हो तो भी ज्ञान नहीं हो सकता एवं मनसे भी बढकर बुद्धि ज्ञानकी शत्रु है क्यों कि बुद्धि निश्चयस्वरूपा है जब वही विषयमें लीन होजाय तो ज्ञानकी संभावना भी नहीं रहती प्रत्युत जन्मजन्मांतरोंका संचित भी ज्ञान नष्ट होजाता है । उस बुद्धिसे भी बढकर जो ज्ञानका वैरी है वही कामपदार्थ है क्यों कि काम ही ज्ञानके नाशमें आदिकारण है ॥४२॥

मू०-एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

दोहा-बुद्धिसे निजचित्तको रोक कर्ममें जोड ।
काम बुद्धिसों प्रबल इह जाल कामको तोड ॥ ४३ ॥

टी०-इसरीतिसे बुद्धिसे भी बढकर ज्ञानका प्रबल वैरी काम है यह जानकर और आत्मना = बुद्धिसे आत्मानं = मनको विषयोंसे रोककर इस कामरूपी दुरासद = दुर्जय शत्रुको मार ॥ इनबातोंमे प्रतीत होताहै कि ज्ञानयोग बहुत कठिन है इसलिए प्रथम कर्मयोगमें चित्त शुद्धकरके कामक्रोधादिशत्रुओंको जीतकर तब कर्मयोगका निर्वाह करतेहुए ही ज्ञानयोगमें प्रवृत्त होनाचाहिए अन्यथा कर्मत्यागसे चित्त मलिन होजायगा तो ज्ञानयोग भी नष्टप्राय होजायगा इसहेतु जीवको निष्काम होकर सदा कर्म करना चाहिए यह श्रीभगवदुपदेशका तात्पर्य है । ज्ञानसे आत्मस्वरूपसाक्षात्कार होगा तदनंतर उस जीवके भी भीतर रहनेवाले अंतर्यामीका ज्ञान होगा तब उसमें भक्ति होगी तब मोक्ष होगी यही वेदांतोपदेशका तात्पर्य है ॥ ४३ ॥

॥ इति तत्त्वार्थसुदर्शनीटीकासहित भगवद्गीताका तृतीयाध्याय समाप्त हुआ ॥

श्रीः ।

अथ चतुर्थाध्याय ।



श्रीभगवान् उवाच—

मू०—इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥
एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

दोहा—कल्पआदिमे सूर्यने मोसु योग इह लीन ।
सूर्यने मनुसों कह्यौ मनु इक्ष्वाकु हि दीन ॥ १ ॥
ऐसी परपरा गह्यो रुषिसों भूपतिलोग ।
बहुत कालपाकर अब नष्ट भयो इह योग ॥ २ ॥

टी०—शरीरधारी मुमुक्षुका भी सहसा ज्ञानयोगमें अधिकार नहीं इसहेतु और लोकमर्यादाकी रक्षाके हेतु ज्ञानयोगाधिकारीको भी कर्तृत्वाभिमान छोंडकर तथा निष्काम होकर कर्मयोगका ही अनुष्ठान करना चाहिए यह सभ तृतीयाध्यायमें श्रीभगवान् कहचुके हैं अब इस कर्मयोगका मन्वंतरादिमें उपदेश किआथा इसहेतु यह बडा उत्तमहै और इसका स्वरूप इसके भेद तथा कर्मयोगमें भी क्रियांशकी अपेक्षा ज्ञानांश ही उत्तम है इत्यादि सभ चतुर्थाध्यायमें श्रीवासुदेव भगवान् कहेंगे ।

इममिति—हे पार्थ जो मैंने तुमको कर्मयोगका उपदेश दिआहै यह केवल युद्धकेलिए नहीं दिआ किंतु तुम मेरे प्यारे हो इसलिए दिआहै । इसी कर्मयोगके उपदेशको कल्पादिमें मैंने सूर्यकेप्रति कहाथा, सूर्यने इसे मनुकेप्रति मनुने इक्ष्वाकुमहाराजके प्रति कहाथा, इसी परंपरासे और भी राजालोगोंने इसे पाया बहुतकाल होजानेके कारण यह कर्मयोग अब नष्टप्राय होगयाहै । यह कर्मयोग अव्यय=अपायरहित है अर्थात् यह निष्फल नहीं जासकता ॥ १ ॥ २ ॥

मू०—स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

दोहा—सखा शरण तू मम गही शिष्य योगसो हीन ।
तासों उह प्राचीन मै योगहु वर्णन कीन ॥ ३ ॥

टी०-हे पार्थ तू मेरा सखा है और भक्त है इसहेतु उसी प्राचीन कर्मयोगको मैंने तुमारेप्रति कहाहै। यह कर्मयोग रहस्यभूत तथा अत्युत्तम है क्यों कि इसके अनुष्ठानसे संसारबंध टूट जाताहै। यहांपर 'भक्तोसि' ऐसा कहनेसे अर्जुनकी शरणागति प्रकट होती है क्यों कि विना शरणागतिके पुरुष भगवद्भक्त नहीं कहासकता और इस कर्मयोगको केवल युद्धस्वरूप ही नहीं समझना किं तु कर्मयोगमें भी उत्तमाधममध्यम व्यवस्था होनेसे सभसे उत्तमकर्मयोग भगवत्सेवा ही है ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच-

मू०-अपरं जन्म भवतो परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

दोहा-सूर्य जन्म तो आदिमें आप जने अब माय।
सूर्यसों तुम इह कह्यो किसबिध जान्यौ जाय ॥ ४ ॥

टी०-हे भगवन् सूर्यका जन्म तो कल्पादिमें हुआ आपका जन्म तो अब हुआहै इसहेतु आपने ही सूर्यके प्रति इस कर्मयोगका उपदेश किआ यह मैं कैसे जानूं= कैसे मानूं ?।

यद्यपि अर्जुन यह जानताहै कि श्रीकृष्णभगवान् कुछ वसुदेवपुत्र नहीं किं तु सकलजगदीश्वर कृपासागर कल्याणगुणगणैकतान श्रीनारायण ही हैं तथापि अर्जुन अजान होकर पूछताहै 'अपरम्' इत्यादि। और जो प्रश्न गूढाभिप्राय हो उसप्रश्नका उत्तरसे अभिप्राय जानाजाताहै सो यहांपर इसप्रश्नके उत्तरमें भगवान्ने अपने जन्मके प्रकार तथा प्रयोजनादि कहेहैं इससे प्रतीत होताहै कि अर्जुनके प्रश्नका यह अभिप्राय है कि-आप तो अवाप्तसमस्तकाम हैं निखिलब्रह्मांडनायक हैं ऐसे आपका जन्म अपनी इच्छासे है वा कर्मके कारणसे है तथा वह आपका जन्म इंद्रजालवत् मिथ्या है किंवा सत्य है सत्य है तो जन्मका प्रकार हेतु तथा प्रयोजन क्या है, और आपका यह देह किंस्वरूप है इन सभ बातोंका श्रीब्रजचंद्र भगवान् आगे उत्तर देंगे ॥ ४ ॥

श्रीभगवान् उवाच—

मू०-बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

दोहा-मम अवतार भये बहू जन्म भये तेऽनत।
हौं जानौं तिनकौं भलैं तू नहिं जानत हत ॥ ५ ॥

टी०-हे परंतप मेरे जन्म=अवतार बहुत होचुकेहैं और तेरे भी जन्म बहुत होचुकेहैं मैं उन सभको जानताहूं तू नहीं जानता क्यों कि तेरा ज्ञान प्रकृतिके संबंधसे

संकुचित होरहाहै । 'व्यतीतानि' इस वचनसे प्रतीत होताहै कि भगवदवतार सत्य हैं मिथ्या नहीं ।

अद्वैतवादी तो अविद्याके संबंधसे ही इस सब लीलाको मानते हैं इसहेतु सबको मिथ्या भी मानते हैं यह ठीक नहीं क्यों कि अविद्याका संबंध यदि समग्र ब्रह्मके साथ है तब तो शुद्धब्रह्मका अभाव प्राप्त हुआ यदि समग्रब्रह्मके साथ नहीं मानते तो ब्रह्मको सावयव मानना पडेगा कि ब्रह्मके किसीदेशमें अविद्याका संबंध है, तब तो सावयवत्वात् ब्रह्ममें अनित्यत्व प्राप्त होगा । और आप तो अनादिकालसे ब्रह्मके साथ अविद्याके संबंधको मानते हैं, वह अविद्यासंबंध जब कि आजतक नहीं छूटा तब आगेको भी छूटेगा इसकी संभावना कैसे हो ? तब तो निर्मोक्षत्वापत्ति प्राप्त हुई । और यथा सूर्यबिंबमें अंधकारका संबंध नहीं होसकता एवं सकलजगत्को प्रकाश करनेवाले परब्रह्ममें अविद्याका संबंध कैसे होसकताहै श्रुति भी कहती है "यस्य भासा सर्वमिदं विभाति" । बडे आश्चर्यकी बात है कि अद्वैती ब्रह्मको ज्ञानस्वरूप भी मानते हैं और उसमें अविद्या भी मानते हैं ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं ॥५॥

मू०—अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

दोहा—अज अव्यय अरु ईश हौं सकललोककौ तात ।
अपने ही संकल्पसों जानबूझके आत ॥ ६ ॥

टी०—अब भगवान् अपने अवतारका प्रकार स्वदेहकी यथार्थता तथा जन्महेतुको कहते हैं—अजोपीति हे पार्थ मैं अजत्व अव्ययत्व तथा भूतेश्वरत्वादि निज धर्मोंको धारण करताहुआ ही अवतार धारण करताहूं अर्थात् अब भी अज अव्यय और ईश्वर ही हूं । अज = उत्पन्न न होनेवाला अर्थात् नित्य, श्रुति भी कहतीहै— "अजायमानो बहुधा विजायते" इति । अव्यय विकार रहित सदा एकरूपसे रहनेवाला ईश्वर = सकल ब्रह्मांडोंपर शासन करनेवाला । इससे देहयाथात्म्य कहागया । और प्रकृति = स्वभावका नाम है मैं अपने स्वभावसे अर्थात् अपनी इच्छासे तथा आत्ममायया अर्थात् अपने ज्ञानसे अवतार (जन्म) धारण करताहूं । अर्थात् मेरा जन्म जीवकी तरह कर्मके परवश तथा ज्ञानपूर्वक नहीं किं तु अपनी इच्छासे अपने ज्ञानसे स्वयं मैं अवतार धारणकरताहूं इससे अवतारहेतु कहागया ।

यहां पर मधुसूदनजीने प्रकृतिशब्दका माया अर्थ कियाहै सो ठीक नहीं मायाके अधीन यदि भगवदवतार होगा तो भगवान्के स्वातंत्र्यमें हानि होगी इसहेतु यहां प्रकृतिशब्दका स्वभाव (इच्छा) ही अर्थ युक्त है ॥ ६ ॥

मू०--यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

दोहा--जब जब धर्म घटै अरु बढत अधर्म सतात ।
तब तब हौं या लोकमें युक्तकाय धर आत ॥ ७ ॥

टी०--अब भगवान् अपने अवतारका काल कहते हैं--यदेति, हे भारत जब जब धर्म क्षीण होताहै तथा अधर्म बढताहै तब तब मैं अवतार धारण करताहूं । इससे भी यही प्रतीत होता है कि भगवदवतारमें माया हेतु नहीं यदि माया हेतु होती तो माया भगवान्‌को स्वाधीन करके वारंवार जीवके सदृश जन्मदेती तथा भगवान् अपनी इच्छासे धर्मक्षय होनेपर ही अवतार धारण न करसकते इससे भी पूर्वश्लोकमें प्रकृतिशब्दका स्वभाव (इच्छा) ही अर्थ ठीक होता है ॥ ७ ॥

मू०--परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

दोहा--भक्तनकी रक्षालिए पापिन नाशनिदान ।
आदिधर्मथापनहित युग युग उतरौं जान ॥ ८ ॥

टी०--अब भगवान् अपने अवतारका प्रयोजन कहतेहैं--परित्राणायेति; जब धर्म क्षीण होताहै तथा अधर्म बढताहै तब साधु=महात्मा वैष्णवलोग पीडाको प्राप्त होते हैं पापीलोग बढजाते हैं तब मैं साधुओंके परित्राणकेलिए पापिओंके विनाशकेलिए तथा वैदिकधर्मको स्थापनकरनेकेलिए युगयुगमें अवतार धारण करताहूं ॥ ८ ॥

मू०--जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

दोहा--जन्म कर्म मो दिव्य अरु अर्जुन हित इह जोय ।
तत्त्वरूपसे जानतो पुनि नहिं जन्मत सोय ॥ ९ ॥

टी०--मेरे जन्म तथा कर्मको जो उक्तरूपसे तत्त्वज्ञानपूर्वक दिव्य जानताहै अर्थात् मेरा जन्म मेरे अधीन है कर्मादिके पराधीन नहीं तथा मेरा कर्म=लीला सब साधुपरित्राणकेलिए है कुछ अपने किसी प्रयोजनकेलिए नहीं क्यों कि मैं स्वयं अवाप्तसमस्तकाम हूं और मेरे जन्म कर्म सब दिव्य हैं मेरे साथ ही असाधारणसंबंध रखने वाले हैं यथा हिरण्यकशिपुरावणादिका वध मेरे विना और कोईसे बन नहीं सकताथा गजेंद्र प्रह्लाद विभीषणादिकी रक्षा भी मेरे विना और कोई नहीं करसकताथा ऐसा जो जानताहै वह भक्तपुरुष इसदेहको छोड फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता

किं तु मेरेको=मेरे धाम श्रीवैकुंठको प्राप्त होजाताहै, श्रुति भी कहती है "ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति" "नान्यः पन्था अयनाय विद्यते" इति ॥ ९ ॥

मू०–वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

दोहा–क्रोधरागभयहीन ह्वै मोमें चित्तलगाइ ।
ज्ञानशुद्ध मम शरण हो बहुतन मुक्ती पाइ ॥ १० ॥

टी०–राग=अप्राप्तपदार्थकी इच्छा, भय=प्राप्तपदार्थके नाशकी चिंता, नष्ट न हो यह चिंता, क्रोध=प्राप्तपदार्थके नाशसे उसके नाशकरनेवालोंपर द्वेष, इन राग भय क्रोधोंसे रहित, ज्ञानरूपतपसे पवित्र हुएहुए मन्मया = मेरेही में केवल चित्तको लगाए रखनेवाले मामुपाश्रिताः = मेरी शरणको प्राप्तहुएहुए बहुतसे पुरुष मेरे भाव = साधर्म्य (मोक्ष) को प्राप्तहुए हैं । इससे भगवत्के शरण होना स्पष्ट आवश्यक प्रतीत होताहै शरणागतिकी बात प्रथम लिखचुकाहूं ॥ १० ॥

मू०–ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

दोहा–जिसविध जे मो शरण हो तिसविध तिन उरलाउ ।
मो पथ चलते पुरुष सभ सज्जन जे जगमउ ॥ ११ ॥

टी०–हे पार्थ मैं देवमनुष्यादिरूपसे ही अवतार धारण करके सत्पुरुषोंकी रक्षा नहीं करता किं तु जो पुरुष (भक्त) जिसप्रकारसे मेरी शरणको प्राप्त होतेहैं तथा जिस प्रकारसे मेरा ध्यान करते हैं तथा जिसप्रकारसे उनकी रक्षा होसकतीहै मैं उसीप्रकारसे उसी प्रकारका रूपधर उनपर कृपाकर उनकी रक्षा करताहूं यथा नृसिंहरूपधर प्रह्लादकी रक्षा की, क्योंकि सभ सत्पुरुष मेरे ही मार्गका = वैष्णवधर्मका अनुवर्तन = अनुष्ठान करते हैं इसहेतु मुझे भी यही उचित है जो उनकी मैं रक्षा करूं ।

यहांपर भगवान् अपने श्रीमुखसे स्पष्ट कहतेहैं कि–"मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः" इति । पूर्वार्द्धमें "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" यह कहाहै इससे यहांपर वर्त्मशब्द धर्म (संप्रादय) का ही वाचक है इससे स्पष्ट सिद्ध होताहै कि उस समय तक सभ लोग वैष्णव ही थे अन्यथा "मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः" भगवान् ऐसा न कहते । ऐसा वाक्य भगवान् प्रथम भी कहचुकेहैं किं तु पूर्वार्धार्थके भेदसे उत्तरार्धार्थका भी भेद होजाताहै इससे टीकामें पूर्वापर विरोधकी शंका नहीं करनी । जो लोग वैष्णवधर्मको कल्पित किं वा नवीन कहते हैं उन्हें इसपद्यपर अच्छीतरह ध्यान देना चाहिये । इस विषयको प्रथम लिखचुका हूं ॥ कहा भी है–

" वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम् ॥"
' देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किंकरो नायमृणी च राजन् ।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कृत्यम् ॥"
प्राप्तुमिच्छन् परां सिद्धिं जनः सर्वोप्यकिंचनः ।
श्रद्धया परया युक्तो हरिं शरणमाश्रयेत् ॥"
" आस्फोटयन्ति पितरः प्रनृत्यंति पितामहाः ।
वैष्णवो नः कुले जातो स नः संतारयिष्यति ॥ " इत्यादि ॥ ११ ॥

मू०-कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

दोहा-लाभहेतु फलके करै कर्महिं पुरुष बहोत ।
फलसिद्धी या लोकमें तुरत कर्ममें होत ॥ १२ ॥

टी०-प्रासंगिक जो निजावतारकी कथा थी उसे छोडकर अब श्रीभगवान् व्रजेंदु कर्मयोग ही ज्ञानरूपी बनजाताहै यह बात कहनेकेलिए कर्मयोगाधिकारीकी दुर्लभताको कहतेहैं-कांक्षंत इति, बहुतलोग कर्मफल प्राप्तिकी इच्छाके कारण देवताओंका आराधन करते हैं क्यों कि मनुष्यलोकमें कर्म करनेसे उसका फल शीघ्र ही प्राप्त होजाताहै । ये सभ मूर्खलोग हैं क्यों कि निष्काम होकर कर्म करना चाहिए और इंद्रादिदेवताओंका अंतर्यामी जो मैं हूं उस मुझ अंतर्यामीको उद्देश्य करके कर्म करना चाहिए यही कर्मयोग कहाताहै सो ऐसे कर्मयोगके अनुष्ठान करनेवाले पुरुष बहुत अल्प हैं ।

जो मैंने पूर्वश्लोकपर वैष्णवधर्मका बाहुल्य लिखाहै उसके साथ "यजन्त इह देवताः" इस वचनका विरोध नहीं जानना क्यों कि वैष्णवत्व व्यापक धर्म है और अनन्योपासकत्व व्याप्य धर्म है अर्थात् ऐसे वैष्णव यद्यपि उस समयमें भी बहुत-अल्प थे जो उक्तप्रकारके कर्मयोगका अनुष्ठान करते थे तथापि वैष्णव बहुत ही थे लोग वैष्णव होकर भी सकाम थे इससे फलकी इच्छा रखकर देवतांतरोपासना करते ही थे ।

इस श्लोकसे यह भी सिद्ध होताहै कि वैष्णवको देवतांतरोपासना नहीं ही करनी चाहिए भगवान् आगे स्वयं कहेंगे-

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते " इति ॥ १२ ॥

मू०—चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

दोहा—गुण अरु कर्म विभागसों रचे वर्ण हौं चार ।
ताकौ हौ कर्ता तऊ मानौ जिन कर्तार ॥ १३ ॥

टी०—गुण और कर्मोंके विभाग=व्यवस्थापूर्वक मैंने चारों वर्णोंको रचाहै । यथा—ब्राह्मणमें सत्त्वगुणप्रधान है उसके शमदमादि (इंद्रियादिनिग्रहादि) कर्म हैं । क्षत्रियमें रजोगुण प्रधान है उसके प्रजापालन युद्धादि कर्म हैं । वैश्यमें रजोगुण और तमोगुण दोनों प्रधान हैं उसके खेती व्यापारादि कर्म हैं । शूद्रमें तमोगुण प्रधान है उसका सेवा ही कर्म है । ये सभ व्यवस्था भी उससमय थी आज कल्ह देखाजाय तो उससमयके शूद्र भी जैसे धर्मात्मा थे आजकल्ह ब्राह्मण भी वैसे धर्मात्मा नहीं हैं आजकल्हकी तो सृष्टि महातमःप्रधान है ।

हे पार्थ यद्यपि मैं उनचारों वर्णोंका कर्ता हूं तथापि मुझे कर्ता मत समझ क्यों कि वस्तुगत्या उसे ही कर्ता कहना चाहिए जो कृतकर्मके फलकी इच्छाको रखता हो मैं इससृष्टिरचनारूपकर्मके फलकी इच्छा नहीं रखता इसहेतु मैं कर्ता होकर भी अकर्ता ही हूं । वेदांतसूत्रकारने भी कहाहै " लीला कैवल्यात्तु " अर्थात् भगवान् अपने किसी प्रयोजनकेलिए सृष्टि नहीं करते किं तु लीलामात्रके लिए करते हैं । सृष्टिके सदृश पालन और संहारका भी वही श्रीहरि कर्ता है यह सभ "जन्माद्यस्य यतः" इस वेदांतसूत्रपर सभने कहाहै ।

आजकल्हके वहुतसे नास्तिकलोग कर्माभासमात्रसे वर्णव्यवस्थाको मानतेहैं वह सभ शास्त्रविरुद्ध है क्यों कि यदि कर्मसे ही वर्णव्यवस्था हो याने ब्राह्मणकर्मसे सभ कोई ब्राह्मण कहासके तो यह भी कहना पडेगा कि विना कर्मके ब्राह्मणका पुत्र भी ब्राह्मण नहीं कहासकेगा और ब्राह्मणकर्मका अधिकार तो उपनयनानंतर होताहै फिर "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत" यहांपर श्रुतिने ही ब्राह्मणकर्मरहित बालकको ब्राह्मण कैसे कहा ? इससे यही सिद्ध होताहै कि जाति कुछ कर्मपर नियत नहीं किं तु जन्म पर ही नियत है यथा ब्राह्मणीमें ब्राह्मणसे उत्पन्न ही ब्राह्मण कहासकता है । हां प्रत्येक पदार्थमें उत्तम मध्यम अधम होना भी नियत है सो जो जन्मसे ब्राह्मण होकर ब्राह्मण कर्म करेगा वह उत्तमब्राह्मण कहाएगा जो ब्राह्मण ब्राह्मणकर्मको नहीं करेगा वह अधम ब्राह्मण कहाएगा । स्मृति भी ऐसा ही कहती है—

" ब्राह्मण्यां ब्राह्मणेनैव उत्पन्नो ब्राह्मणः स्मृतः । "
" जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते ।
विद्यया याति विप्रत्वं श्रोत्रियस्त्रिभिरेव च ॥ "

अर्थात् ब्राह्मण तो ब्राह्मणकेघर जन्मसे ही होताहै फिर उपनयन संस्कारसे वह द्विज भी कहाता है फिर पढजाय तो विप्र भी कहाताहै तथा श्रोत्रिय भी कहाताहै ।

" जन्मना जायते शूद्रः " यहांपर गौणी लक्षणा है अर्थात् शूद्रशब्दका शूद्रसदृश अर्थ है सो ठीक ही है क्यों कि ब्राह्मणका भी उपनयनसे प्रथम कर्ममें अधिकार न होनेसे अनुपनीतब्राह्मण शूद्रके तुल्य होता ही है । इसी अभिप्रायसे कहाहै–

" न ह्यस्य विद्यते कर्म किंचिदामौञ्जिबन्धनात् ।
वृत्त्या शूद्रसमो ज्ञेयो यावद्वेदे न जायते ॥ "

" ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः स्मृतः " इत्यादि श्रुतिओंसे भी यही सिद्ध होताहै कि प्रथम वर्णव्यवस्था है तब वर्णानुसार कर्मव्यवस्था है ।

और प्रत्येकविषयमें अधिकार नियत है अन्यथा चेला भी अपने गुरुका भी गुरु क्यों न बनजाय ? इससे यह कहना ही होगा कि अधिकार नियमित है इससे चेला गुरुका गुरु नहीं बनसकता तब तो यह भी कहना होगा कि ब्राह्मणकर्ममें भी ब्राह्मणकाही अधिकार है ? सभका हो नहीं सकता और जन्मसे तो तुमारे मतमें कोई जातिका संबंध ही नहीं इत्यादि बहुतसे दोष आवेंगे इससे यही कहना चाहिए कि जाति तो जन्मके ही साथ संबद्ध है हां उसजातिकी उत्तमता कर्मके साथ संबद्ध है ।

और " चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः " इस प्रकृत श्लोकका भी यह अर्थ नहीं कि चारों वर्णोका गुण और कर्मोसे विभाग (भेद) है क्यों कि यहां कुछ भेदका प्रकरण नहीं किं तु सृष्टिका ही अवांतर प्रकरण है इससे इसश्लोकका यही अर्थ है कि–चारोंवर्णोको मैंने रचाहै तथा उनके गुण और कर्मोको भी भेदपूर्वक मैंने रचाहै इति ।

बडे खेदका स्थान है कि कर्मसे जातिको माननेवाले भी केवल गप्पें ही ठोकतेहैं कोई तरहका कर्म करते भी नहीं । विश्वामित्रने साठहजारवर्ष एकदरजा चढनेके लिए (क्षत्रियसे ब्राह्मण होनेकेलिए) तप किआथा आजकल्ह कोई साठ वर्ष ही वैसा तप करे ? सो कुछ नहीं किं तु मुसलमानको भी आधसेर घी फूंककर ब्राह्मण बनालेते हैं यह सभ कलिकालके प्रभाव हैं । ऋषिलोग प्रथम ही कहगएहैं–

"शूद्राः प्रतिग्रहीष्यन्ति तपोवेषोपजीविनः ।
धर्मं वक्ष्यन्त्यऽधर्मज्ञाः अधिरुह्योत्तमासनम् ॥" इति ।

यह विषय संस्कृतमें तो बहुत है किं तु भाषामें वृन्दावनके बलरामस्वामीजीने भी वर्णव्यवस्थानामक छोटीसी पुस्तकमें अच्छा लिखाहै । आजकल्ह भारतवर्षके नित्या-[illegible] श्राद्धादिकोंसे लेकर संन्यास पर्यंत सभ धर्म केवल गप्पोंमें और वेषमें [illegible] । अब तो भगवान् इसलोकसे शीघ्र ही छुट्टी दे तो अच्छा है ॥ १३ ॥

मू०-न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

दोहा-कर्म न बंधन होय मम कर्मफलेच्छा नाहि।
इसविध जो मोहि जानतो कर्म न बाधत ताहि ॥ १४ ॥

टी०-भगवान् अपनी अकर्तृतामें हेतु कहते हैं-न मामिति, जिसको कर्मफलकी इच्छा हो तथा उस इच्छाके कारण जिसे कर्म बांधते हैं वही वस्तुगत्या कर्ता कहाताहै। हे पार्थ मुझे तो सृष्ट्यादिस्वकर्मके फलकी भी इच्छा नहीं अत एव वह सृष्ट्यादिरूप मदीयकर्म मुझे बांध भी नहीं सकता इसहेतु मैं कर्ता होकर भी अकर्ता (अकर्ताके तुल्य) हूं। और सृष्टिमें कोई सुखी है कोई दुःखी है कोई उत्तम है कोई नीच है यह सभ भी मेरी इच्छासे नहीं मैं तो जीवमात्रको समानदृष्टिसे ही देखताहूं किंतु यह सभ भेद जीवके कर्मोंके कारण है सृष्टि अनादिकालसे चलीआतीहै उसमें जिस जीवके जिस विषयमें जैसे कर्म होते हैं उस जीवको वह विषय वैसा ही प्राप्त होताहै योगसूत्र भी है-"सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः" इति। वेदांतसूत्रकारने भी कहाहै "वैषम्य-नैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्" अर्थात् परमात्माको वैषम्यादि दोष नहीं लगसकते क्योंकि परमात्मा जीवकर्मानुसार ही सृष्टि करताहै यह अभिप्राय है।

हे पार्थ जो मेरेको इस उक्त स्वरूपसे जानताहै अर्थात् जो मुझे कर्म फलेच्छाहीन कर्मसंबंधहीन तथा अकर्ता जानताहै वह कर्म योगारंभविरोधी जो फल कामनादि-हेतुभूत प्राचीन कर्म हैं उनसे बद्ध नहीं होता अर्थात् वह फलकामनादिदोषोंसे मुक्त होजाताहै ॥ १४ ॥

मू०-एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

दोहा-मम ज्ञानसे पूत जे तिनहू कर्महि कीन।
यासों तू हूँ कर्मकर जो वृद्धन करलीन ॥ १५ ॥

टी०-प्रथम जो मोक्षेच्छावाले लोग हो चुकेहैं उनने भी मुझे पूर्वोक्त रीतिसे जानकर तथा उस मदीयज्ञानसे निष्पाप होकर भी कर्मयोगका ही अनुष्ठान कियाहै इससे हे पार्थ पूर्वजलोग जिस वक्ष्यमाण कर्मको करते रहेहैं तू भी उसी कर्मयोगको कर ॥ १५ ॥

मू०-किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

दोहा-ज्ञान कर्मके रूपमें पठितहु संशय होय।
जाको कर बंधन छुटै कर्म कहौं तोहि सोय ॥ १६ ॥

टी० -यहांपर अकर्मशब्दका जीवात्मयथार्थ ज्ञान अर्थ है कुछ कर्मस्वभाव ही मधुसूदनोक्त अर्थ नहीं क्यों कि यह प्रकरण ज्ञानयोग कर्मयोगका है कर्मसे भिन्न जो ज्ञान उसका नाम अकर्म है यही ठीक है।

किमिति-कर्मयोगका स्वरूप क्या है तथा ज्ञानयोगका स्वरूप क्या है इस विषयमें विद्वान्लोगोंको भी संशय होताहै। कर्मयोगका अनुष्ठान भी जीवस्वरूपज्ञानके विना नहीं होसकता इसहेतु वह जीवस्वरूपज्ञान भी कर्मयोगके अंतर्गत ही है इसहेतु दोनोंको अवश्य जानना चाहिए इसीकारण हे पार्थ मैं तुझे उस कर्मयोगका उपदेश देताहूं जिसके ज्ञान = अनुष्ठानसे तूं अशुभ जो संसारबंध है उससे मुक्त होजायगा यहांपर कर्मज्ञानमात्रसे अशुभनिवृत्ति नहीं जाननी किं तु कर्मज्ञानका फल जो कर्मानुष्ठान है उसीसे अशुभकी निवृत्ति जाननी ॥ १६ ॥

मू०--कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ॥
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

दोहा--कर्मयोग विकर्म अरु ज्ञानयोगको तात।
जानन योग्य सुरूप है गहन कर्मकी बात ॥ १७ ॥

टी०--कर्म = कर्मयोगका भी स्वरूप जानने योग्य है। विकर्म = कर्मयोगसाधनीभूत विविध कर्म हैं उनका भी स्वरूप जानने योग्य है अर्थात् द्रव्यार्जनादि कैसे किससे करना यह भी जानना चाहिए। अकर्म = ज्ञानयोगका भी स्वरूप जानना चाहिए इनमेंसे कर्मयोगकी गति बडी गहन सूक्ष्म है क्यों कि कहीं पर धर्म भी अधर्म बनजाताहै यथा जिस सत्यादि अधर्मसे किसीका उपघात हो। कहींपर अधर्म भी धर्म बनजाताहै यथा जिस असत्यादि अधर्मसे किसीकी रक्षा हो। तथा कर्मयोगकेलिए जीवस्वरूपके ज्ञानकी भी अपेक्षा है इनहेतुओंसे कर्मयोगकी गति बडी गहन (गूढ) है ॥ १७ ॥

मू०--कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

दोहा--कर्म करै निजजीवके ज्ञान रूपको जोय।
जानहु रूप करै क्रिया (कर्म) कुशल कर्मका सोय ॥ १७ ॥

टी०--कर्मयोगका अनुष्ठान भी जीस्वरूपज्ञानपूर्वक ही होताहै सो जीवस्वरूपज्ञान कर्मयोगके अंतर्गत ही है इसहेतु कर्मयोगको जो ज्ञानयोगस्वरूप मानताहै तथा

वह ज्ञान कर्मांतर्गत है इससे ज्ञानको कर्मस्वरूप मानताहै । अर्थात् जीवके यथार्थरूपको जानकर जो कर्म करताहै तथा जीवस्वरूपको जानकर भी जो कर्मका त्याग नहीं करता किं तु कर्म करता ही है क्यों कि कर्मयोग ज्ञानयोग परस्पर मिलेहुए हैं वह पुरुष सबसे बढकर बुद्धिमान् है वही युक्त मोक्षयोग्य है । तथा वही सभी कर्मोंके करनेवाला है । यहांपर भी अकर्मशब्द ज्ञानका ही बोधक है ॥ १८ ॥

मू०–यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

दोहा–छांडि कामसंकल्प अरु कर्म करै नर जोय ।
ज्ञानवह्निसों पाप जिस भस्म भए–बुध सोय ॥ १९ ॥

टी०–कर्म ज्ञानाकार कैसे होसकताहै इस शंकाकी निवृत्तिकेलिए कहते हैं–यस्येति, पंडितशब्द यहां ज्ञानीका वाचक है बकवादीका वाचक नहीं काम शब्द फलकामनाका वाचक है । प्रकृति और उसके गुण तथा आत्माको एक समझना ही संकल्पपदार्थ है। जो पुरुष फलकामनाको छोडकर तथा प्रकृतिपुरुष (जीवात्मस्वरूप) विवेकपूर्वक कर्मयोगका तथा कर्मयोगहेतुभूत द्रव्यार्जनादिका अनुष्ठान करताहै उसे बुध = ज्ञानीलोग पंडित = ज्ञानी तथा ज्ञानाग्निदग्धकर्मा कहते हैं अर्थात् उसपुरुषके ज्ञानरूप अग्निसे मोक्षविरोधी पापरूप कर्म दग्ध (नष्ट) होगएहैं ऐसा कहतेहैं । इससे सिद्ध होताहै कि कर्म भी ज्ञानाकार होजाताहै अन्यथा ज्ञानीलोग कर्मयोगानुष्ठान करनेवालेको ज्ञानी तथा ज्ञानाग्निदग्धकर्मा न कहते ॥ १९ ॥

मू०–त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोपि नैव किंचित् करोति सः ॥ २० ॥

दोहा–आत्मतृप्त हो त्यागफल प्राकृत आश्रयहीन ।
करतहु कर्म करै न सो ज्ञान बढा तिन लीन ॥ २० ॥

टी०–कर्मफलकी इच्छाको त्यागकर, नित्य जो आत्मा है उसीमें तृप्तहोकर, अर्थात् आत्मभिन्नबाह्यपदार्थ मात्रकी रुचिको छोडकर, तथा अस्थिर जो प्रकृति है उसमें आश्रयबुद्धिको त्यागकर जो परमात्माको ही आश्रय समझताहै वह ज्ञानी कर्ममें प्रवृत्त हुआहुआ भी अकर्ता ही कहाताहै कुछ नहीं करता. अर्थात् उसको कर्मका बंधन नहीं रहता = संसार छूट जाताहै ॥ २० ॥

मू०–निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

दोहा–त्यागि काम ममता सभ वशकर मन अरु काय ।
　　कायमात्रसों कर्मकर पुनि ससार न आय ॥ २१ ॥

टी०–फलेच्छाको छोडकर, चित्त और मनको किं वा शरीरको वशकरके, तथा बाह्यप्राकृतपदार्थोंकी ममताको छोडकर जो पुरुष शारीर = शरीरमात्रसे साध्य केवल कर्मयोगका अनुष्ठान करताहै वह संसाररूपी पापको प्राप्त नहीं होता अर्थात् वह केवल कर्मयोगसे भी जीवात्मसाक्षात्कारको प्राप्त होजाताहै । इससे कर्मयोग ज्ञानस्वरूप ही है यह सिद्ध होताहै । यहांपर आत्मशब्दका श्रीरामानुजस्वामीने तो मन अर्थ किआहै श्रीवरवरमुनिस्वामीने शरीर अर्थ किआहै ऐसा ही मधुसूदनसरस्वतीका भी अभिप्राय है ।

यहांपर मधुसूदनजीने कर्मशब्दका शरीरयात्रानिर्वाहक भिक्षाटनादि कर्म अर्थ किआहै सो ठीक नहीं क्यो कि यहांपर शरीरयात्राका प्रकरण नहीं यदि कहो कि शरीरयात्रानिर्वाहक कर्मसे बंध नहीं होता इसतात्पर्यके कारण यहां कर्म शब्द शरीरयात्रानिर्वाहक कर्मका ही वाचक है तो यहां बंधराहित्यप्रतिपादनका भी प्रकरण नहीं किं तु कर्मयोगका प्रकरण है इससे यहां कर्मशब्दसे कर्मयोगका ही ग्रहण करना उचित है ॥ २१ ॥

मू०–यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

दोहा–द्वद सहै मत्सर तजे दैवमिलेमें पुष्ट ।
　　करहु कर्म भवपार हो सिद्धि असिद्धी तुष्ट ॥ २२ ॥

टी०–दैवेच्छासे जो प्राप्त हो उतनेमें ही संतोष रखनेवाला कहा भी है–" विधिवशात्प्राप्तेन संतुष्यताम् " इति । शीतोष्णसुख दुःख मानापमान इत्यादि द्वंद्वोको सहनकरनेवाला, स्पर्धासे रहित होकर, कर्मफलकी सिद्धि और असिद्धि दोनोंको ही तुल्य समझनेवाला पुरुष ज्ञाननिष्ठाके न होनेसे भी केवल कर्मयोगमात्रसे ही बंध = संसारसे मुक्त होजाता है ॥ २२ ॥

मू०–गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाऽऽचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

दोहा–काम विषय दउ छाडिकै आत्मामे मन लाय ।
　　कर्मयोग करतो नित कर्मवन्ध जर जाय ॥ २३ ॥

टी०–निष्काम होकर विषयसामग्रीको छोडकर अर्थात् बाह्यपदार्थोंकी ममताको छोडकर चित्तको ज्ञानावस्थितकरके अर्थात् चित्तको आत्मामें लगाकर जो

पुरुष यज्ञकेलिए द्रव्यार्जनादिकर्मको करताहै उसके बंधनभूत जो प्राचीन कर्म हैं वे सभ क्षीण (नष्ट) होजातेहैं । प्रारब्धकर्मका तो भोगसे ही क्षय होताहै इससे प्राचीनकर्मका क्षय कहाहै ॥ २३ ॥

मू०–ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

दोहा–कर्ता हवि स्रुक् अग्नि जो सभ ही ब्रह्म मनाय ।
ब्रह्मभावना यह करै ब्रह्मनिकट सो जाय ॥ २४ ॥

टी०–कर्मयोग ज्ञानस्वरूप है यह कहके अब कर्म तथा कर्मकी जो सामग्री हवि स्रुगादि हैं उनसभको ज्ञानरूप कहतेहैं क्यों कि करनेवाला परमात्माको सभका अंतर्यामी जानताहै–ब्रह्मेति, अर्पणशब्द स्रुगादि जो यागकारण हैं उनका बोधक है क्यों कि स्रुगादिकनसे ही हविका अर्पण किआजाताहै यह स्रुगादि ब्रह्मका कार्य (परिणाम) हैं इससे स्रुगादि भी ब्रह्मस्वरूप ही हैं यथा घट मृत्तिकास्वरूपहै–यह जाननेवाला,हवि = देय = अर्पणीयपदार्थ भी ब्रह्मकार्य (परिणाम) होनेसे ब्रह्मस्वरूप है, अग्नि भी ब्रह्मस्वरूप है, कर्ता जो जीव है वह कार्य नहीं तो भी परमात्माका शरीरभूत है परमात्मा = ब्रह्म उसका अंतर्यामी है इससे कर्ता भी ब्रह्मस्वरूप है, इत्यादिरूपसे जो समग्र सपरिकर कर्मको ब्रह्मस्वरूप जानताहै वह ब्रह्मकर्मसमाधि है वह ब्रह्मको प्राप्त होताहै नाम जीवात्मस्वरूपसाक्षात्कारको प्राप्त होताहै । अर्थात् जो द्रव्यको तथा कर्मको ब्रह्मस्वरूप जानकर कर्मयोगका अनुष्ठान करताहै उसे ज्ञानयोगानुष्ठानके विना भी जीवस्वरूपका साक्षात्कार होजाताहै ॥ २४ ॥

मू०–दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

दोहा–देवअर्चना योगको करते योगी कोइ ।
ब्रह्मस्वरूप अग्नीमहँ हविको छोडत कोइ ॥ २५ ॥

टी०–उक्तरीतिसे कर्मयोगको ज्ञानस्वरूप कहकर अब कर्मयोगके भेद कहतेहैं–दैवमिति, कोई योगीलोग दैवयज्ञ = देवतार्चनरूप यज्ञको ही करतेहैं उसके भी अनेक भेद हैं यथा कोई श्रीकृष्णार्चन करतेहैं कोई श्रीरामार्चन करतेहैं कोई श्रीरंगार्चन करतेहैं, कोई लोग ब्रह्मपरिणाम होनेसे ब्रह्मरूप जो अग्नि है उसमें यज्ञसाधन होनेसे यज्ञरूप जो हवि है उसको यज्ञरूप स्रुगादिसे होम करतेहैं । यहांपर ब्रह्माग्नौ ब्रह्महवि इत्यादिशब्दोंसे मधुसूदनजी समग्र प्रपंचको विवर्तरूपेण ब्रह्मस्वरूप बताकर प्रपंचको मिथ्या बतातेहैं सो पूर्वोक्त प्रपंच सत्त्ववादसे ही निरस्तप्राय हैं और यहां विवर्तशब्दका नामतक नहीं तब विवर्तवाद यहां कहांसे आवेगा ॥ २५ ॥

मू०-श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यऽन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन् विषयानन्ये इंद्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

दोहा-इंद्रिय हविको होम कउ करते संयम वह्नि।
कोउ विषयहविहोमको करते इंद्रियवह्नि ॥ २६ ॥

टी०-कोई योगीलोग संयमरूप अग्निमें इंद्रियरूप हविका होम करते हैं, संयम नाम है धारणा ध्यान समाधि इन तीनोंके ऐक्यका अर्थात् इंद्रियोंको विषयोंसे रोकते हैं, कोई लोग दैवेच्छासे प्राप्तहुए शब्दस्पर्शादिरूप हविको 'इंद्रियरूप अग्निमें होम करते हैं अर्थात् इंद्रियोंको अग्नि जानकर विषयोंको हवि जानकर दैवेच्छासे प्राप्तहुए विषयोंका = अन्नपानादिकोंका अनासक्तिपूर्वक भोग करते हैं क्यों कि विषयभोगसे भी कभी इंद्रियें विषयसे निवृत्त होजाती हैं; इसीसे यहांपर श्रीरामानुजस्वामी लिखते हैं कि यह कर्मयोग विषयलोलुपतासे निवृत्त करनेवाला है, यही ठीक अर्थ है ॥ २६ ॥

मू०-सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

दोहा-प्राणकर्म अरु इंद्रिये कर्म ज तिस हवि कोइ।
मनसंयमविधवह्निमे होम करैं जग खोइ ॥ २७ ॥

टी०-श्रोत्रका सुनना कर्म है, त्वक्का स्पर्श करना कर्म है, चक्षुका देखना कर्म है, रसनाका स्वादलेना कर्म है. घ्राणका सूंघना कर्म है, वाणीका बोलना कर्म है, हस्तका लेनादेना कर्म है, पादका चलना कर्म है, गुदाका मलत्यागकरना कर्म है, उपस्थका मैथुनकर्म है, मनका संकल्प करना और चित्तका स्मरण करना कर्म है. ये इंद्रियोंके कर्म हैं। और प्राणका जीवन कर्म है, अपानका नीचेको लेजाना कर्म है, व्यानका. इकट्ठा करना तथा फैलाना कर्म है, समानका खाए पिएको बराबर करना कर्म है, उदानका ऊपरलाना कर्म है, ये प्राण कर्म हैं। इन इंद्रियकर्मोंको तथा प्राणकर्मोंको कोईलोग ज्ञानसे प्रदीप्तहुई मनका जो संयमरूपयोग तत्स्वरूप जो अग्निहै उसमें होम करते हैं अर्थात् इंद्रियों और प्राणोंके व्यापारके रोकनेकेलिए संयतमनसे यत्न करते हैं। मधुसूदनजीने जो यहां लिंगशरीरादिकी कल्पना की है वह सभ तत्प्रकरणके न होनेसे असंगत है ॥ २७ ॥

मू०-द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः शंसितव्रताः ॥ २८ ॥

दोहा--द्रव्ययज्ञ तपयज्ञ अरु योगयज्ञको कोइ।
ज्ञानयाग स्वाध्यायको करते दृढव्रत होइ॥ २८॥

टी०-जिस यज्ञमें घृतादिद्रव्यकी अपेक्षापडे वह द्रव्ययज्ञ है यथा देवतार्चन दान याग होम इत्यादि इन द्रव्ययज्ञोंका कोई यती अनुष्ठान करते हैं, चांद्रायणादि तप है इन तपयज्ञोंका कोई यती अनुष्ठान करते हैं, पुण्यक्षेत्र=पुण्यतीर्थादिकी प्राप्तिका नाम भी योग है सो योगयज्ञ=तीर्थवासादिको कोई करते हैं, कोई स्वाध्याययज्ञको करते हैं स्वाध्याय नाम वेद पाठका है, कोई ज्ञानयज्ञको ही करते हैं अर्थात् ज्ञानपरायण हो जाते हैं॥ २८॥

मू०-अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणपानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥ २९॥
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥ ३०॥

दोहा-अपान अग्निमे प्राणको फूकत पूरक होय।
प्राणानलमे अपानकू रेचक विधि इह सोय॥ २९॥
प्राण अग्निमें प्राणको प्राण अपान हि रोक।
होम करै कुंभक बनै, प्राणायामरत लोक॥ ३०॥

टी०-अपान वायुरूप अग्निमें प्राणवायुरूप हविका होम कोई यती करते हैं अर्थात् पूरक रूप प्राणायाम करते है। कोई प्राणरूप अग्निमें अपानरूपी हविका होम करते हैं अर्थात् रेचकरूपप्राणायाम करते हैं। मुख और नासिकाद्वारा जो भीतरकी वायुका बाहिर निकालना है वह श्वास है उसीका नाम प्राणगति है, बाहिरकी वायुको जो मुख नासिका द्वारा भीतर करनाहै वह प्रश्वास है उसीका नाम अपानगति है। सो पूरकमें तो प्राणगतिका ही निरोध होताहै क्यों कि भीतरकी वायुको बाहर नहीं निकाला जाता किंतु बाहिरकी वायुको भीतर भराजाताहै इससे अपानगति बनी रहतीहै, और रेचकमें तो अपानगतिका ही निरोध होताहै क्यों कि बाहिरकी वायु व भीतर नहीं कीजाती किंतु भीतरकी वायुको बाहर किआजाताहै इससे प्राणगति बनी रहती है। और कुंभकमें तो प्राणगति तथा अपानगति दोनोंका ही निरोध होताहै क्यों कि बाहिरकी वायु भीतर भी नहीं कीजाती और भीतरकी वायु बाहिर भी नहीं निकाली जाती यही कहते है-'प्राणापानगती' इति, प्राणायामपरायण नियमित आहार करनेवाले कोई कुशल योगी लोग प्राणरूपी अग्निमें प्राणरूपी हविका होम करतेहैं अर्थात् कुंभकरूप प्राणायाम करते है। क्यों कि दोनों ओरकी वायुको रोकदेनेसे समय प्राणवायु एक होजाती हैं यही प्राणमें प्राणका होम है। एवं जिसवायुमें जो वायु मिलाईजायगी उनदोनोंका एककरना ही होमस्वरूप है। इसप्रकार प्राणायामरूपी यज्ञको करनेवाले

ये सब यज्ञस्वरूपको जाननेवालेहैं तथा प्राणायामरूपी यज्ञसे इनके सब पाप नष्ट होजातेहैं ॥ प्राणायामका विषय योगशास्त्रमें सविस्तर लिखाहै ॥ २९ ॥ ३० ॥

मू०--यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोस्त्यऽयज्ञस्य कुतोन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

दोहा--यज्ञशेषभोजन करैं परमधामको जायँ ।
यज्ञहीन परलोक कहँ ?, एहो लोकउ नायँ ॥ ३१ ॥

टी०--यज्ञशेष अन्नका नाम अमृत है उसको भोजन करनेवाले अर्थात् कर्मयोगका अनुष्ठान करनेवाले परमधामको प्राप्त होते हैं । जो पुरुष कर्मयोगका अनुष्ठान नहीं करता उस यज्ञहीन पुरुषका तो यह भी लोक सिद्ध नहीं होता अर्थात् यहां भी उसको सुख प्राप्त नहीं होता फिर परमधाम उसे प्राप्त हो इस बातकी कौन आशा ॥ ३१ ॥

मू०--एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

दोहा--कर्मयोग बहुविध कह्यो वेद अतमे एह ।
वे सब कर्मनु होत हैं, कारे तिन छूटै देह ॥ ३२ ॥

टी०--हे पार्थ मैंने जो कर्मयोग और उसके भेद कहेहैं उस कर्मयोगके बहुतसे प्रकार (भेद) ब्रह्म = वेदके मुख = अंतमें कि वा पूर्वकांडमें कहेहैं । वे सब कर्मयोग द्रव्यार्जनादिकर्मसे ही होसकतेहैं सो तुम भी यदि द्रव्यार्जनादिकरके उन कर्मयोगोंका ज्ञात्वा=अनुष्ठान करोगे तो संसारसे मुक्त होजाओगे = देहसंबंध छूट जायगा ॥ ३२ ॥

मू०--श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

दोहा--द्रव्यभागतों कर्ममें ज्ञानभाग बहु लागु ।
क्रियाभागका ज्ञान ही फल है जासु अगाधु ॥ ३३ ॥

टी०--कर्मयोगमें तीन भाग होतेहैं एक तो द्रव्यभाग यथा घृतादि, द्वितीय क्रिया भाग यथा होमादि (घृतादिको अग्न्यादिमें डालना), तृतीय ज्ञानभाग यथा मैं जीव नित्य हूं अणु हूं निःसंग हूं करने करानेवाला अंतर्यामी भगवान् श्रीनारायण है यह कर्तृता भी प्रकृतिके गुणोंके संगसे है कुछ केवल जीवस्वरूपप्रयुक्त नहीं इत्यादि । यह सब ज्ञानकी बातें प्रथम निरूपण करचुकाहूं । कर्मके इन तीनोंभागोंमेंसे ज्ञानभागही

श्रेष्ठ है क्यों कि समग्र कर्मकी ज्ञानमें ही समाप्ति है अर्थात् कर्मका फल ज्ञान ही है इससे ज्ञानभाग ही श्रेष्ठ है।

यहांपर ऐसा अर्थ नहीं करना कि कर्ममात्र द्रव्यमय है तदपेक्षया ज्ञानरूपी यज्ञ ही श्रेष्ठ है सो ज्ञान ही सपादन करना चाहिए कर्म नहीं करना इति, क्यों कि यहांपर कर्म योगका ही प्रकरण है और भगवान् आगे पीछे कर्मयोगके अनुष्ठानकेलिए ही कहते हैं इससे पूर्वापर विरोध पडेगा इसहेतु यही अर्थ शुद्ध है कि कर्ममें द्रव्यभागकी अपेक्षा ज्ञानभाग श्रेष्ठ है। और कर्मसे जबतक अंतःकरण शुद्ध नहीं होगा तबतक ज्ञान भी सिद्ध हो नहीं सकता इससे यहां कर्मनिषेधमें भगवान्का तात्पर्य नहीं॥३३॥

मू०--तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ ३४॥

दोहा--सेवा करि जब पूछिहो ज्ञानी कहिहैं तोहि।
अबलो आत्मस्वरूपकी ज्ञान दिऔ हौं जोहि। ३४॥

टी०--हे पार्थ मैंने जो तुझे "अविनाशि तु तद्विद्धि" यहांसे लेकर "एषा तेऽभिहिता सांख्ये" यहांतक जीवस्वरूपके ज्ञानका उपदेश दिआहै इसी ज्ञानका ज्ञानीलोग तुझे तब उपदेश करेंगे जब तू उनके पास जाकर प्रथम साष्टांग प्रणाम करेगा फिर उनकी सेवा करेगा फिर उनसे इसज्ञानके लिए प्रश्न करेगा यह ज्ञान ऐसा प्रशस्त है। श्रुति भी कहती है-'स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' भगवत्ने तो अर्जुनको प्रेमवश सहज हि मुफ्तमें वह ज्ञानरूपी अलौकिक रत्न देदिया यह सब उसकी दयालुताका विलास है॥ ३४॥

मू०--यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यऽशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यऽथो मयि॥३५॥

दोहा--ज्ञानपाय उह पुनि सखे इह तोहि मोह न होइ।
मेरे अपने तुल्य तब लखिहौ जीव है जोइ॥ ३५॥

टी०--हे पांडव उस पूर्वोक्त ज्ञानको पाकर तू फिर इसप्रकारके अहंता ममतादिरूप मोहको प्राप्त नहोगा और उस ज्ञानके प्रभावमे समग्रजीवोंको तू अपने और मेरे तुल्य देखेगा = जानजायगा क्यों कि जीवोंका जो कुछ भेद है वह प्रारब्धवशसे प्राप्त उत्तमाधमदेहके भेदमें ही भेद है जीवोंके स्वरूप तो सबके एकसे ही हैं यथा इंद्रमहेंद्रादिके शरीरमें रहनेवाला जीव नित्य है अणु है भगवदंश है स्वयंप्रकाश है ऐसे ही कीटके शरीरमेंभी रहनेवाला जीव नित्य है अणु है भगवदंश है स्वयंप्रकाश है स्वरूपमें कुछ भी भेद नहीं हां इंद्रका शरीर प्रारब्धवश अत्यंत उत्तम है इससे उसको भोगसामग्री बहुतसी प्राप्त है तथा चित्तके शुद्ध होनेसे उसका ज्ञान भी बडा निर्मल तथा अप्रतिहत है। और कीटका शरीर प्रारब्धवश अत्यंत अधम है इससे उसको भोगसामग्री

भी अल्प और निकृष्ट प्राप्त हुई है तथा चित्तके मलिन होनेसे कीटका ज्ञान निर्मल तथा अप्रतिहत नहीं किं तु मलिन और अल्प है, ये सब उस उस देहके संबंधके फल हैं इससे जीवस्वरूपमें कोईप्रकारका भेद नहीं होसकता । और श्रुतिस्मृति भी जहां जीवकी एकताको कहती हैं वहां अनेक जीववाद ही सिद्धांत होनेसे जीवका एकतामें तात्पर्य नहीं किं तु जीवोंके स्वरूपकी एकतामें ही तात्पर्य है जाने सभी जीवोंके स्वरूप एकसे हैं) और इंद्रावस्थामें भी जीवके पूर्ण स्वरूपका प्रादुर्भाव नहीं होता किं तु परमधाम श्रीवैकुंठमें ही पहुंचनेसे जीवोंके पूर्णस्वरूपका प्रादुर्भाव होताहै यही वैष्णवसिद्धान्त है। और ऊपर लिखा ही इसश्लोकका यथार्थ अर्थ है।

यदि कोई यहांपर कहे कि " येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि " इस वाक्यका यही अर्थ है कि तू सकल भूतोंको अपनेमें और मेरेमे देखेगा इससे जीवको व्यापकता प्राप्त हुई सो जीव भी व्यापक (विभु) है यह कहना सर्वथा अशुद्ध है क्यों कि प्रथम महाभारतराजसूयप्रकरणमें अर्जुनने स्वयं श्रीकृष्णचंद्रको परमात्मा कहा है और परमात्मा व्यापक है भूतव्याप्य हैं इस वातको तो साधारणलोगभी जानते हैं फिर अर्जुन न जानता हो यह कैसे संभावना होसकतीहै ? तब श्रीकृष्णचंद्रकी व्यापकताको जाननेवाले अर्जुनके प्रति श्रीकृष्णचंद्र अपनी व्यापकताको जताएं यह व्यर्थ है और सिद्धसाधनता दोष है और परमात्माकी व्यापकता कुछ वडा गंभीर विषयभी नहीं जो ऐसे युद्धके समय भगवान् ऐसी २ वातें करें।

और जीवकी भी व्यापकतामें भगवान्का तात्पर्य नहीं क्यों कि भगवान् स्वयं " वासांसि जीर्णानि " इत्यादिसे जीवको प्रथम ही अणु सिद्ध करचुके हैं उससे यहां विरोध पडेगा । और " भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मनि " इस वाक्यका आप क्या कैसे अर्थ करतेहैं सो भी कहिए--यदि ज्ञानीपुरुष भूतनाम पंचमहाभूतोंको वा पंचसूक्ष्मभूतोंको अपनेमें देखेगा तो भूतोंको सत्यत्व प्राप्त होगा क्यों कि ज्ञानीके ज्ञानका जो विषय प्रधान होगा वह अवश्य सत्य ही होगा अन्यथा वह ज्ञानी ही क्यों कर कहाए और भूतोंको आप सत्य तो मानते नहीं मिथ्या मानते हैं इससे यह भी अर्थ ठीक नहीं।

यदि भूतशब्दसे जीवोंको लेतेहो तो प्रथम तो यहांपर 'भूतानि' इस बहुवचनसे जीवोंको अनेकता प्राप्त हुई और तुम तो जीवका एक ही मानते हो यह दोष पडा। यदि अनंतजीववादको भी आप पकडोगे तो "आत्मनि भूतानि द्रक्ष्यसि" ऐसा वाक्य होनेसे आपको आधाराधेयभाव माननापडेगा सो भी वनता नहीं क्योंकि आप सभी जीवोंको विभु मानतेहो एक विभु द्वितीय विभुका आधार नहीं होसकता क्योंकि पदार्थ स्वापेक्षया छोटे पदार्थका ही आधार होसकताहै अन्यथा अर्जुनशरीरवर्ती

जीवकी अपेक्षा और जीवोंको आपको छोटा मानना पडेगा यह भी उचित नहीं इस- हेतु यदि आप जीवकी विभुतामें इस वाक्यका तात्पर्य मानोंगे तो इसवाक्यका कोई भी अर्थ उपपन्न नहीं होसकता।

यदि कहो कि तुम इसवाक्यका उक्त अर्थ कैसे करतेहो तो कान लगाकर सुनो— आत्मनीति, 'विषयत्वं सप्तम्यर्थस्तथा च येन नाम आत्मविषयकज्ञानेन भूतानि द्रक्ष्यसि अर्थात् स्वसदृशानि भूतानि द्रक्ष्यसि' ऐसा अर्थ करेंगे, अर्थात्—'आत्मनि' तथा 'मयि' इस सप्तमीका विषयता अर्थ है और 'येन' यहां यत् शब्द उक्तज्ञानका बोधक (परामर्शक) है तब तो 'येन आत्मनि' इसका स्वात्मविषयक ज्ञानसे (स्वा- त्मविषयकज्ञानेन) ऐसा अर्थ हुआ इसका भी स्वात्मज्ञानसे ऐसा अर्थ बना, तब जैसे कोई कहताहै कि मुझे तो आप पुत्रदृष्टिसे देखिए तो इसवाक्यका यही अर्थ सभको माननापडताहै कि मुझे आप पुत्रतुल्य समझिए इसीतरह यहां पर भी तू सभ जीवोंको स्वात्मज्ञानसे देखेगा इसवाक्यका भी यही अर्थ मानना पडेगा कि तू अपने जीवात्माके तुल्य ही और सभ जीवात्माओंको जानजाएगा, क्यों कि स्वरूपसे सभी जीव तुल्य ही हैं।

एवं 'मयि द्रक्ष्यसि' इस वाक्यका भी यही अर्थ है कि सभ जीवोंको मरेतुल्य जानजायगा। यद्यपि सर्वात्मना जीव भगवत्के तुल्य नहीं होसकते तथापि यथा पर- मात्मा नित्य है तथा जीव भी नित्य हैं इत्यादि सादृश्य तो जीव और परमात्माका भी हईहै इसीसे 'मयि' यह भी कहाहै। यही सिद्धांतार्थ प्रथम ही लिखदिआहै यही अर्थ उचित है ॥ ३५ ॥

मू०—अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

दोहा—सभ पापिनसों अधिक तुम यदि पापिनसरताज।
सकलपापके सिंधुको तरिहौ ज्ञानजहाज ॥ ३६ ॥

टी०—यदि तुम सभ पापिओंसे बढकर भी पापी हो तो भी इसज्ञानरूपी जहाजसे इस समग्र पापोंके समुद्रको तरजाओगे, यह ज्ञान ऐसा उत्तम है ॥ ३६ ॥

मू०—यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

दोहा—अग्निकरे जस काष्ठको तुरतहि भस्मसमान।
ज्ञान अग्नि सभ कर्मको भस्म करै तस जान ॥ ३७ ॥

टी०—हे अर्जुन यथा बढाहुआ अग्नि काष्ठको भस्म करडालता है तथा ज्ञानरूपी अग्नि समग्र कर्मोंको भस्म करदेताहै अर्थात् ज्ञानानंतर संचितकर्मोंका फल प्राप्त

नहीं होता। भगवत्की ओरसे जीवको माफी मिलजातीहै यह भी संचित कर्मोंकी ही ज्ञानसे भस्म होतीहै प्रारब्धकर्मोंका तो भोगसे ही क्षय होताहै कहा भी है-"नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" इति। प्रारब्धकर्म उन कर्मोंका नाम है जिन कर्मोंके फलभोगनेका भगवत्की ओरसे जीवको आज्ञा (हुकुम) होचुकी है। और संचित-कर्मोंका भी आजकलहका गप्पी ज्ञान भस्म नहीं करसकता किंतु जैसा कुछ जनका-दिका ज्ञान था वैसा ही ज्ञान भस्म करसकताहै। इससे गप्प ज्ञानके अभिमानमें फँसना अच्छा नहीं अन्यथा कुछ अनिष्ट ही होगा॥ ३७॥

मू०-न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ ३८॥

दोहा-ज्ञानतुल्य शोधक नहीं कोउहु परम पुनीत।
आपहि पावत योगसों नर कर काल अतीत॥ ३८॥

टी०-ज्ञान तुल्य पवित्र=शोधक=पापनाशक पदार्थ और कोई नहीं उस ज्ञानको पुरुष कर्मयोगका अनुष्ठान करता करता कुछ कालमें स्वयं ही प्राप्त होजाताहै। यह ज्ञान आत्मविषयक ज्ञान है॥ ३८॥

मू०-श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ ३९॥

दोहा-संयम श्रद्धा दोउसों ज्ञान पाय नर लोय।
ज्ञान लह्यो जिन मुक्ति तिस अल्पकालमें होय॥ ३९॥

टी०-उक्तज्ञानको गुरुमें श्रद्धारखनेवाला तथा जितेंद्रिय पुरुष ही प्राप्त करसकता है और उस ज्ञानको प्राप्त होकर उसज्ञानमें तत्पर रहनेवाला अल्प ही कालमें अर्थात् प्रारब्धभोगकी समाप्ति होते ही शांति=परमधामको प्राप्त होजाताहै॥ ३९॥

मू०-अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ ४०॥

दोहा-मतिश्रद्धा निश्चय नहीं जिन, हो नष्ट हु तौन।
सिद्ध न हो इह लोकहु स्वर्ग मोक्षकी कौन॥ ४०॥

टी०-अज्ञ=जिसको ज्ञानप्राप्त नहीं हुआ, और जिसे ज्ञान प्राप्त हुआ तथापि उसमें श्रद्धा नहीं किं वा निश्चय नहीं किंतु संशय है ये सभ नाशको प्राप्त होतेहैं क्यों कि ऐसे पुरुषका यही लोक सिद्ध नहीं होता और स्वर्ग भी सिद्ध नहीं होता फिर मोक्ष-की तो कथा ही क्या॥ ४०॥

मू०-योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥ ४१ ॥

दोहा--कर्मयोगसे ज्ञानहो तासों संशय नाहि ।
जितचित तिस विद्वानको नाहि न कर्म बँधाहि ॥ ४१ ॥

टी०--कर्मयोग जिस पुरुषका ज्ञानरूपेण परिणत होगया हो अर्थात् कर्मयोगकरते करते जिसे ज्ञान होगया हो और उस ज्ञानसे समग्रसंशय निवृत्त होगए हों और चित्त शान्त तथा उपदिष्टविषयमें दृढ है उस पुरुषकेलिए कर्म बंधनरूप नहीं होते ॥४१॥

मू०-तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

दोहा--ज्ञानखड्गसों काटिकै मनको संशय जात ।
कर्मयोग करिवे हित बांधो कटिपट तात ॥ ४२ ॥

टी०-हे भारत विना कर्मयोगके पुरुषार्थ प्राप्त नहीं होता इसहेतु अज्ञानसे उत्पन्न हुए हृदयमें रहनेवाले आत्मविषयक अपने संदेहको ज्ञानरूपी तलवारसे काटकर उठ= उद्यत हो, उठकर कर्मयोगका अनुष्ठान कर ॥ प्रथम कर्मयोगको कहकर फिर उसकी प्रशंसाकर यहांपर पतितपावन श्रीराधावक्रारविंदार्क श्रीभगवान् अध्यायको समाप्त करतेहैं तस्मादिति ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीताका तथा तत्त्वार्थसुदर्शनीटीकाका चतुर्थाध्याय समाप्त हुआ ।



॥ श्रीः ॥

अथ पञ्चमाध्यायः ।

अर्जुन उवाच-

सू०-संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

दोहा-ज्ञानयोग अरु कर्मको योग कहे दउ राज ।
इन दोनोंमें श्रेष्ठ जो सो कहु निश्चय आज ॥ १ ॥

टी०-चतुर्थाध्यायमें कर्मयोगकी ज्ञानस्वरूपता कर्मयोगके भेद और कर्मयोग ज्ञानांशको प्रधानता कही। अब पंचमाध्यायमें ज्ञानयोगकी अपेक्षा भी कर्मयोगसे जीवात्मस्वरूपसाक्षात्कार शीघ्र होताहै यह तथा कर्मयोगमें जो ज्ञानांश है उनका श्रीभगवान् प्रतिपादन करेंगे ॥

संन्यासमिति-हे भगवन् श्रीकृष्णचन्द्र आप कभी संन्यास = ज्ञानयोगका प्रतिपादन करतेहैं कभी कर्मयोगका प्रतिपादन करतेहैं इससे मुझे यह निश्चय नहीं हुआ कि मैं कर्मयोगका अनुष्ठान करूं किं वा ज्ञानयोगका अनुष्ठान करूं इसहेतु आप कृपा कर यह कहिए कि कर्मयोग और ज्ञानयोगमें श्रेष्ठ कौन है जिसका मैं अनुष्ठान करू ॥ १ ॥

श्रीभगवान् उवाच-

सू०-संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

दोहा-ज्ञानयोग अरु कर्मको योग दऊ है श्रेष्ठ ।
ज्ञानयोगसों कर्मको योग हि तिनमें ज्येष्ठ ॥ २ ॥

टी०-हे पार्थ सन्यास = ज्ञानयोग तथा कर्मयोग ये दोनों ही श्रेष्ठ हैं दोनोंसे ही जीवात्मसाक्षात्कार होसकताहै तथापि कर्मसंन्यास = ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोग ही उत्तम है क्यों कि कर्मयोगमें ज्ञानका भी एकभारी अंश है और ज्ञानयोगमें तो कर्मका तनिक भी अंश नहीं ॥ २ ॥

सू०-ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

दोहा—नहिं इच्छा अरु द्वेष जग द्वंद्व नहीं अरु जोय ।
सहज हि छूटे बंधसों सदा ज्ञाननिधि सोय ॥ ३ ॥

टी०-जो कर्मयोगका अनुष्ठान करनेवाला कर्मयोगान्तर्गत ज्ञानांशसे प्राप्त आत्मदर्शनसे तृप्त होकर किसी पदार्थकी इच्छा न करे तथा किसीका द्वेष न करे शीतोष्ण सुखदुःखादि द्वंद्वोंका सहन करे वह सहज ही संसारबंधसे मुक्त होजाताहै ॥ ३ ॥

मू०-सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

दोहा—ज्ञानयोग अरु कर्मको बालक भिन्न बताय ।
एकसाथ फल दोउको आतमदर्शन पाय ॥ ४ ॥

टी०-सांख्यनाम ज्ञानका है, योग नाम कर्मयोगका है । जो लोग कहते हैं कि कर्मयोगका फल ज्ञानयोग है ज्ञानयोगका ही फल आत्मसाक्षात्कार है इससे सांख्य योग=ज्ञानयोग और कर्मयोग परस्पर भिन्न भिन्न हैं वे लोग बालक=मूर्ख हैं क्यों कि दोनोंका एक ही फल है अर्थात् जो ही ज्ञानयोगका आत्मसाक्षात्कार फल है वही कर्मयोगका भी फल है क्यों कि कर्मयोग केवल जैसे कैसे कर्मकरनेका नाम नहीं किंतु आत्मस्वरूपज्ञानपूर्वक कर्म करनेका नाम है इससे कर्मयोगमें भी एकभाग ज्ञानका ही है अतएव कर्मयोग ज्ञानयोग इनमेंसे एकका भी अनुष्ठान करनेसे दोनोंका फल जो आत्मदर्शन है वह प्राप्त होजाताहै ॥ ४ ॥

मू०-यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

दोहा—ज्ञानयोगसों सिद्ध जो कर्महु सो तहि होइ ।
दोनोंको इकरूप जो जानै पंडित सोइ ॥ ५ ॥

टी०-यहांपर स्थानशब्द फलका बोधक है । पूर्वोक्त अर्थको ही स्पष्ट कहतेहैं-यदिति, जो आत्मसाक्षात्काररूप फल सांख्यैः=ज्ञानिओंको प्राप्त होताहै वही योगैः=कर्मयोगिओंको भी प्राप्त होताहै, दोनोंसे एक ही फल प्राप्त होनेके कारण जो ज्ञानयोग और कर्मयोगको एकरूप समझताहै वही समझता है अर्थात् वही बुद्धिमान् है ॥ ५ ॥

मू०-संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

दोहा--कर्मयोगविन ज्ञानको कठिन हि कोई पात ।
कर्मयोगसों ब्रह्मको जितमन सहजहि जात ॥ ६ ॥

टी०--हे पार्थ अयोगतः = कर्मयोगके विना संन्यास=ज्ञानयोग दुःखसे भी प्राप्त होना कठिन है । योगयुक्त = कर्मयोग करनेवाला तौ अल्पकालमें ही सहज ही ब्रह्म = जीवात्माको प्राप्त होजाताहै अर्थात् कर्मयोगीको जीवात्मसाक्षात्कार सहज ही होजाता है । कर्मयोगको छोडकर ज्ञानयोगमात्रमें यत्न करनेवाला तो बडे दुःख और बहुत कालमें आत्मदर्शनको प्राप्त होताहै ॥ ६ ॥

मू०--योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

दोहा--जित चित इन्द्रिय, मानतो जीवनको इकसार ।
कर्मयोगकर सो नही बँधतो कर्म निहार ॥ ७ ॥

टी०--कर्मयोगयुक्त पुरुष परमपुरुषाराधनरूप विशुद्ध कर्मका अनुष्ठान करता करता अपने मनको शुद्ध करलेताहै अतएव मनको जीत भी लेताहै मनको जीत-कर इंद्रियोंको भी जीतलेताहै जीतना यहांपर विषयोंसे रोकना है । तदनंतर वह पुरुष उत्तमाधमदेहकृत जीवोंके भेदोंको छोडकर समग्रजीवोंको एकस्वरूप जानलेताहै ऐसा ही अनुसंधान करताहै । ऐसा पुरुष कर्मको करके भी उसमें बँधता नहीं अर्थात् उसे कर्म बंधनरूप नहीं होता, । यहांपर "सर्वभूतात्मभूतात्मा" इसका समग्र भूतोंके आत्मभूत है = आत्माओंके सदृश है आत्मा जिसका ऐसा अर्थ करना, यही ठीक है । इस पदका एकजीववादमें किं वा जीवविभुतावादमें तात्पर्य नहीं सम-झना ॥ ७ ॥

मू०--नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्छृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन्स्वपन् श्वसन् ॥ ८ ॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

दोहा--देखत सूघत सुनत औ सोवत खावत जात । (द्विनक)
अपनेको केवल मती म नों कर्ता तात ॥ ८ ॥
बोलत छोडत लेत चख खोलत मूंदत वार ।
इंद्रिय निज निज कर्ममे लगती इति चितधर ॥ ९ ॥

टी०--देखताहुआ, सुनताहुआ, स्पर्शकरता हुआ, सूंघता हुआ, खाताहुआ, चलता हुआ, सोताहुआ, श्वासलेताहुआ, बोलताहुआ, पदार्थको छोडताहुआ पकडता-

हुआ, नेत्रको खोलताहुआ तथा मूंदताहुआ, इत्यादि क्रियाओंको करताहुआ ज्ञानी यही जाने कि इंद्रियोंके जो शब्दस्पर्शादि विषय हैं उनमें इंद्रियें ही प्रवृत्त होतीहैं अतएव इंद्रियें ही सब कर्म करती हैं मैं कुछ कर्म नहीं करता अर्थात् कर्मकर्ता मैं ही केवल नहीं किंतु कर्तृता गुणसंग तथा इंद्रियादि प्रयुक्त है क्यों कि कर्तृत्वजीव स्वरूपप्रत्युक्त नहीं। इससे यह भी नहीं जानना कि जीवमें कर्तृत्वका निषेध किआहै। इसविषयको प्रथम लिखचुकाहूं। ये सब अनुसंधानकरनेकी बातें हैं ॥ ८ ॥ ९ ॥

मू०—ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

दोहा—जानत जो इंद्रिय करत कर्म, करौं हौं नाहि।
करहु कर्म भीगै न जो पापवारिके माहिं ॥ १० ॥

टी०—बृहत्वात् प्रकृति भी ब्रह्म है इसहेतु ब्रह्मशब्द प्रकृतिका भी वाचक है आगे भी कहेंगे 'मम योनिर्महद्ब्रह्म' इति। और इंद्रियें भी परंपरया प्रकृतिकी ही परिणामभूत कार्य हैं इसहेतु यहांपर ब्रह्मशब्द इंद्रियोंका ही बोधक है, उन इंद्रियोंमें समग्र कर्मको रखकर अर्थात् इंद्रियोंको कर्ता समझकर निष्काम होकर जो पुरुष कर्म करताहै वह पुरुष यथा जलमें कमलपत्र भीगता नहीं तथा पापरूपी पंकसे भीगता नहीं, अर्थात् उसके सब पाप नष्ट होजातेहैं ॥ १० ॥

मू०—कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ ११ ॥

दोहा—वपुसों मनसों बुद्धिसों इंद्रियसों हतराग।
कर्म करैं मनशुद्धिहित फलइच्छाको त्याग ॥ ११ ॥

टी०—चित्तको शुद्ध करनेकेलिए योगीलोग निष्काम होकर शरीरसे मनसे बुद्धिसे तथा केवल इंद्रियोंसे भी कर्मयोगका अनुष्ठान करतेहैं।

देवतांतरका उद्देश्य रखनेवाले यज्ञयागादिक केवल मनसे किं वा शरीरसे नहीं होसकते क्यों कि उनमें तो मन बुद्धि शरीर इंद्रियें इन सबनकी मिलकर अपेक्षाहै इससे प्रतीत होताहै कि यहांपर भगवानका अभिप्राय शुद्धसात्त्विक परमार्थभूत भगवत्कैंकर्यरूपी कर्मसे है।

शरीरसे भगवत्सेवा करना, मनसे भगवत्का ध्यान करना, बुद्धिसे भगवान् श्रीनारायणको परतत्त्व सर्वेश्वर अंतर्यामी अपना प्रभु समझना, जिह्वासे उसका नामसंकीर्तन करना इत्यादिरूप ही यहांपर कर्मयोग कहाहै कहा भी है—

"क्व नाकपृष्ठगमनं पुनरावृत्तिलक्षणम् ।
क्व जपो वासुदेवेति मुक्तिबीजमनुत्तमम् ॥"

अर्थात् स्वर्गजाना भगवन्नामजपकी बराबरी नहीं करसकता क्यों कि विनाशी है और भगवन्नाम जप तो मुक्तिका बीज है । तथा-

"जिह्वे कीर्तय केशवं मुररिपुं चेतो भज, श्रीधरं
पाणिद्वन्द्व समर्चयाच्युतकथां श्रोत्रद्वय त्वं शृणु ।
कृष्णं लोकय लोचनद्वय, हरेर्गच्छाङ्घ्रियुग्मालयं,
जिघ्र घ्राण मुकुन्दपादतुलसीं मूर्धन्नमाधोक्षजम् ॥"

अर्थात् हे जिह्वे तू भगवान्नाम संकीर्तन कर, हे चित्त तू मुरारिका ध्यानकर, हे हस्तद्वय तू श्रीधरकी अर्चाकर, हे श्रवणद्वय तू अच्युतकथाको सुन, हे नेत्रद्वय तू श्रीकृष्णको निहार, हे पादद्वय तू हरिमंदिरको, चल, हे नासिके तू भगवत्प्रसादी तुलसीको सूंघ, हे सिर तू भगवत्को प्रणामकर । तथा-

नित्यशूरिता तव बनै जो निज इंद्रियग्राम ।
लोकविषयविष सौ रुकै जुरै रामपदधाम ॥ ११ ॥

मू०-युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कर्मकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

दोहा-फल तज कर्म निबाहके स्वदर्शनसुख पात ।
फल इच्छासो कर्म कर पुनि पुनि भवमें आत ॥ १२ ॥

टी०-आत्मव्यतिरिक्तबाह्यपदार्थको न चाहनेवाला योगीपुरुष कर्मफलकी इच्छाको त्यागकर कर्मयोगका अनुष्ठान करके स्वात्मदर्शनरूपी शांतिको प्राप्त होताहै और अयुक्त=बाह्यपदार्थकी इच्छा रखनेवाला पुरुष कर्मफलप्राप्तिकी अभिलाषासे कर्मको करके बंध जाताहै=बारंबार जन्ममरणपूर्वक संसारको प्राप्त होताहै ॥ १२ ॥

मू०-सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

दोहा-नवद्वार यह देह ही करै कर्मको तात ।
इस निश्चयसों कर्मकर जीव सदा सुख पात ॥ १३ ॥

टी०-जो पुरुष समग्र कर्मोंका संन्यास देहमें करदेताहै अर्थात् देह ही समग्र कर्मोंको करताहै मैं कुछ न करता ही हूं न कराताही हूं ऐसा जो निश्चय करलेताहै वह बहुत सुखको पाताहै अर्थात् उसका संसारबंध निवृत्त होजाताहै । नवद्वारपुर देहका नाम है । देहमें दो नेत्र दो कान दो नासा एक मुख एक गुदा एक उपस्थ ये नौ द्वार हैं ।

यहांपर मधुसूदनसरस्वतीजी संन्यासशब्दसे सर्वात्मना कर्मपरित्यागका गीत गाते हैं यह सभ अशुद्ध है । मधुसूदनजी इतना भी नहीं विचार करते कि भगवान् वारं-वार कर्मयोगका विधान करते आतेहैं फिर यहां उसका निषेध कैसे करेंगे उनने श्लोक-के अन्वयकी ओर भी ध्यान नहीं दिआ, ' सर्वकर्माणि मनसा नवद्वारे पुरे संन्यस्य देही ससुखमास्ते' ऐसा इसश्लोकका अन्वय है । इसपद्यसे भी स्पष्ट प्रतीत होताहै कि जीवात्मा अणु है अन्यथा ' पुरे देही " ऐसा भगवान् न कहते ॥ १३ ॥

मू०–न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

दोहा--कर्मकर्तृता कर्मफल जीवहेतु इन नाहि ।
हेतु अनादी वासना कर्म कराय सदा हि ॥ १४ ॥

टी०–प्रभुशब्द यहांपर स्वाभाविकस्वरूपापन्न जीवका वाचक है प्रभु=जीव कर्म कर्मकर्तृता तथा कर्मफलप्राप्ति इनकी रचना नहीं करता अर्थात् इनकेलिए जीव-स्वरूपेण यत्न नहीं करता किं तु स्वभाव=अनादिवासना ही इनमें प्रवृत्त होतीहै अर्थात् कर्मादिकनमें अनादिवासना ही हेतु है ।

जैसे घटका कुलाल ही कर्ता है तथापि कुलाल स्वरूपसे कर्ता नहीं अन्यथा घट-करणदंडादिके विना स्वरूपमात्रसें ही कुलाल घटको बनाडाले । किं तु घटकारण दंडादिसंयोगप्रयुक्त ही कुलालमें कर्तृताहै तथापि कर्ता कुलाल ही कहाताहै ऐसे यद्यपि कर्मका कर्ता जीव ही है तथापि वह कर्तृता जीवस्वरूपप्रयुक्त नहीं अन्यथा जीव शरीरादिके विना भी कर्म करसके । किं तु शरीरादिसंयोगप्रयुक्त ही जीवमें कर्तृताहै इसी अभिप्रायसे भगवान् जीवको अकर्ता बता रहेहैं सो यहांपर स्वतंत्र कर्तृताका तथा जीवस्वरूपप्रयुक्तकर्तृताका ही निषेध है सर्वात्मना कर्तृताका निषेध नहीं । यह मूर्ख भी जानतेहैं कि जडपदार्थ कुछ नहीं करसकता करना चेतनका ही धर्म है और जो जिसविषयको जानताहै वही उसविषयकी इच्छा करताहै वही उसकेलिए यत्न करताहै तदनंतर वही उसकेलिए क्रियाको करताहै और जानना प्रभृति तो सर्वात्मना जीवका ही धर्म है इससे कर्मकरना भी जीवका ही धर्म है इससे जीव अवश्य कर्ता है किं तु शरीरादिके संयोगसे ही जीव कर्ता बनता है ।

यहांपर मधुसूदनजीने प्रभुशब्दका अर्थ परमात्मा किआहै सो उचित नहीं क्यों कि यहांपर जीवमें स्वाभाविककर्तृताके निषेधका प्रकरण है कुछ ईश्वरमें कर्तृताके निषेधका प्रकरण नहीं । जीव यद्यपि सकल प्रपंचका प्रभु नहीं तथापि इंद्रियादिसे प्रधान होनेके कारण उनका प्रभु ही है ॥ १४ ॥

मू०-नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

दोहा-कोईके सुखदुःखको जीव बिगाडै नाहि ।
ज्ञान ढप्यो अज्ञानसों तासों मोह महाहिं ॥ १५ ॥

टी०-यहांपर भी विभुशब्द स्वाभाविकस्वरूपापन्न जीवका ही बोधक है । और विभुशब्दके प्रयोगसे जीवको व्यापक भी नहीं समझलेना किं तु प्रधानत्वात् जीवको विभुकहाहै । विभु=जीव स्वयं इष्टभूतपुत्रकलत्रादिके पाप=दुःखको नष्ट नहीं करता तथा अनिष्टभूतशत्रुके सुकृत=सुखको भी नष्ट नहीं करता अर्थात् यह जीव स्वरूपेण किसी-के न अनुकूल ही है न प्रतिकूल ही है । अनुकूलता तथा प्रतिकूलता ये सभ प्रकृतिसं-गके कार्य हैं यही कहते हैं--अज्ञानेनेति, जीवका यथार्थ ज्ञान अज्ञान=ज्ञानविरोधी प्राचीनकर्मसे ढका हुआहै अर्थात् प्राचीन पाप यथार्थज्ञानको प्रकट नहीं होनेदेते इस हेतु जीव मोहको प्राप्त होतेहैं सो प्राचीनवासनानुकूल जीव कोईके अनुकूल कोईके प्रति-कूल होतेहैं अपने स्वरूपभावसे नहीं ॥ १५ ॥

मू० -ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

दो०-ज्ञानसाध जिन आपनो नष्ट कियौ अज्ञान ।
रविसम करै प्रकाश वह स्वाभाविक तिन ज्ञान ॥ १६ ॥

टी०-जिन पुरुषोंने आत्मविषयक नित्यप्रति अभ्यस्त ज्ञानसे अपना अनादिकालप्रवृत्त ज्ञान विरोधी वासनारूप अज्ञान नष्ट करदिआहै उनका तत् =ज्ञान सूर्यके समान परम प्रकाशक अर्थात् स्वच्छ होजाताहै । भगवान् प्रथम भी कहचुके हैं--"सर्वं ज्ञान प्लवेनैव" "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि" "न हि ज्ञानेन सदृशम्" इत्यादि ।

यहां "तेषाम्" यह ज्ञानिओंको बहुत्व कहनेसे स्पष्ट प्रतीत होताहै कि जीव अनेक हैं अन्यथा भगवान् तत्वोपदेश करनेलगे " तेषाम् " ऐसा न कहते । तथा " तेषां ज्ञानम् " ऐसा कहनेसे यह भी स्पष्ट सिद्ध होताहै कि ज्ञान जीवका अव्यभिचारी धर्म है कुछ जीव ज्ञानस्वरूप मात्र ही नहीं किंतु ज्ञानस्वरूप होकर भी ज्ञान धर्मवाला भी है ॥ १६ ॥

मू०-तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

दोहा-स्थिरता बुद्धी चित्त जो आत्मज्ञानमें लाय ।
मोक्षयोग्य निजरूपको पापरहित वह पाय ॥ १७ ॥

टी०-यहांपर सभी तत् शब्द पूर्वोक्त अज्ञाननाशक ज्ञानके बोधक हैं तद्बुद्धयः=उसज्ञानमें है अध्यवसाय (निश्चय) जिनका, तदात्मानः=उस ज्ञानमें लगाहै मन

जिनका, तन्निष्ठाः=उसी ज्ञानमें जो स्थिर हैं, तत्परायणाः=वही ज्ञानसे है परायण=प्रयोजन जिनका तथा ज्ञानसे नष्ट होगएहैं पाप जिनके ऐसे पुरुष अपुनरावृत्तिम्=मोक्ष योग्य आत्मस्वरूपको अर्थात् आत्माके शुद्धस्वरूपको प्राप्त होतेहैं, अर्थात् जो लोग मनबुद्धिसे स्थिर होकर आत्मज्ञानका अभ्यास करतेहैं उनीको शुद्धस्वरूप जीवात्माका साक्षात्कार होताहै । यहांपर श्रीभाष्यकार लिखतेहैं "यदवस्थादात्मनः पुनरावृत्तिर्न विद्यते स आत्मा अपुनरावृत्तिः स्वेन रूपेणावस्थितस्तमात्मानं गच्छन्तीत्यर्थः" इति ।

यहांपर मधुसूदनजी जो अद्वैतवादका प्रतिपादन करतेहैं वह सब अनुचित है क्यों कि एक तो यहां कर्मयोग तथा जीवात्मज्ञानका ही प्रकरण है अद्वैतका प्रकरण नहीं तथा अद्वैत कुछ पदार्थ हो तो उसका कुछ प्रकरण भी संभावित होता । दूसरा-"तद्बुद्धयः" इत्यादिशब्दोंका 'तस्मिन् परमात्मनि बुद्धिर्येषां ते तद्बुद्धयः' ऐसा ही मधुसूदनजीको समास करना पडेगा तब तो तत्शब्दमात्रसे परमात्माका परामर्श होगा, 'तद्बुद्धयः' इस समस्तपदसे तो ज्ञानीजीवका ही परामर्श होगा फिर यहां अद्वैत कहांसे आकूदेगा ! । एवं आगेके शब्दोंमें भी जानना । वस्तुगत्या उक्तरीतिसे यहांपर तत्शब्द अज्ञाननाशक जीवात्मज्ञानका ही बोधक है ॥ १७ ॥

मू०-विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

दोहा-ब्राह्मण पंडित हस्ति गौ कूकर भंगी देह ।
इन सबमें इकरूपही लखै जीवको एह (ज्ञानी) ॥ १८ ॥

टी०-स्वात्मविषयक ज्ञान होनेसे सकलजीवविषयक ज्ञान होजाताहै क्यों कि सभी जीव स्वरूपेण एकसमान ही हैं भेद जो कुछ है वह सब प्राकृतदेहकृत है हां स्वजीवविषयक तो अपरोक्ष ज्ञान होजाता है परजीवविषयक अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता किंतु परोक्ष ज्ञान होताहै । सकलजीवोंकी समानरूपताको अब भगवान् श्रीवासुदेव कहते हैं-विद्येति, विद्याविनयसे संपन्न ब्राह्मणके गौके हस्तिके कूकरके तथा चांडालके देहमें रहनेवाले जीवको पंडितलोग एकस्वरूप ही देखतेहैं क्यों कि जीवमात्र देहमात्रमें एकस्वरूप ही हैं । भेद केवल शरीरादि तथा प्राचीनवासनाके कारण प्रतीत होताहै । ब्राह्मणदेह तथा चांडालादिदेहका तो वैषम्य लोकप्रसिद्ध ही है इससे देहोंकी समतासे यहां अभिप्राय नहीं तथा देह एकसम हो भी नहीं सकते किसीका देह गोरा किसीका काला इत्यादि स्पष्ट ही भेद हैं । और तो क्या एक जीवका एक देह भी सदा एकरूप नहीं रहता अवस्थाभेदसे घटता बढता रहताहै । इससे यहांपर जीवात्माओंकी ही समतासे अभिप्राय है और कोई भी अर्थ ठीक नहीं बनेगा, इससे यहां-

पर यह शंका नहीं करनी कि, जीवका तो यहांपर नाम भी नहीं क्यों कि जीवका प्रकरण है इससे जीवात्माओंकी ही समतामें तात्पर्य है ॥ १८ ॥

मू०–इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

दोहा–सकल जीवको एकसम जानें तिन भव नाहिं ।
ब्रह्मनिष्ट है वे सदा, जीवरूप इकसाहिं ॥ १९ ॥

टी०–यहां " समं ब्रह्म " यह ब्रह्मशब्द जीवका बोधक है परमात्माका बोधक नहीं । यथा भगवत् शब्द मुख्यरूपेण श्रीनारायणका ही वाचक है तथापि श्रेष्ठताके कारण गुरु मुनीश्वरादिकेलिए भी भगवत्शब्दका प्रयोग किआजाताहै कहा भी है–

" ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः ।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥
एवमेष महाशब्दो मैत्रेय भगवानिति ।
परमब्रह्मभूतस्य वासुदेवस्य, नान्यगः ॥
तत्र पूज्यपदार्थोक्तिपरिभाषासमन्वितः ।
शब्दोयं नोपचारेण, ह्यन्यत्र ह्युपचारतः ॥ " इति ॥

अर्थात् भगशब्द प्राकृतगुणभिन्न जो ज्ञान शक्ति बल ऐश्वर्य वीर्य तथा तेज हैं उनका वाचक है इसहेतु भगवान् यह शब्द परब्रह्म वासुदेवका ही बोधक है औरके साथ सम्बन्ध नहीं रखता तत्र=परवासुदेवमें ही यह शब्द रूढ है गौण नहीं, अन्यत्र मुनीश्वरादिकनमें इस भगवत् शब्दकी गौणी लक्षणासे प्रवृत्ति (बोधकता) है ।

एवं ब्रह्मशब्दकी भी रूढी परपरमात्मामें ही है तथापि जीव भी नित्यत्वादि धर्मोंसे परमात्माके सदृश है इससे ब्रह्मशब्दका गौणी लक्षणासे जीवकेलिए भी प्रयोग होसकाहै इस हेतु यहांपर ब्रह्मशब्द जीवका ही बोधक है क्यों कि यह प्रकरण जीवका ही है । और ' सृज्यते इति सर्गः ' इस व्युत्पत्तिसे सर्गशब्द संसारका बोधक है । मूलार्थ यथा–

हे पार्थ जिनने सकल शरीरोंमें जीवोंको एकरूप (तुल्य) समझलिआहै साम्यविषयकज्ञानका अभ्यास किआहै उनने संसारको जीतलिआहै अर्थात् उनका संसारबंध निवृत्त होगयाहै क्यों कि ब्रह्म = जीव निर्दोष है तथा सम=समग्र शरीरोंमें एकसमान है इसहेतु उनको एक समान समझना आवश्यक है । जो पुरुष इसरीतिसे समग्र जीवोंको एकसमान समझतेहैं वे ' ब्रह्मणि स्थिताः '=मुक्तप्राय हैं । यहांपर ब्रह्मशब्द

मुक्तिका बोधक है क्यों कि जो पुरुष समग्र जीवोंको एकसमान नहीं भी जानते वे भी परमात्मामें ही स्थित हैं क्यों कि परमात्मा व्यापक है इसहेतु यह ब्रह्मशब्द परमात्मापर नहीं किं तु मुक्तिपरक ही है। किं वा 'ब्रह्मणि स्थिताः' इसका ब्रह्मको प्राप्त प्राय हैं ऐसा अर्थ करो ॥ १९ ॥

मू०—न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाऽप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

दोहा—अप्रियसों दुखि होय ना, प्रियसो ना सुखि होय।
स्थिरमति मोहविहीन जो लखै जीव सम सोय ॥ २० ॥

टी०—जीवात्मसमताज्ञानके परिपाककी युक्ति कहतेहैं—नेति, जिसकी आत्मामें बुद्धि स्थिर है=सदा आत्मदर्शनमें लगी रहती है और जिसको आत्मा और देहकी एकताका भ्रम नहीं अर्थात् देह भिन्न पदार्थ है आत्मा भिन्न पदार्थ है यह जिसने दृढ जान लिआहै और जो सुखदपदार्थकी प्राप्तिसे हर्ष नहीं मानता और दुःखदपदार्थकी प्राप्तिसे दुःखी नहीं होता तथा जो ब्रह्मपदार्थको जानताहै वही दृढरूपसे समग्रजीवोंको एकसमान जान सकता है। अर्थात् ऐसा करनेसे जीव साम्यज्ञानका परिपाक होता है ॥ २० ॥

मू०—बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ २१ ॥

दोहा—विषयभोगसों रोक मन जो आतमसुख पाय।
ब्रह्मज्ञान अभ्यासकर परमधाम सो जाय ॥ २१ ॥

टी०—बाह्यस्पर्शः=बाह्यविषयभोगमें जिसका मन खचित नहीं तथा जो स्वात्मसाक्षात्कारका सुख लेरहाहै अर्थात् जिसने जीवस्वरूपका साक्षात्कार करलिआहै वह पुरुष परब्रह्ममें चित्त लगाकर ब्रह्मानुभवरूप अक्षय सुखको प्राप्त होताहै ॥ २१ ॥

मू०—ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

दोहा—विषयभोग दुःखहेतु है तथा विनाशी तात।
तिन विषयन हरिभक्त ना हिय कबहूं हु लगात ॥ २२ ॥

टी०—विषय और इंद्रियोंके संबंधसे होनेवाले जो विषयके भोग हैं वे सब दुःखकी खान हैं और विनाशी हैं इस हेतु ज्ञानीपुरुष उन भोगनमें कभी भी चित्तको नहीं लगाता किं तु कर्मयोगसे आत्मज्ञानसंपादन कर तदनंतर ब्रह्मज्ञानसंपादन कर परमधामकी प्राप्तिका ही यत्न करताहै ॥ २२ ॥

मू०-शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ॥
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

दोहा-क्रोधकामके वेगको जीतेजी जन जोय ।
रोकत सहत सदा भले सुखी सुयोगी सोय ॥ २३ ॥

टी०-शरीर छूटनेसे पूर्व ही अर्थात् साधनानुष्ठानसमयमें ही जो पुरुष काम और क्रोधके वेगको सहलेताहै=रोकलेताहै वह युक्त=आत्मसाक्षात्कारके योग्य है तथा सुखी शरीरपातके अनंतर मोक्षसुखको पाताहै ॥ २३ ॥

मू०-योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोधिगच्छति ॥ २४ ॥

दोहा-आत्मज्ञान साधै सुखी तासों ही नर जोय ।
आतममें रमतो, लहै आत्मदृष्टि सुख सोय ॥ २४ ॥

टी०-जो पुरुष बाह्यविषयोंके सुखको त्यागकर आत्मसाक्षात्कारके सुखको पारहाहै आत्मामें ही रमण करताहै अर्थात् बाह्यविषयोंमें चित्तको नहीं लगाता तथा आत्मसाक्षात्कारको जिसने सिद्ध करलिआहै वह पुरुष योगी है तथा ब्रह्मभूत=ब्रह्मनिष्ठ है वही ब्रह्मनिर्वाण=आत्मसाक्षात्कारके सुखको पाता है । यहांपर पुनरुक्तिदोष नहीं जानना 'योन्तःसुखः' यहां तो आत्मामें ही सुखको माने अर्थात् बाह्यसुखोंको त्याग दे यह अर्थ विवक्षित है और ब्रह्मनिर्वाणपदसे तो साध्य आत्मसाक्षात्कारजन्य सुख विवक्षित है ॥ २४ ॥

मू०-लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

दोहा-द्वंद्वरहित चित वश किए सर्वभूतहित ठान ।
पापहीन ऋषिवर लहै स्वदर्शनसुख जान ॥ २२ ॥

टी०-शीतोष्ण सुख दुःख मानापमान इत्यादि द्वंद्वोंको सहन करनेवाले आत्मामें चित्तको लगानेवाले जीवमात्रका हित ही करनेवाले तथा नष्ट होगएहैं पाप जिनके ऐसे ऋषिलोग ही आत्मसाक्षात्कारके सुखको प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

मू०-कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विजितात्मनाम् ॥ २६ ॥

दोहा-क्रोधकामसों हीन ह्वै जिन मन वशकर लीन ।
तिन ज्ञानिनके हाथपर आत्मदृष्टि सुख कीन ॥ २६ ॥

टी०-कामक्रोधसे जो रहित हैं संयत है चित्त जिनका तथा बाह्यविषयोंसे जिनने चित्तको रोकलिआहै ब्रह्मनिर्वाण=आत्मसाक्षात्कारजन्य सुख उनके तो हाथपर ही है

अर्थात् ऐसे लोगोंको तुरत ही आत्मसाक्षात्कार होजाताहै । ब्रह्मनिर्वाणशब्दका, इस प्रकरणमें आत्मसाक्षात्कारजन्य सुखसे ही अभिप्राय है क्यों कि एक तो आत्मज्ञानका प्रकरण है द्वितीय भगवान् आत्मसाक्षात्कारके ही साधनोंको कहरहेहैं ॥ २६ ॥

मू०-स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

दोहा-मन इंद्रियको रोक, चख नासिकाग्रमें लाय । (युग्मक)
प्राणापान समान कर आतमामें मन नाय ॥ २७ ॥
मोक्ष चाहना इक जिसे यतचितमति मुनि जोय ।
क्रोध काम भय हीन धर, मुक्त सदा नर सोय ॥ २८ ॥

टी०-बाह्यविषयक जो इंद्रियोंके स्पर्श=व्यापार (विषयसंयोग) हैं उन सबको रोककर, योगके योग्य आसनपर सीधा बैठकर, दोनों भ्रुकुटिओंके बीच जो नासाग्र है वहां नेत्रकी दृष्टिको निरंतर लगाकर प्राणापान=उच्छ्वास तथा निश्वासकी वायुको कुंभकरूपसमगतिकरिके, इंद्रियोंको मनको तथा बुद्धिको जीतकर, इच्छा = अप्राप्तविषयकी इच्छाको भय = प्राप्तविषयकी रक्षाविषयक चिंताको, क्रोध = नष्टहुए विषयके नाशक पदार्थोंके विषयमें द्वेषको नष्ट करके जो ऐसा मुनि मोक्षपरायण है केवल मोक्षमात्रकी ही इच्छा रखताहै तथा मोक्षकेलिए आत्मसाक्षात्कार और भगवद्ध्यानादिरूप यत्न करताहै वह मुक्तके तुल्य है ॥ मधुसूदनजी यहांपर जीवन्मुक्तिकी बात कहतेहैं सो जीवन्मुक्ति कुछ भी पदार्थ नहीं यह मैं प्रथम ही लिख चुकाहूं ॥ २७ ॥ २८ ॥

मू०-भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

दोहा-यज्ञपुरुष प्रभु लोकका सर्वभूतहित राय ।
ऐसे मोकू जानके कर्मयोग सुख पाय ॥ २९ ॥

टी०-मैं ही सकल यज्ञ तथा तपोंका भोक्ता हूं सर्वलोकका महेश्वर हूं तथा सकलजीवोंका सुहृद् = हितकारी हूं ऐसेको मुझको जानकर अर्थात् मद्विषयक साक्षात्काररूप ज्ञानको प्राप्त होकर जीव शांतिको प्राप्त होताहै अर्थात् कर्मयोगमें सुखसे प्रवृत्त होताहै क्यों कि कर्मयोग मदीयाराधनस्वरूप है प्रभुके आराधनमें दासको दुःख नहीं होता किंतु सुख ही होताहै इससे कर्मयोगका अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए ॥ २९ ॥

इति भगवद्गीतासतसई तथा तत्त्वार्थसुदर्शनीटीकासहित श्रीमद्भगवद्गीताका पञ्चमाध्याय समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

श्रीः ।

अथ षष्ठाऽध्याय ।



श्रीभगवान् उवाच-

मू०-अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाऽक्रियः ॥ १ ॥

दोहा-कर्मयोगको जो करै फलइच्छाको त्याग ।
सो ज्ञानी अरु योगयुत कीनै तिन सम याग ॥ १ ॥

टी०-कर्मयोग तथा उसके कुछ भेद कहदिए । अब ज्ञानयोगसे साध्य जो आत्मसाक्षात्काररूप योग है उसके अभ्यासकी रीति (विधि) कहते हैं तथा कर्मयोग ज्ञानस्वरूप होनेसे आत्मसाक्षात्काररूपी योगका निरपेक्ष (स्वतंत्र) साधन है यह दृढकरनेको उक्त कर्मयोगका फिर अनुवाद करतेहैं-अनाश्रित इति ।

जो पुरुष कर्मफलकी इच्छाको त्यागकर कर्तव्य=वर्णाश्रमोचित कर्मको करताहै वही संन्यासी-ज्ञानयोगनिष्ठ है तथा योगी=कर्मयोगनिष्ठ है । ऐसा पुरुष अग्निरहित भी नहीं तथा क्रियारहित भी नहीं कहाता अर्थात् जो निष्काम होकर कर्म करताहै वह अग्निहोत्र तथा वैदिकयागोंका कर्ता है । ज्ञानयोगनिष्ठ तो केवल ज्ञानका ही अनुष्ठान करताहै और कर्मयोगनिष्ठ तो कर्म और ज्ञान दोनोंका ही अनुष्ठान करताहै इससे कर्मयोग बहुत प्रशस्त है ॥ १ ॥

मू०-यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

दोहा-कर्मयोग अरु ज्ञान ये दोनो एकहुरूप ।
आत्मज्ञानविन ना बने कर्मयोगको रूप ॥ २ ॥

टी०-जिसे लोग संन्यास=ज्ञान कहतेहैं हे पांडव तुम उसे कर्मयोग ही समझो अर्थात् कर्मयोग भी ज्ञानयोगस्वरूप ही है क्यों कि कर्मयोग विना जीवात्मयथार्थ ज्ञानके हो नहीं सकता जब जीवात्मज्ञान होगा तब पुरुष कर्मफलसे निष्काम होगा तभी कर्मयोगका रूप सिद्ध होगा, सोई कहतेहैं-न हीति, संकल्पशब्द यहां देहात्माभिमानरूपी अज्ञानका बोधक है । जिसने देहात्माभिमानरूपी अज्ञानको नष्ट नहीं किआ वह आत्मज्ञानशून्य अज्ञानी पुरुष योगी=कर्मयोगनिष्ठ नहीं कहासकता तब

तो कर्मयोग करनेकेलिए आत्मज्ञानको अवश्य संपादन करना होगा इससे कर्मयोग-में ज्ञानयोग भी आगया, और ज्ञानयोगमें तो कर्मयोगका कुछ भी संबंध नहीं इसमें ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोग ही उत्तम है। देह और आत्मा जो भिन्न भिन्न पदार्थ हैं उनको एक समझना ही देहात्माभिमान कहाता है वह अज्ञानस्वरूप है ॥ २ ॥

मू०–आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

दोहा–आतमदर्शनके मना जिस सो साधे धर्म।
आतमदर्शन साधके दृढ हो तहँ तज कर्म ॥ ३ ॥

टी०–यहांपर योगशब्द आत्मसाक्षात्कारका बोधक है जो पुरुष आत्मसाक्षात्कार-रूपी योगको सिद्ध करना चाहताहै उसकेलिए कर्मयोग ही साधन है अर्थात् उसे कर्मयोगका ही अनुष्ठान करनाचाहिए। वही पुरुष जब योगरूढ होजाय=आत्मसाक्षात्कारको सिद्ध करले तब उसे शम=कर्मपरित्याग करना चाहिए। तथा रोगनिवृत्त्य-नंतर भी यदि कोई पथ्य करे तो दोष नहीं तो भी 'जबतक रोग है तबतक पथ्य करो रोग निवृत्त्यनंतर पथ्य छोडदेना' ऐसा कहाजाताहै इस वाक्यका कुछ यह अभि-प्राय नहीं कि रोगनिवृत्त्यनंतर अवश्य ही पथ्य छोडदेना किं तु रोग जबतक है तब-तक तो अवश्य ही पथ्य करनाचाहिए यही अभिप्राय है। एवं यहांपर भी आत्मसा-क्षात्कारानंतर अवश्य ही कर्मयोगका त्याग करदेना यह अभिप्राय नहीं किं तु जबतक आत्मसाक्षात्कार नहीं होता तबतक तो अवश्य ही कर्म करना चाहिए यही अभिप्राय है। इसीहेतु धर्मशास्त्रमें आत्मसाक्षात्कारवाले यतिको भी कर्म करना ही कहा है हारीतस्मृति यथा–

" यस्त्वेकदण्डमालम्ब्य धर्मं ब्राह्मं परित्यजेत्।
विकर्मस्थो भवेद्विप्रः स याति नरकं ध्रुवम् ॥
शिखायज्ञोपवीतादि ब्रह्मकर्म यतिस्त्यजेत्।
स जीवन्नेव चाण्डालो मृतो वै श्वाभिजायते ॥ " इति।

अर्थात् यतिको भी ब्रह्मधर्म जो शिखायज्ञोपवीतादि हैं उनका त्याग नहीं करना चाहिए। इसीहेतु श्रीरामानुजस्वामीने यादवसंन्यासीको जब निजशरण आएको वैष्णव बनायाहै तो प्रायश्चित कराके फिरसे शिखा यज्ञोपवीत धारण कराये हैं। प्रपन्ना-मृतमें कहा भी है–

" तस्य संरक्षणे यत्नं चकार विबुधाग्रणीः (श्रीरामानुजस्वामी)
मौञ्जीबन्धादिकं कृत्वा यादवस्य यतीश्वरः ॥
आदरात्पञ्चसंस्कारानथ तुर्याश्रमं ददौ।
गोविन्ददास इति च दास्यनामाकरोत्प्रभुः ॥ " इति।

वडे शोककी वार्ता है कि आजकल्ह संन्यासिओंका संन्यास केवल शिखायज्ञोपवीतादित्यागमात्रपर ही निर्भर है और किसी भी स्वसंप्रदायोक्त भी संन्यासधर्मपर उनका ध्यान नहीं काम क्रोध लोभ ऐश्वर्यादिकनमें वडेवडे संसारी राजामहाराजोंकी बराबरी करके दिखानेमें भी लजाते नहीं ॥ ३ ॥

मू०—यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

दोहा—बाह्यविषय अरु कर्मसे आपहि संग छुट जाय ।
तजै कामना सकल तब योगारूढ कहाय ॥ ४ ॥

टी०—यहांपर कर्मशब्द बाह्यविषयसंपादक क्रियाका बोधक है कुछ वैदिक कर्त्तव्य कर्मका वाचक नहीं अन्यथा पूर्वापरसे विरोध पडेगा जब पुरुष बाह्यविषयोंमें आसक्त नहीं होता तथा विषयसंपादक कर्ममें आसक्त नहीं होता अर्थात् कर्मयोगका अनुष्ठान करते करते जब ऐसा चित्त शुद्ध होजाए कि स्वयं ही बाह्यविषयसे तथा विषयसंपादक कर्मसे राग छूट जाए तथा मनके भी समग्र। बाह्यविषयक मनोरथ नष्ट होजाएं तब पुरुष योगारूढ=दृढयोगवाला कहाता है । इसहेतु अन्तःकरणकी शुद्धिकेलिए साधकको अवश्य ही कर्मयोगका अनुष्ठान करना चाहिए । योगसिद्ध होजानेपर भी यहां कर्मयोगका निषेध नहीं किआ ॥४॥

मू०—उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

दोहा--मनशुद्धसेंउद्धारकर अपने नाश न ठान ।
मन शुध बंधु अशुद्ध मन अपनो वैरी मान ॥ ५ ॥

टी०—आत्मना = अपने मनको शुद्ध करके विषयोंसे रोकके अपनी उद्धार करना चाहिए मनको विषयोंमें खचित करके अपना नाश करना उचित नहीं । अपना मन विषयोंसे विरक्त हुआ हुआ अपना बंधु = हितकारी है अर्थात् संसारचक्रसे छुडा देताहै और अपना ही मन विषयोंमें खचित हुआ हुआ अपना शत्रु = अनिष्टकारी है अर्थात् और भी संसारसागरमें डुबो देताहै । कहा भी है--

" मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयाऽऽसंगि मुक्त्यै निर्विषयं मनः ॥ " इति ॥ ५ ॥

मू०—बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

दोहा—मन जिन रोक्यौ बाह्य सो तिस मन बंधु समान ।
विषयनसों जस ना रुके मन तिस शत्रु महान ॥ ६ ॥

टी०—शत्रु मित्रभूत मनका लक्षण कहतेहैं—बन्धुरिति, जिसने अपने मनसे ही मनको जीताहै=विषयोंसे रोकलिआहै उसका मन उसका बंधु हितकारी है जिसने मनको विषयोंसे रोका नहीं उसका मन उसीका शत्रु बनकर अनिष्टकरता है ॥ ६ ॥

मू०—जितात्मनः प्रशान्तस्य परमाऽऽत्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

दोहा—शीत उष्ण सुखदुःख अरु मानाऽमान समान ।
समझे जो तिस ध्यानको जीव विषय हौं मान ॥ ७ ॥

टी०—जिस पुरुषने शीत उष्ण सुखदुःख मान अपमान इत्यादि द्वंद्वोंसे मनको जीतलिआहै अर्थात् जो द्वंद्वोंको समान समझता है तथा शांतस्वरूप है जीवात्मा उसके ध्यानका विषय होजाताहै अर्थात् उसे जीवात्मसाक्षात्कार होसकताहै । (शीतोष्णादिषु जितात्मनः प्रशान्तस्यात्मा परं समाहितो भवति=समाधिविषयो भवतीत्यर्थः) । यह योगारंभयोग्यावस्था है अर्थात् जब जीव द्वंद्वोंको जीतकर शांतस्वरूप होगा तब योगके योग्य होगा ॥ ७ ॥

मू०—ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

दोहा—आत्मज्ञानसो तृप्तचित जित इन्द्रिय समयोग ।
कनकमृत्तिका तुल्य जिस सो निजदर्शन जोग ॥ ८ ॥

टी०—ज्ञानशब्द आत्मस्वरूपविषयक बुद्धिका वाचक है और विज्ञानशब्द प्रकृति और आत्माके भेदविषयकबुद्धिका वाचक है। आत्मस्वरूपज्ञानसे तथा आत्मा प्रकृतिकी अपेक्षा विलक्षण पदार्थ है इस विज्ञानसे तृप्त=संतुष्ट है मन जिसका,; तथा कूटस्थ= देवत्वमनुष्यत्वादिसमग्र अवस्थाओंमें जीवात्मा एकस्वरूप ही है यह जाननेवाला, जितेंद्रिय, मृत्तिका ढेला पत्थर और सुवर्ण इन सब प्राकृतपदार्थोंको तुल्य समझनेवाला अर्थात् सुवर्णादि पदार्थोंको भी मृत्तिकाके तुल्य समझ त्यागनेवाला, तथा योगी=कर्मयोगका अनुष्ठान करनेवाला ऐसा नर युक्त = आत्मसाक्षात्कारके योग्य होताहै॥ ८ ॥

मू०—सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

दोहा–मित्र सुहृद अरि बंधु अरु द्वेष्य उदास समान (मध्यस्थ) ।
साधु पापजन इन विषय सममति पुरुष प्रधान ॥ ९ ॥

टी०–'समलोष्टाश्मकाञ्चनः' इससे जड पदार्थोंमें समबुद्धिको कहकर अब चेतनोंमें भी योगीको समबुद्धि होना चाहिए यह कहतेहैं–सुहृदिति, समान आयुवाला न होकर भी जो हित करताहै वह सुहृत् कहाताहै । समान आयुवाला हितकारी मित्र कहाताहै । किसी कारणसे अनिष्ट करनेवाला अरि कहाताहै । निष्कारण ही जन्मसे लेकर अनिष्ट करनेवाला द्वेष्य (द्वेषी) कहाताहै । जो इष्टानिष्ट कुछ नहीं करता वह उदासीन कहाताहै । जन्मसे ही जो इष्टानिष्टकृतिसे रहित हो वह मध्यस्थ कहाताहै । जन्मसे ही हित करनेवाला बंधु कहाताहै । शीलधर्म नर साधु कहाताहै । पापशील पुरुष भी पापरूप होनेसे पाप (पापी) कहाताहै । इन सभमें जो सममति है वह पुरुष आत्मसाक्षात्कारके योग्य है । अर्थात् जो पुरुष सुहृन्मित्रादिसे कुछ प्रयोजन नहीं रखता अतएव सभसे उदास होकर प्रीति तथा द्वेष नहीं करता किं तु सभको समान समझताहै वही पुरुष आत्मदर्शनके योग्योंमें प्रशस्त है ॥

योगसूत्रकारने भी कहाहै–" मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातः चित्तप्रसादनम् " इति अर्थात् जिसे सुखी देखना उसे अपना मित्र समझलेना जो उसकी सुखसंपत्तिसे हृदयपर डाह न हो, जिसे दुःखी देखना उसपर करुणा करनी उसके दुःखसे हर्ष नहीं मानना, जिसे धर्मकरते देखना उससे प्रसन्न होना, जिसे अधर्म करते देखना उसकी उपेक्षा करदेनी, ऐसा करनेसे चित्त प्रसन्न रहताहै यह अनुभूत है ।

आज कल्ह तो कुछ लोग अपना नाम भी उदासी (उदासीन) रखलेतेहैं कि लोग हमें समबुद्धि किं वा संसारसे विरक्त समझें किं तु वे ही महात्मा अपने प्रियजनोंपर प्राण भी देडालतेहैं और शत्रुजनोंसे मुकदमातक लड डालतेहैं बडे खेदका स्थान है कि हमारे भारतके सभी तत्त्व तो नष्ट होते जातेहैं और उनके स्थानमें नाम बडे बडे लंबे बढते जातेहैं ॥ ९ ॥

मू०–योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

दोहा–एकाकी जितचित्त मन इच्छा ममता छोड ।
नित मनको निजदर्शमें योगकालमें जोड ॥ १० ॥

टी०–योगी = कर्मयोगका अनुष्ठान करनेवाला पुरुष, निराशीः = आत्मव्यतिरिक्तसकलपदार्थसे निरपेक्ष होकर, अपरिग्रह=बाह्यपदार्थोंकी ममताको त्यागकर, चित्त और मनको बाह्य विषयोंसे रोककर, एकांतमें एकला बैठकर निरंतर योगकालमें अपने मनको अपने आत्माकी ओर लगाए जो आत्माका साक्षात्कार हो ॥ १० ॥

मू०–शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ ११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ १२॥

दोहा–ना ऊंचा ना निम्न अति वसन चर्म कुश लाय।
शुद्धभूमिमें आपनो आसन लेय बिछाय॥ ११॥
यत चित इंद्रिय एकमन तिस (आसन) पर बैठे आय॥
भवमुक्तिके हेतु मन निजदर्शनमें लाय॥ १२॥

टी०–शुद्धभूमिपर एकांतमें एककुशाका आसन बिछाए उसपर मृगचर्म बिछाए उसपर कंबलादि कोई वस्त्र बिछाए ऐसा आसन बनाए। वह आसन बहुत नीचा भी न हो जो पृथिवी चुभे और बहुत ऊंचा भी न हो और वह आसन स्थिर = अचल होना चाहिये अन्यथा आसनके डगमगानेसे ध्यान बिगडेगा उस आसनपर बैठकर, मनको एकाग्र करे और चित्त तथा इंद्रियोंकी जो क्रिया है विषयस्मरण तथा विषयदर्शन उसको रोकलेवे, अर्थात् वायुरहितदेशमें यथा दीपक होताहै ऐसा अचंचल होकर संसारनिवृत्तिकेलिए मनको अपने आत्मामें लगाए जो आत्माका साक्षात्कार होजाय। यह रीति ध्यान लगानेकी है॥ ११॥ १२॥

मू०–समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरम्।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ १३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ १४॥

दोहा–स्थिर सीधा अरु अचलकर शिर ग्रीवा अरु काय। (युग्मक)
नासिकाग्रमें दृष्टिधर इत उत कछु न दिखाय॥ १३॥
मन प्रसन्न संयत कर ब्रह्मचर्यव्रत ठान।
मोमें चित्त लगायके सदा करै मम ध्यान॥ १४॥

टी०–योगाभ्यासकी और भी रीति कहतेहैं–समामिति, उस आसनपर बैठकर देह कंठ तथा सिरको सीधा स्थिर और अचल करलेवे, दृष्टिको उक्तरीतिसे नासिकाग्रमें ऐसा लगाए जो इधर उधर और कुछ न दिखाए। मनको प्रसन्न करके तथा विषयोंसे रोककर बाह्यचिंताको त्यागकर ब्रह्मचर्यपूर्वक मेरेमें चित्त लगाकर मत्परः = मुझको ही परमप्राप्य समझकर सदा मेरा ध्यान लगाए। यही परमयोग है॥ १३॥ १४॥

मू०--युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

दोहा--मोमें चित्त लगायके इसविध सतत हि तात ।
परमशान्तिमायिमुक्तिको जितचित योगी पात ॥ १५ ॥

टी०--योगी चित्तको वशकरके पूर्वोक्तरीतिसे अपने चित्तको मेरेमें लगाकर परम-मोक्षरूप जो शांति है उसे पाताहै ॥ १५ ॥

मू०--नात्यश्नतस्तु योगोस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

दोहा--अधिकहि भोजन जो करै जो नर कछुहु न खाय ।
बहुत सोय अथ सोय ना योग न तिसहु बनाय ॥ १६ ॥
श्रम भोजन संचार (गमन) औ सोना जगना जोय ।
इन सेवे मित रूप तिस योग बंधहर होय ॥ १७ ॥

टी०--जो पुरुष योगकरनेवाला अधिक खाताहै किं वा कुछ भी नहीं खाता. तथा जो बहुत ही सोताहै किं वा तनिक भी नहीं सोता. एवं जो अधिक चलताहै किं वा तनिक भी नहीं चलता अर्थात् जो पुरुष धर्मसे अविरुद्ध भी क्रियाओंको अधिक सेवन करताहै किं वा सर्वथा त्यागदेताहै उसका योग सिद्ध नहीं होता क्यों कि योगमें वायुनिरोध करनापडताहै वह उक्त अतिसे बिगडजाताहै तब योग छोड शरीर भी नष्ट होजाताहै॥ किं तु आहार = भोजन विहार = चलना फिरना कर्मचेष्टा = श्रम तथा सोना जागना इन सबको जो युक्तरीतिसे सेवन करताहै उसका योग सिद्ध होकर संसारबंधका नाश करदेताहै । कहा भी है--

" सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे ।
धनुःप्रमाणपर्यन्तं शिलाग्निजलवर्जिते ॥
एकान्ते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ॥
अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः ।
जनसङ्गश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति ॥
उत्साहात्साहसाद्धैर्यात्तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात् ।
जनसङ्गपरित्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति ॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः ।
दयाऽऽर्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश ॥

तपः संतोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्।
सिद्धान्तवाक्यश्रवणं ह्रीमती च तपो हुतम्॥
नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः।
ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः॥
सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः।
भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते॥
पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम्।
मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत्॥
राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः।
ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते॥
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था (तुर्यावस्था) सद्गुरोः करुणां विना॥ "

इत्यादि॥ १६॥ १७॥

मू०—यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवाऽवतिष्ठते।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ १८॥

दोहा—विषयनसों हट हिय जब आत्मामें लगजाय।
सकलकामनिष्काम नर योगसुयोग्य कहाय॥ १८॥

टी०—जब मन समग्र वाह्यविषयोंसे प्रीतिको छोडकर संयत हुआ हुआ आत्मज्ञानमें ही केवल लग जाताहै तब पुरुष युक्त=योगाभ्यासके योग्य कहाताहै॥ १८॥

मू०—यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ १९॥

दोहा—वातहीनथलमें यथा दीप न डगमग होय॥
योगयुक्त नरका तथा जीव प्रकाशित होय॥ १९॥

टी०—चित्तको विषयनसों रोक आत्माकी ओर लगा जब योगी योगसे आत्माका साक्षात्कार करताहै तब उस समय योगीका जीवात्मा ऐसा इकटक अचल और प्रकाशक होताहै यथा वायुरहितस्थानमें रक्खाहुआ दीपक प्रकाश करताहै तथा तनिक भी डगमगाता नहीं॥ १९॥

मू०—यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ २०॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥
यं लब्ध्वा चाऽपरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥
तं विद्यादुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

दोहा-विषयनसो रोक्यों मन लगै योगकें राँह (मार्ग) ।
देख आपको चित्तसे हर्ष होय मनमाँहँ ॥ २० ॥
निजमतिवेद्य असीमसुख मिलतो जिसमें तात ।
चित्त लग्यौ जिस योगमें तासों पुनि न हटात ॥ २१ ॥
काहूमें जिस योगसों सुख ना अधिक मनाय ।
जामें लगि दुख गुरुहुसा तनिकहु हियन हटाय ॥ २२ ॥
ऐसे योगहि योग तू जान जु दुःख हरेय ।
हर्षित चितसा योग इह अवसहि नर करलेय ॥ २३ ॥

टी०-योगाभ्यास करके विषयांतरोंसे हटायाहुआ चित्त जिस योगमें लगे अर्थात् उसयोगाभ्यासमें ही सुखमाने बाह्यविषयोंमें न दौडे । तथा चित्तसे अपने आत्माका साक्षात्कार कर योगी उस आत्मसाक्षात्कारमें ही सुख = हर्षको माने उसीमें संतुष्ट हो॥ तथा जिस योगमें आत्मज्ञानमात्रसे जाननेयोग्य अतींद्रिय=जो बाह्येंद्रियोंका विषय नहीं ऐसे तथा अतिशयित सुखको योगी पाताहै । तथा जिसयोगमें लगा जीव उसयोगमें ही सर्वाधिक सुख मानकर उसयोगाभ्याससे हटता नहीं सदा उसीमें लगा रहताहै ॥ निजमति = आत्मज्ञान ॥

तथा जिस योगको प्राप्त होकर योगी उस योगसे बढकर किसी भी पदार्थको नहीं समझता किं तु उस योगलाभको ही सभसे अधिक उत्तम लाभ समझताहै । तथा गुणवान् पुत्र कलत्रादिके मरणके भी अतिशयित दुःखसे भी जिस योगसे हटता नहीं किं तु उसी योगमें लगा ही रहताहै ॥

उक्त तीनों श्लोकोंका उपसंहार करतेहैं-तमिति, क्यों कि इन चारों २० । २१ । २२ । २३ । श्लोकोंका मिलकर एक अन्वय (अर्थ) है । उक्त प्रकारका जो योग हो उसीको तुम योग समझो अर्थात् वही यथार्थ योग है ऐसा योग दुःखसंयोगवियोगं = संसाररूपी दुःखका जो संबंध है उसे नष्ट करदेताहै अर्थात् जीवको मुक्त करदेताहै । ऐसा योगका प्रसन्नमन होकर उसीयोगको ही सर्वाधिक लाभ समझ उससे उदास न

होकर प्रीतिपूर्वक अवश्य ही अभ्यास करना चाहिए क्यों कि ऐसे उत्तमरीतिके योगसे संसारबंध नष्ट होजाताहै।

इन चार श्लोकोंमें भगवान् श्रीव्रजचंद्रने उत्तमयोगका स्वरूप तथा उसका अवश्य करना कहाहै॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

मू०—संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥ २४॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ २५॥

दोहा—सकल मनोरथके विषय हियसों त्याग अशेष।
मनसों इन्द्रियग्रामको चहुंदिश रोक विशेष॥ २४॥
विवेककुशलमतिसो शनैः (धीरेधीरे) विषयनसों हटजाय।
आत्मामें मन लायके माति मति अनत लगाय॥ २५॥

टी०—संकल्प = मनोरथके विषय जो काम हैं यथा अप्राप्य पदार्थोंके भी मूर्खजनोंको मनोरथ होतेहैं उन सभोंको जडमूलसे त्यागकर तथा चारोंओरसे = बाह्यविषयमात्रसे इंद्रियोंको भी अपने शुद्धमनसे रोककर। धृतिगृहीतया = विवेकको विषय करनेवाली बुद्धिसे = बुद्धिकरके बाह्यविषयोंसे धीरेधीरे उपरत = विरक्त हो अर्थात् झटपट विरक्त होनेसे वैराग्य नहीं होसका हो भी जाय तो वह दृढ नहीं होता इसहेतु धीरेधीरे सभ विषयोंसे विरक्त होताजाय कहा भी है—

"उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिन्दुना।
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः॥" इति।

एवं धीरे धीरे मन और इंद्रियोंको विषयोंसे रोककर मनको ऐसा आत्मामें लगाए जो और कुछ न सूझे तथा च आत्मामें मनको लगाकर और कोई पदार्थका ध्यान न करे। श्रुतिने भी कहाहै—

"प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥" इति।

यद्यपि यह श्रुति आत्मसमाधिविषयक नहीं ब्रह्मसमाधिविषयक है क्यों कि ब्रह्म परमात्मा जगदीश्वर प्रभु है जीव तो ब्रह्मसे भिन्न हैं और उसके दास हैं तथापि उदाहरणकी भांति यह श्रुति यहां लिखदीहै॥ २४॥ २५॥

मू०—यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ २६॥

दोहा—मन हटतो जिस ओरसों तासों नियत हटाय ।

मन चञ्चलको जीवमें धीरहिं इहविध लाय ॥ २६ ॥

टी०—हे पार्थ यह मन बडा चंचल है अतएव अस्थिर है अर्थात् आत्मामें लगकर भी फिर वहांसे हटजाताहै और विषयोंमें लगजाताहै सो जिस जिस विषयसे मन हटे उस उस विषयसे मनका नियत (स्थिर) दृढ निरोध करके इस मनको अपने आत्मामें ही लगाना चाहिए । आत्मसाक्षात्कारका सुख पाकर फिर यह मन बाह्यविषयोंमें आसक्त नहीं होगा ॥ २६ ॥

मू०—प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।

उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

दोहा—शांतचित्त रजहीन अरु जो जोगी हतपाप ।

आत्मरूप देखे तिसे निजसुख मिलतो आप ॥ २७ ॥

टी०—जिस योगीका मन निश्चय है तथा रजोगुणसे रहित है और जो ब्रह्मभूत है अर्थात् अपने स्वरूपमें=आत्मावलोकनमें स्थिर है उस योगीको आत्मानुभवका सुख प्राप्त होताहै । यहांपर ब्रह्मभूतपदसे परमात्मस्वरूपता नहीं जाननी क्यों कि परमात्मा और जीव भिन्न भिन्न हैं यह प्रथम ही कहचुके हैं । और पूर्व पद्यमें " आत्मन्येव वशं नयेत् " इससे चित्तको अपने आत्मामें लगानेको कहचुके हैं तथा प्रकरण भी जीवात्मज्ञानका ही है इससे यहांपर ब्रह्मशब्द जीवात्मस्वरूपका ही बोधक है । और प्रकरण वशसे उत्तम सुख यहां जीवात्मानुभवजन्य सुख ही कहना पडेगा उस सुखका तो आत्मावलोकन ही हेतु है परमात्मावलोकन किं वा परमात्मैक्य हेतु नहीं इससे ब्रह्मभूतपदका अर्थ स्वरूपस्थिति ही है ॥ २७ ॥

मू०—युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यंतं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

दोहा—इसविध निजके दर्शमें लग्यो पापसों हीन ।

ब्रह्मदर्शसुख पात्र तो बहु योगी तहँ लीन ॥ २८ ॥

टी०—पापहीन योगी उक्तरीतिसे जब सदा योगसे अपने आत्माका अवलोकन करताहै तब सुखेन=विना ही श्रमके ब्रह्मानुभवके असीम सुखको भी पाताहै । यदि कहो कि पूर्वश्लोकवत् यहां भी ब्रह्मशब्दका जीवात्मा ही अर्थ करो, परमात्मारूप अर्थ क्यों करते हो तो यह शंका मत करो क्यों कि यहां आत्मसाक्षात्कारके अतिशयका फल कहाहै । अभिप्राय यह है कि प्रत्येक पदार्थको अधिक देखनेसे उसका कुछ न कुछ विशेष प्रतीत हो जाता है इसीलिए जौहरी लोग रत्नको बहुतबार देखते हैं

एवं आत्मसाक्षात्कारसे आत्मसाक्षात्कारजन्य जो सुख होताहै उसे पूर्वश्लोकमें कहाहै वारंवार सदा आत्मसाक्षात्कारमें लगे रहनेसे " यस्यात्मा शरीरम् " इत्यादिश्रुतिओंके अनुसार जीवात्माके भी भीतर रहनेवाले अंतर्यामी भगवान् ब्रह्मका भी साक्षात्कार होजाताहै उस ब्रह्मसाक्षात्कारके सुखको इस श्लोकमें कहाहै इससे पूर्वापरमें परस्पर विरोध नहीं जानना ॥ २८ ॥

मू०-सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

दोहा-सर्वजीवसम आपको औरन आपसमान ।
योगलग्यो समदृष्टि जन निरखत निपुण सयान ॥ २९ ॥

टी०-योगाभ्यास करते करते जो परिपाक होताहै उसकी उत्तरोत्तर उत्कृष्ट (उत्तम) चार अवस्थाओंको अब चारश्लोकोंसे कहते हैं-सर्वेति, योगमें लगा है आत्मा=मन जिसका तथा समदर्शी=समग्र जीवात्माओंको समानरूप समझनेवाला अर्थात् सभी जीवात्मा अणु हैं नित्य हैं स्वयंप्रकाश हैं भगवत्से भिन्न हैं भगवत्के दासभूत हैं तथा प्रतीयमान भेद केवल शरीरकृत है आत्मस्वरूप कृत नहीं इत्यादि समझनेवाला योगीपुरुष आत्मानम्=आत्मस्वरूपको समग्र जीवोंमें देखता है अर्थात् जैसा ही मेरा जीवात्मा उक्तस्वरूप है वैसे ही और सब जीवात्मा हैं ऐसा जानलेताहै । यहांपर आत्मशब्द आत्मस्वरूपका बोधक है । यथा ' चित्रकारने सुंदर घट लिखा है ' यहांपर घटशब्द घटस्वपरूपका बोधक होता है ।

और आत्मनि अपने जीवात्मामें सर्वभूत=समग्रजीवोंके स्वरूपको देखता है अर्थात् जैसे और सब जीवात्मा उक्तस्वरूप हैं वैसा ही मेरा भी स्वरूप है यहांपर सर्वभूतशब्द भी सर्वभूतस्वरूपका बोधक है । भगवान्ने "सर्वत्र समदर्शनः" ऐसा जो योगीको विशेषण दिआ है इससे उक्त समतारूप अर्थ ही ठीक है ।

जो कोई इसपद्यसे जीवको विभु कहेगा उसके कथनमें " सर्वत्र समदर्शनः" यह विशेषण व्यर्थ होजायगा और श्लोकको अपुष्टार्थता (व्यर्थविशेषणता दोष लगेगा । यदि भगवान्का जीवैक्यवाद तथा जीवविभुत्ववादमें तात्पर्य होता तो " सर्वत्रः सम-दर्शनः" ऐसा न कहते क्यों कि अनेकजीवपक्षमें ही सर्वत्रशब्दका प्रयोग होसकताहै इसहेतु जीव अनेक हैं वे नित्य हैं कुछ अंतःकरणसंबंधसे ही जीवसंज्ञा नहीं होती । तथा अणु हैं वे सब स्वरूपेण एकसमान हैं यही अर्थ यहां विवक्षित है । उन एकसमा-न भी जीवोंको अयोगी=प्राकृतपुरुष एकसमान नहीं जानसकता क्यों कि उसे तो अज्ञानसे शरीरभेदसे जीवस्वरूप भी भिन्न भिन्न ही प्रतीत होते हैं । योगीपुरुष योगा-भ्याससे जीवोंकी प्रथम यथार्थ एकसमानताको जानसकताहै यह ऐसा जानना योगीके

योगपरिपाककी प्रथम अवस्था है यही श्रीभगवान्का तात्पर्य है । मधुसूदनजीने इसपद्यको त्वंपदार्थके निरूपणपर अद्वैतमतानुसार लगायाहै यह सब प्रकरणविरुद्ध है क्यों कि यहां प्रकरण योगका है कुछ जीवस्वरूपका नहीं, सो योगका फल ही कहाहै ॥ २९ ॥

मू०-यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

दोहा-मोसम जो सभ जीवको सभजीवनसम मोय ।
निरखत, देखै आपको अरु देखै मोहि सोय ॥ ३० ॥

टी०-प्रथम जो समग्र जीवोंको तुल्यरूप समझना यह योगविपाकी अवस्था कही है उससे भी उत्कृष्ट अवस्थाको कहतेहैं-यो मामिति, जो योगी मां = मेरे स्वरूपको सर्वत्र = सभजीवोंमें देखताहै अर्थात् सभ जीवोंको मेरे तुल्य ही प्रकृतिसंबंधहीन तथा नित्य समझताहै और सर्वं = सभजीवोंके स्वरूपको मुझमें देखताहै अर्थात् यथा जीव नित्य हैं परमप्रिय हैं तथा मुझे भी नित्य तथा परमप्रिय समझता है उस योगीसे मैं प्रणाशको अर्थात् अदृश्यताको प्राप्त नहीं होता किं तु मैं सदा उसके ज्ञानका विषय बनारहता हूं और वह मेरा = मदीय प्रणाशको अर्थात् मुझसे अदृश्यताको प्राप्त नहीं होता किं तु मेरी कृपाको प्राप्त होताहै = मेरी कृपा सदा उसपर बनी रहती है । यही इस श्लोकका तत्त्वार्थ है प्रणाशपदका यहां विनाश अर्थ नहीं करना क्यों कि प्रथम ही भगवान् जीवको अविनाशी नित्य कहचुके हैं फिर यहां विनाशाभाव कहना व्यर्थ है इससे यहां प्रणाशपदार्थ विस्मृति ही समझो यह योगपरिपाककी द्वितीय अवस्था है ३०

मू०-सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

दोहा-अंतर्यामीरूप जो निरखत सभमे मोय ।
व्यवहारहुके कालमे ध्यान कर मम सोय ॥ ३१ ॥

टी०-यद्यपि जीवात्मा और परमात्माका सर्वात्मना सादृश्य नहीं बनसकता क्योंकि परमात्मा व्यापक प्रभु है जीव अणु उसका दास है जीव बंधको भी प्राप्त होता है वेदान्तसूत्रकारने भी लिखाहै कि प्रपंचरचनादि व्यापार परमात्माके ही हैं इन व्यापारोंको मुक्तजीव भी नहीं करसकता. इत्यादि जीवात्मा और परमात्माके भेद हैं तथापि यथा जीवत्वेन राजा और भृत्यका सादृश्य बनसकताहै पाषाणत्वेन एक छोटासे पत्थर और हिमालयका सादृश्य बन सकता है एवं नित्यत्वेन परमात्माका और जीवात्माओंका सादृश्य बनसकता है इसी सादृश्यके कारण जीवात्माओंको और परमात्माको तुल्य समझना यह योगपरिपाककी द्वितीयावस्थाको पूर्वश्लोकमें कहकर अब उससे भी

उत्तम योगपरिपाककी तीसरी अवस्थाको श्रीहरि कृपैकसिंधु कहतेहैं—सर्वभूतस्थितमिति। जो योगी एकत्वमास्थितः=मुझको एक समझकर अर्थात् श्रीनारायण ही सकल प्रपंचका स्वामी है वह एक ही है यह समझकर सभजीवोंमें मुझको ही अंतर्यामी स्वरूप समझताहै किं वा सभ जीवोंमें एक ही नारायण अंतर्यामीरूप होकर वर्तमान है यह भजताहै—श्रद्धापूर्वक समझता है वह योगी "सर्वथा वर्तमानोपि"=समाधिकाल—से भिन्न व्यवहारकालमें भी "मयि वर्तते=मेरा ही ध्यान करता ही रहताहै। अर्थात् व्यवहारकालमें भी मैं उसे विस्मृत नहीं होता किं तु उसका मेरेमें ही ध्यान लगा रहताहै। यह योगपरिपाककी तीसरी अवस्था है उक्त दोनों अवस्थाओंसे उत्कृष्ट है। एकशब्द यहां वस्तुगत्या समताका बोधक है जो मुझे सर्वत्र एकसमान जानताहै वह। सुनते हैं कि एक परमभागवत भगवान्के अनन्यभक्तने श्रीरामानुजस्वामीसे पूछा कि भगवन् वैष्णवको कैसा होना चाहिए। जैसा वैष्णवको होना चाहिए उससे भी कुछ उत्तम था वह पूछनेवाला। इसीहेतु श्रीरामानुजस्वामीमहाराजने सोचा कि यदि हमने कहदिआ कि वैष्णवको आपसा होना चाहिए तो इनको विश्वास नहीं होगा ये हमारे वचनको चाटुवचन समझेंगे यह सोच स्वामीने एक आचार्य महानुभावके नाम पत्रलिखकर उस वैष्णवको दिआ कि तुम अमुक आचार्यके पास जाओ वे आपके प्रश्नका उत्तर देंगे। ये वैष्णव लेकर पत्र उनके पास गए वे आचार्य श्रीमान् भी थे सो पत्रमें इनका प्रश्न देखकर इनका बडा भारी आदर किआ फिर उसी आदरको इतना घटाया कि उनका असीम निरादर करदिआ किं तु इस वैष्णवको उस भारी आदरसे न तो कुछ हर्ष ही हुआ और उस भारी निरादरसे कुछ खेद भी नहीं हुआ, इनका ध्यान केवल भगवच्चरणोंमें था और कुछ ध्यान अपने प्रश्नके उत्तरमें लगाया, इनने फिर कभी उनसे अपने प्रश्नके उत्तरकेलिए प्रार्थना की उनने आदर निरादरमें इनकी समता देखकर उत्तर दिया कि "त्वद्वद् बकवल्लवणवत्" अर्थात् वैष्णवको तुमारेसा होना चाहिए=यथा तुमको उस आदरसे हर्ष नहीं हुआ इस निरादरसे खेद नहीं हुआ किं तु भगवच्चरणोंमें और अपने प्रश्नके उत्तरमें तुमारा ध्यान है ऐसे ही वैष्णवको दृढ होकर भगवच्चरणोंमें ध्यान रखना चाहिए। और यथा बक चारों ओर देखताहै किं तु उसका ध्यान मछलीमें ही रहताहै इसीतरह वैष्णवका भी बाह्यव्यवहार करते भी ध्यान भगच्चरणोंमें ही रहना चाहिए। और यथा लवणको जलमें डालदेनेसे कुछ कालमें लवणका स्वरूप नष्ट होजाताहै क्यों कि जलमें लवण घुल जाताहै तथापि उसका स्वाद नष्ट नहीं होता वह वैसाका वैसा ही बना रहताहै एवं वैष्णव सांसारिक विपत्तियोंसे यदि नष्ट भी होजाय तो भी उसका भगवच्चरणका ध्यान नष्ट नहीं होना चाहिए। यही जो परमवैष्णवताका स्वरूप है उसीका श्रीभगवान्ने कृपाकर इसश्लोकसे अर्जुनको उपदेश दिआहै योगी चाहे जो सांसारिक कृत्य कर किं तु ध्यान भगवत्में ही रहना चाहिए॥

अद्वैतमतानुयायी विद्वानोंका स्वभाव है कि कहीं उनकी संप्रदायके आपाततः अनुकूल एकपद भी मिलजाता है तो वे उसपर भारी जोर बांधतेहैं उनने प्रकरणको तो क्या देखना था वाक्यकी ओर भी वे लोग ध्यान नहीं देते । इसी स्वभावके व्यसनसे मधुसूदनजीने इस श्लोकमें " एकत्वमास्थितः " यह पद देखकर दो श्लोक पूर्वसे ही अद्वैतवादकी नीमबांधकर यहां अद्वैतवाद लिखादिआ उनने प्रकरण छोड वाक्यकी ओर भी ध्यान नहीं दिआ । भगवान् प्रथमसे योगके उत्कृष्टोत्कृष्ट समदृष्टितारूप फलको प्रतिपादन कररहे हैं सो यहांपर अद्वैतका प्रकरण भी नहीं । तथा वाक्यमें भगवान् स्पष्ट कहरहे हैं कि " सर्वभूतस्थितं यो मां" अर्थात् जो मुझ अंतर्यामीको एकत्वरूप समझताहै । भगवान्की एकताको सभी कोई स्वीकार करताहै भगवत्की एकतासे अद्वैत सिद्ध नहीं होसकता । तथा प्रपंचसत्यता तथा ब्रह्म और जीवोंका भेद प्रथम ही सप्रमाण प्रतिपादन करदिआहै इससे अद्वैत कुछ पदार्थ ही नहीं इसहेतु मधुसूदनी व्याख्या कुछ भी युक्त नहीं ॥ ३१ ॥

मू०--आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

दोहा--अपने दुःखसुखके सम परके दुख सुख जोय ।
समदर्शी ह्व निरखतो उत्तम योगी सोय ॥ ३२ ॥

टी०--जो योगी सब जीवात्माओंके अपने आत्माके सदृश एकसमान जान सब जीवोंके सुख और दुःखोंको अपने सुख और दुःखोंके तुल्य समझता है अर्थात् यथा परके सुखसे हर्ष नहीं मानता तथा अपने सुखसे भी हर्ष न माने और यथा परके दुःखसे दुःखी नहीं होता तथा अपने दुःखसे भी दुःखी न हो वह योगी सर्वोत्तम योगी है । यह योगपरिपाककी चौथी अवस्था है उक्त तीनों अवस्थाओंसे यह उत्कृष्ट है । मैंने अष्टादशरहस्यभाषामें भी कहाहै-

बरनौ आत्मारामता दुखसुखसमता होय ।
लोकविषयविद्वेषमति हरि बिन मम नहिं कोय ॥ ३२ ॥

अर्जुन उवाच-

मू०--योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ॥ ३३ ॥
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

दोहा—सकलजीव अरु ईशको समदर्शन जो योग।
तिस दृढता मन आयना चंचलता चितरोग ॥ ३३ ॥
अति ही चंचल कृष्ण! मन बलकर विषयन जाय।
मन चंचलको वायुसम निग्रह नाहि बनाय ॥ ३४ ॥

टी०—हे भगवन् आपने जो समग्र जीवोंको एकसमान देखना तथा परमात्माको भी सर्वत्र अंतर्यामीरूपसे स्थितको एकसमान जानना यह समताका योग कहाहै इसका स्थिर=दृढ होना कठिन ही है क्यों कि एक तो—योगमें मनका निग्रह चाहिए आप स्वयं भी मनके नियमनकेलिए कहचुकेहैं सो मन वडा चंचल है उसका निग्रह वन नहीं सकता। द्वितीय—अनादि कालसे लेकर सब जीवोंका शरीरकेतुल्य भिन्नस्वरूपतासे ज्ञान वन रहाहै अर्थात् यथा शरीर सबके एकसमान प्रतीत नहीं होते तथा जीव भी एक समान प्रतीत नहीं होते देवताओंके तथा राजालोगोंके जीव उत्तम प्रतीत होतेहैं निकृष्टजनोंके जीव निकृष्ट प्रतीत होतेहैं सो इस वासनाका नाश होनाभी कठिन ही है जवतक यह वासना नष्ट नहीं होती तवतक जीवोंको समानरूप जानना असंभव है ॥ ३३ ॥

यह मन वडा चंचल है तथा प्रमथन करनेवालाहै अर्थात् हठसे (जवरदस्ती) विषयोंमें जा जुटताहै यथा वायुका रोकना असंभवसा है तथा इस मनको भी विषयोंसे रोक आत्मामें लगाना असंभवसा ही है ॥ ३४ ॥

श्रीभगवान् उवाच—

मू०—असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

दोहा—मन चंचलको कठिन है निग्रह यद्यपि तात।
तदपि मन अभ्यासतें विषयनसौं हट जात ॥ ३५ ॥

टी०—हे पार्थ इसमें कुछ संदेह नहीं कि यह मन वडा चंचल है हठसे विषयनमें जाताहै इससे इसका निग्रह वडा कठिन है तथापि वैराग्यसे अर्थात् विषयोंमें दोष देखकर उनके त्यागसे और निग्रहके अभ्याससे धीरेधीरे इस मनका निग्रह = विषयोंसे निरोध भी होजाताहै ॥ ३५ ॥

मू०—असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

दोहा—वह नाहिं जिसके चित्त निज योगवने ना नात।

कर्मयोगते चित्तको वशकर वह बनजात ॥ ३६ ॥

टी०—हे पार्थ जिसने अपने मनको वश नहीं किआ = विषयोंसे रोका नहीं वह पुरुष योगको सिद्ध नहीं करसकता।। जिस पुरुषने मनको वशकर विषयोंसे रोकलिआहै तथा योगकेलिए उपाय करताहै वह पुरुष योगसिद्धिको प्राप्त होसकताहै। उपायशब्दका यहां कर्मयोगसे ही अभिप्राय है कर्मयोग = निष्कामकर्मका अनुष्ठान करते करते जब मन शुद्ध होगा तब विषयोंसे रुककर आत्मसमताज्ञानरूप योगमें लगेगा॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच—

मू०—अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।

अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥

दोहा—श्रद्धाकर जो योगमें मन निग्रह बिन जाय।

कौनहिं दुःजय पुनि निज गति कह हो जाय ॥ ३७ ॥

टी०—हे भगवन् जो पुरुष श्रद्धासे उक्त समदर्शनरूपयोगमें लगगया किंतु मनका यथार्थनिग्रह उसने किआ नहीं और योगसिद्धिकेलिए पूर्ण दृढ यत्न भी किआ नहीं इसहेतु योगसिद्धिको प्राप्तहुए बिना ही योगसे हटजाय वह पुरुष किसगतिको प्राप्त होताहै अर्थात् उसे क्या फल मिलता है यह कृपाकर कहिए॥ ३७ ॥

मू०—कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।

अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

दोहा—योगमार्गमें मूढ अरु स्थिरताहीन अजान।

इततें उततें भ्रष्ट क्या नष्ट हि होत सुजान ॥ ३८ ॥

टी०—हे भगवन्—जो पुरुष आरंभकिए ब्रह्मप्राप्तिसाधनभूतयोगमार्गमें स्थिर नहीं अतएव विमूढ—योगमार्गसे भ्रष्ट (च्युत) होगयाहै वह पुरुष छिन्नाभ्रके तुल्य क्या नाशको तो प्राप्त नहीं होता ? अर्थात् नरकको तो प्राप्त नहीं होता ? । नाश शब्दका यहां नरक ही अर्थ ठीक है। छिन्नाभ्रमिव = कोई छोटासा मेघका टुकडा जब आगेके मेघसमूहसे मिलनेकेलिए प्रसपेयसमूहको छोडकर आगे बढताहै और आगेके मेघमंडलको प्राप्त हो नहीं सकता तो बीचमें ही नष्ट होजाताहै एवं जिसने भोग छोड योगका आरंभ किआ और योगसिद्धितक योगमें स्थिर न रहा भ्रष्ट होगया वह भी क्या नष्ट होताहै वा नष्ट नहीं होता यही प्रश्न है ॥ ३८ ॥

मू०—एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।

त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

दोहा—दूर करौ संदेह मम जो वरण्यौ हा तात ।
तुम विन और न काहुसे संशय एह मिटात ॥ ३९ ॥

टी०—हे भगवन् मेरे इस उक्त संदेहको आपके विना और कोई भी दूर नहीं करसकता इसहेतु आप कृपाकर मेरे संशयको दूर करो ॥ ३९ ॥

श्रीभगवान् उवाच—

मू०—पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

दोहा—योग लग्यौ हटजाय जो हानि न तिसकी होय ।
दुर्गति तिन ना हो करै भले काम नर जोय ॥ ४० ॥

टी०—हे पार्थ अच्छेकर्मको करनेवाला पुरुष दुर्गतिको कभी प्राप्त नहीं होसकता इसहेतु जो पुरुष योगसे भ्रष्ट भी होगयाहै उसकी इसलोकमें भी निंदाप्रभृति दुर्गति नहीं होती और परलोकमें भी नरकप्राप्तिरूप दुर्गति नहीं होती इसहेतु योगभ्रष्टके नाशकी तुम संभावना ही मत करो । भगवान् द्वितीयाध्यायमें भी कहचुके हैं

"नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥" इति ।

औरभी किसीने कहाहै—

"स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले सर्वापि दत्ताऽवनि-
र्यज्ञानां च कृतं सहस्रमखिलं देवाश्च संपूजिताः ।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्य
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात् ॥" इति ।

अर्थात् जिसने परमात्माके विचारमें एकक्षण भी मन लगायाहै मानो उसने तीर्थस्नान दान याग तप अध्ययन इत्यादि सभ पुण्य करलिए ॥ ४० ॥

मू०—प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

दोहा—योगभ्रष्ट निजपुण्यसो स्वर्गजाय सुख भोग ।
तिस कुल जन्मत हो जहां धन शुद्धी अरु योग ॥ ४१ ॥

टी०—योगभ्रष्टका जिसप्रकार नाश नहीं होता वह कहते हैं—प्राप्येति, योगभ्रष्ट उस भ्रष्टयोगके भी प्रभावसे स्वर्गको प्राप्त होकर वहां बहुतकालपर्यंत सुखको भोगकर श्रीमान् और शौचाचारयुक्त महानुभावोंके घर जन्म लेताहै जो फिर वहां शौचाचार तथा कर्मयोगमे चित्तको शुद्धकर योगमें प्रवृत्त हो योगसिद्धिको प्राप्त होजाय ।

यहांपर मधुसूदनसरस्वतीजीने लिखाहै कि अर्चिरादिमार्गसे ब्रह्माके लोकमें जाकर

सुखभोगकर फिर योगभ्रष्ट मनुष्य लोकमें जन्मताहै । यह उचित नहीं क्यों कि आर्चि-रादिमार्गसे मोक्षधामको ही जीव प्राप्त होताहै इससे जो अर्चिरादिमार्गसे जाताहै वह फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता । ब्रह्माके लोकके मार्गका नाम अर्चिरादिमार्ग नहीं । अद्वैतवादमें अविद्या निवृत्त होजानेसे जीव फिर ब्रह्मस्वरूप ही है मुक्तिकेलिए कहीं जाना नहीं पडता यह सभ ठीक नहीं क्यो कि जीव नित्य पदार्थ है और ब्रह्मसे भिन्न तथा अणु है यह प्रथम ही प्रतिपादन करदिआहै इसहेतु मुक्तजीवको श्रीवैकुंठमें जानेका सौभाग्य प्राप्त होताहै श्रीवैकुंठके मार्गका ही अर्चिरादिमार्ग यह नाम है भगवान् स्वयं कहेंगे--

" यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम " इति ।

अर्चिरादिमार्गके विषयमें जो व्यासदेवने वेदान्तसूत्रोंका अधिकरण बांधाहै उसके अभिप्रायको अद्वैतवादी समझे नहीं इससे मनमानी ही व्याख्या करदी है व्यासदेवके साक्षात् शिष्य बोधायन ऋषि थे उनने व्यासदेवसे ही व्यासदेवकृत वेदांतसूत्रोंका अर्थ पढकर वेदांतसूत्रों पर वृत्ति बनाईथी जिसका नाम बोधायनवृत्ति है किं तु आजकल्ह यह ग्रन्थ मिलता नहीं इसी बोधायनवृत्तिके अनुसार श्रीरामानुजस्वामीने श्रीभाष्य बनाया है इससे स्पष्ट सिद्ध है कि वेदान्तसूत्रोंका जो यथार्थ अर्थ है उसे श्रीरामानुजस्वामीने ही भाष्यमें वर्णन कियाहै । श्रीभाष्यसे भी प्रथम बोधायनवृत्त्यनुसार श्रीवैष्णवसंप्रदायका द्रविड (द्रमिड) भाष्य था उसे किसी द्रविडाचार्य महानुभावने बनायाथा किं तु वह भाष्य भी अद्वैतसंप्रदायके जोरके समय नष्टप्राय होगया तथा ग्रंथ बहुत बडा था इसहेतु श्रीरामानुजस्वामीने श्रीभाष्य बनाया । श्रीभाष्यमें कई स्थानोंपर बोधायनवृत्ति तथा द्रविडभाष्यके वचन मिलते हैं । वेदान्तसंप्रदाय इस कलिकालकी यंत्रणासे नष्टप्राय होगई है तथापि उससंप्रदायका श्रीभाष्यरूपी दीपक अभीतक उज्ज्वलरीतिसे जल रहाहै जिसके आश्रयसे अब भी कोई भाग्यवान् योगभ्रष्टपुरुष वेदांतके यथार्थमार्गको प्राप्त होजाते हैं । मुक्तिके विषयको आगे कहीं सविस्तर खंडनमंडनपूर्वक प्रतिपादन करूंगा और अद्वैतमतानुसार भी जीव ब्रह्मके लोकको प्राप्त होकर प्रलयकालमें मोक्षपदको प्राप्त होताहै संसारको प्राप्त नहीं होता ॥ ४१ ॥

मू०--अथ वा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

दोहा--अथवा योगिनके स्वयं कुलमें जन्मत सोइ ।
उक्तउभयविध जन्म इह दुर्लभ मिलतो कोइ ॥ ४२ ॥

टी०--किं वा योगभ्रष्ट पुरुष भ्रष्टयोगसे स्वर्गमें जाकर सुख भोगकर फिर योगी-पुरुषोंके ही कुलमें जन्मलेताहै जो अपने पूर्वजलोगोंसे ही योगका उपदेश पाकर योगमें दृढप्रयत्नसे लगकर योगसिद्धिको प्राप्त होजाताहै । हे पार्थ शुचि श्रीमान् किं

वा योगिओंके कुलका जन्म बडा दुर्लभ है इसे कोई योगभ्रष्ट पुरुष ही पासकते हैं श्रीयामुनाचार्यस्वामीने भी कहाहै--

"तव दास्यसुखैकसङ्गिनां भवनेष्वऽस्त्वपि कीटजन्म मे ।
इतरावसथेषु मास्म भूदपि मे जन्म चतुर्मुखात्मना ॥" इति ।

अर्थात् हे भगवन् जो आपकी दासताका आस्वाद लेनेवाले भाग्यवान् पुरुष हैं उनके घरका तो मुझे कीटजन्म भी स्वीकार है = उनके घरमें कीट होकर भी रहूं तो भी अच्छा है और जो पुरुष आपके दास नहीं उनके घरका तो मुझे ब्रह्माका भी जन्म स्वीकार नहीं, न हो यही कृपा करो। मेरे श्रीरंगदेशिकशतकमें यथा--

आकर्ण्यतां मम निवेदनमेतदस्ति श्रीमानसं श्रवणपीठतले निधाय ।
दुःखप्रदो न हि गुरो निरयेपि वासो यन्नो बिभेमि यमभृत्यकशाभिघातात्॥ १ ॥
इहा न किं तु हृदये भवसागरेऽस्मिन् पापात्मवारिलहरीवति मज्जनस्य ।
स्याच्चेत्तदास्तु जननं तव दासगेहे श्रीरामनामवचनं शुकपूर्वमेव ॥ २ ॥

अर्थात् मैं इसभूसंसारकी अपेक्षा नरकको भी अच्छा समझता हूं जहां पाप धुल जातेहैं इसहेतु यदि इस संसारमें ही मेरा जन्म होना हो तो आपके किसीदासके घर शुकपक्ष्यादिका जन्म प्राप्त हो जो मैं श्रीरामनामको रटा करूं। श्रीतुलसीदासजीने भी कहाहै--

"राम राम राम जीभ जौलौं तू न जपिहै । तौलौं कहूं जाय चहै तिहूँ ताप तपिहै ॥ "। "कलि नाम कामतरु रामको । दलनिहार दारिद दुकाल दुख दोष घोर घनघाम को । " । "जो पै रहनि रामसों नाहीं । तौ नर खर कूकर सूकरसे जाय जियत जग माहीं । काम क्रोध मद लोभ नींद भय भूख प्यास सबहीके । मनुज-देह सुरसाधु सराहत सो सनेह सियपियके । कीरति कुल करतूति भूति भलि शील सुरूप सलोने । तुलसी प्रभु अनुरागरहित जस सालन साग अलोने ॥ " "जाके हिय न रामवैदेही । तजै ताहि कोटि वैरीसम यद्यपि परम सनेही ॥ " इत्यादि ॥

सो भगवद्भक्तोंका संग मिलना बडा ही दुर्लभ है यही भगवान्ने कहाहै ॥ ४२ ॥

मू०--तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३॥

दोहा--पूर्वजन्मके योगको योगिनके कुल पात ।
योगसिद्धिहित यत्नको दृढमन करतो तात ॥ ४३ ॥

टी०--योगीपुरुषोंके कुलमें योगभ्रष्ट जब जन्मताहै तो उसको पूर्वजन्मकृत योगाभ्यासकी बुद्धि आपसे आप संस्कारवशसे प्राप्त होजातीहै तब योगकी सिद्धिके लिए मनसे दृढतर यत्न करताहै । वह यत्न यही है कि निष्काम होकर वर्णाश्रमो-

चित कार्य करने जो अंतःकरण शुद्ध हो और मन तथा इंद्रियोंको विषयोंसे रोकना जो फिर चित्त योगसे भ्रष्ट न हो ॥ ४३ ॥

सू०–पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

दोहा–पूर्व जन्म अभ्यासतें विवश हू करतो योग ।
जिज्ञासुहू योगके तिस छूटत भवरोग ॥ ४४ ॥

टी०–योगीके कुलमें जो योगभ्रष्ट जन्मताहै वह पूर्वजन्मकृत योगाभ्यासके संस्कारसे अवश्य ही योगमें प्रवृत होताहै क्यों कि पूर्वजन्मकृत अभ्यासके संस्कारसे विवश होकर भी जीव उस कर्ममें प्रवृत्त होताहै एवं पूर्वजन्मकृत योगाभ्यासका संस्कार योगभ्रष्टको विवश करके योगाभ्यासमें लगादेताहै । यह योगमार्ग ऐसा प्रशस्त है कि योगीके कुलमें जन्माहुआ योगभ्रष्ट पुरुष यदि योगमार्गके जाननेकी भी इच्छा करताहै तो उस योगेच्छामात्रसे भी प्रकृति = सांसारिक बंधनसे मुक्त होजाता है । अर्थात् ज्यों ज्यों यह योगमें लगताहै त्यों त्यों इसका मन योगानुकूल होताजाता है सो शीघ्र ही योगसिद्ध होजाता है । शब्दब्रह्म नाम यहां प्रकृतिका है ॥ ४४ ॥

सू०–प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

दोहा–पापहीन नर योगमें यत्न करै दृढ जोय ।
बहुत जन्ममें सिद्ध हो पावत मुक्ती सोय ॥ ४५ ॥

टी०–जो पुरुष अनेकबार योगसे भ्रष्ट होजाताहै वह भी जन्मजन्ममें योगाभ्यासके कारण पापसे रहित होजाताहै और योगसिद्धिके लिए दृढ यत्न करतारहताहै तो अनेक जन्ममें भी योगभ्रष्ट होकर अनेक जन्मोंमें योगाभ्यासके कारण किसी न किसी जन्ममें योगसिद्धिको प्राप्त होकर परमधाममें पहुंचजाताहै ॥ "जिन रामनाम मन रटियां । तिन मैलां जन्मजन्मदि भां कटियां ॥" ॥ ४५ ॥

सू०–तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

दोहा–केवल तप वा ज्ञान वा कर्म न साधन जोय ।
तिन सबमें योगी मम प्रिय, तू योगी होय ॥ ४६ ॥

टी०–हे पार्थ केवल कृच्छ्रचांद्रायणादि रूप तपको ही जो करनेवाले हैं किंवा केवल ज्ञानका ही अनुष्ठान करते हैं किंवा केवल यज्ञादि कर्मका ही अनुष्ठान करते हैं इन सभसे योगी ही मुझे प्रिय है इससे हे अर्जुन तू योगी ही बन = योगका ही अभ्यास कर ।

जो अद्वैतीलोग तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्य ज्ञानमात्रसे मोक्षको मानतेहैं उन्हें इस पद्यपर ध्यान देनाचाहिए कि भगवान्‌ने ज्ञानीसे भी योगीको अधिक कहाहै। अभिप्राय यह है कि अद्वैतीलोग कहतेहैं कि यथा तू दशवां है (दशमस्त्वमसि) इस वाक्यसे दशवें पुरुषको अपना अपरोक्ष ज्ञान होजाताहै तथा "तत्त्वमसि" "ब्रह्माहमस्मि" इत्यादि चार महावाक्योंसे ब्रह्मका अपरोक्षज्ञान होजाताहै और "ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति" इस वाक्यसे ब्रह्मज्ञानवालेको ब्रह्मभाव (मोक्ष) कहाहै सो तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्य अपरोक्ष ज्ञानमात्रसे ही मुक्ति होजातीहै ब्रह्मोपासनाकी कुछ अपेक्षा नहीं। तथा ज्ञेयब्रह्म निर्विशेष है और आत्मा ही ब्रह्म है सो ज्ञानसे अज्ञान नष्ट होते ही ज्ञानी जीवन्मुक्त होजाताहै फिर शरीरपातके अनंतर परममुक्त होजाताहै। आत्मा ही ब्रह्म है ब्रह्म व्यापक है इससे वैकुंठधाममें भी जाना नहीं पडता किंतु जीवतासंपादक जो अविद्या-संबंध है ज्ञानसे वह नष्ट होजाताहै आत्मा तो ब्रह्मस्वरूप ही है।

यह सब उचित नहीं यह अद्वैतियोंने बौद्धोंके संगके कारण कल्पानाएं की हैं। प्रथम ही प्रतिपादन करदियाहै कि आत्मा परमात्मासे भिन्न हैं वे अनंत हैं अणु हैं। जीव स्वरूप नित्य है कुछ अविद्यासंबंध कृत नहीं। शेष रही शब्दसे अपरोक्षज्ञानकी बात उसे सुनो—शब्दसे विषयका अपरोक्षज्ञान कभी नहीं होता 'तू दशवां है' यह वाक्य सुनकर दशवें पुरुषको स्वविषयक प्रथम परोक्ष ही ज्ञान होताहै फिर वह अपने देहको नेत्रसे देखताहै सो नेत्रसे अपरोक्षज्ञान होताहै तथा अपने हाथको अपनी छातीपर फेरता है सो त्वचासे अपना अपरोक्षज्ञान होताहै क्यों कि द्रव्यविषयक अपरोक्ष ज्ञान नेत्रसे और त्वचासे ही होताहै शब्दसे नहीं होता। यदि 'दशवां तू है' इस वाक्यको सुननेवाले दशवें पुरुषके नेत्र त्वचा और मन ये न हों तब तो यह भी कहसके कि उसे अपना अपरोक्ष ज्ञान 'दशवां तू है' इस वाक्यसे ही हुआहै सो तो नहीं। एवं तत्त्वमस्यादिवाक्यसे भी अपरोक्षज्ञान नहीं होता किंतु परोक्षज्ञान ही होताहै। ब्रह्मविषयक परोक्ष ज्ञानसे तो अद्वैती भी मोक्ष नहीं मानते सो ब्रह्मोपासनासे ही मोक्ष होती है उसी ब्रह्मोपासकरूप योगीको यहां भगवान्‌ने सबसे अधिक कहाहै। इसीहेतु "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इससूत्रपर जो अद्वैती लोग ब्रह्मज्ञानमात्रको संपाद्य कहतेहैं सो उचित नहीं किंतु ब्रह्मोपासनासे ही मोक्ष होसकती है सो ब्रह्मोपासनारूप ही ज्ञान संपादन करना यही इससूत्रका अर्थ है। यहांपर जो ज्ञेय है ब्रह्म उसका आगे "जन्माद्यस्य यतः" इस सूत्रसे सविशेषरूपसे ही लक्षण कियाहै इस हेतु परमात्मा ब्रह्म अनंत कल्याण अप्राकृत गुणोंका सागर है निर्विशेष नहीं, तत्त्वमस्यादिवाक्यसे अपरोक्षज्ञान हो नहीं सकता और शरीरवालेके सांसारिक सुख तथा दुःखकी निवृत्ति नहीं होसकती इससे जीवन्मुक्ति भी कुछ

पदार्थ नहीं केवल अद्वैतियोंकी अपने बड़प्पनकेलिए कल्पनामात्र है यह सब भी प्रथम प्रतिपादन कर ही चुकाहूं। यहां केवल इतना ही कहना है कि केवल ज्ञान-वाले पुरुषकी अपेक्षा योगी (उपासक) श्रेष्ठ है । लोकमें भी राजाको स्वरूपमा-त्रसे जाननेवालेकी अपेक्षा राजामें प्रेम रखनेवाला राजका भृत्य श्रेष्ठ कहाताहै तथा बहुत फल पाताहै ।

यदि कहो कि यहांपर ज्ञानीशब्द परोक्षज्ञानवालेका ही नाम है उससे तो हम भी योगी=नाम अपरोक्ष ज्ञानवालेको श्रेष्ठ मानतेहैं सो यह भी कथन ठीक नहीं क्यों कि भगवान्ने "ज्ञानिभ्यः" इतना ही कहा है कुछ 'परोक्षज्ञानवद्भ्यः' ऐसा नहीं कहा जो आपका स्वार्थ (मतलब) सिद्ध हो । और योगीशब्दका अपरोक्ष-ज्ञान यह अर्थ भी तुमारा सांकेतिक ही है। सो योगीशब्द यहां ब्रह्मोपासकका ही नाम है ।

यदि कहो कि ब्रह्मोपासनारूप भक्तिको तो भगवान् आगेके षट्कमें कहेंगे इन प्रथमके छे अध्यायोंमें तो उस भक्तिका साधनरूप जो जो जीवात्माओंका समान-रूपत्वेन ज्ञान तथा उस ज्ञानका भी साधन जो कर्मयोग इन्ही दोनोंका भगवान् कहरहेहैं इससे यहांपर योगीनाम ब्रह्मोपासकका नहीं किं तु आत्मसाक्षात्कारपूर्वक उक्त समतारूप योगके अनुष्ठान करनेवालेका ही है ऐसा यदि आप वैष्णवमतसे पूर्वपक्ष करतेहैं तो भी अद्वैतीका तो स्वार्थ सिद्ध नहीं होसकता क्यों कि अद्वैती तत्त्वमस्यादिवाक्यसे जो अपरोक्षज्ञान मानते हैं वह भी उक्तरीतिसे खंडित होगया और जो आत्माको ही ब्रह्म मानतेहैं वह भी भेदवादसिद्धिसे खंडित होगया । और अद्वैतीने जो यहां योगीशब्दका आत्माको ब्रह्मजाननेवाला यह अर्थ किआहै वह भी सिद्ध नहीं हुआ ।

यद्यपि यहांपर श्रीरामानुजस्वामीका यही अभिप्राय प्रतीत होताहै कि योगीनाम आत्मसाक्षात्कारपूर्वक सकलजीवोंको समानरूप समझनेवालेका ही यहांपर है और यही अर्थ वस्तुगत्या यथार्थ है तथापि अब आगेके षट्कमें भक्तियोगका ही भगवान् उपदेश करेंगे और यह षट्क समाप्त होरहाहै इससे यदि यहांपर योगीशब्दका ब्रह्मोपा-सक अर्थ किआजाए तो भी कुछ बुरा नहीं जिसमें ब्रह्मोपासकका उपक्रम होजाय । अभिप्राय यही है कि अद्वैतीका उक्तसिद्धांत इस भगवद्वचनसे अवश्य खंडित होता ही है ॥ ४६ ॥

मू०—योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

दोहा–श्रद्धासों अरु भक्तिसों मोमें चित्त लगाय।

मोहि उपासत जो हि सो प्रिय मम किरपा (कृपा) पाय ॥ ४७ ॥

इति पंजाबी पंडित सुदर्शनाचार्यशास्त्रिप्रणीत श्रीभगवद्गीतासतसई षष्ठाध्याय समाप्त हुआ॥

टी०–जो पुरुष मुझमें चित्त लगाकर श्रद्धापूर्वक मेरी उपासना करताहै वह उक्त चारोंप्रकारके योगिओंसे भी बढ़कर मुझे प्रिय है अतएव वह मेरी कृपाको संपादन करताहै। इस श्लोकसे भी पूर्वश्लोकपर जो कुछ मैं लिखआयाहूं वही सिद्ध होताहै अग्रिमषट्कमें भक्तियोग कहना है उसीका भगवान्ने यहांपर उपक्रम करदियाहै।

भगवान् श्रीनारायण अनंतकल्याणगुणगणैकतान प्रणतार्तिहरण कृपासिंधु वात्सल्यका सागर सकलप्रपंचकी उत्पत्ति स्थिति प्रलयका कर्ता वाणी और मनसे अपरिच्छेद्य तथा अनालोचितविशेषाशेषलोकशरण्य है वही भूभारको दूर करनेकेलिए धर्म और साधुओंकी रक्षाकेलिए भाग्यवान् वसुदेवके घर प्रकटाहै उसीकी भक्तिसे जीव संसारसागरसे पार होताहै इससे भक्तपुरुष धन्य है भगवत्का प्रिय होताहै इसीबातको भगवान्ने कहाहै–"योगिनामपि" इति ॥ ४७ ॥

इति पंजाबीसुदर्शनाचार्यशास्त्रि०गीत,तत्त्वार्थसुदर्शननाम टीकाका षष्ठाध्याय समाप्त हुआ प्रथमषट्क भी समाप्त हुआ ॥



श्रीः ।

अथ सप्तमोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच—

मू०—मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

दोहा—मम आश्रयले मोहिमें मनको योग लगाय ।
कहुं तोहि जस मम रूप सुन जाहि जानै तव पाय ॥ १ ॥

टी०—भगवान्ने जो इस विषमसमयमें अर्जुनको उपदेशदेना आरम्भ कियाहै वह केवल अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त करनेकेलिए ही नहीं आरम्भ किया किंतु संसारबंधनिवृत्तिपूर्वक श्रीवैकुंठधामकी प्राप्तिकेलिए ही उपदेश आरम्भ कियाहै जो अर्जुन भगवदुपदेशानुसार अनुष्ठानकरके श्रीवैकुंठलोकको प्राप्त हो श्रीवैकुंठधामकी प्राप्ति ही मोक्षपदार्थ है "यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम" "स न पुनरावर्तते स न पुनरावर्तते" इत्यादि स्मृतिश्रुतियोंसे मोक्ष ही परमपुरुषार्थ है इसीकेलिए परम उदार दयैकसागरवात्सल्यजलधि अशेषलोकशरण्य वसुदेवपुण्यपुञ्ज श्रीनारायणका उपदेश संगत होसकताहै । वह मोक्षरूपी फल तो सिवाय भक्तिके कोई प्रकार प्राप्त नहीं होसकता भगवान् स्वयं ही कहेंगे—

"भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥" इति ।

श्रुति कथा—"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्" इति । यद्यपि "तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते" "तमेवं विद्वानमृत इह भवति" "आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः" "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यंते सर्वसंशयाः । क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" इत्यादि श्रुतिएं ज्ञानसे मोक्षप्राप्तिको कहती हैं, तथापि यह वेदांतमीमांसा है मीमांसा नाम विचारका है इसहेतु मीमांसाका कर्तव्य यहीहै कि पूर्वापरके विरोधको मिटादेना । सो कुछ उक्त वचनोंसे तो यह प्राप्त हुआ कि मोक्ष भगवद्भक्तिसे प्राप्त होतीहै और कुछ उक्तवचनोंसे यह प्राप्त हुआ कि मोक्ष भगवज्ज्ञानसे प्राप्त होती है अब इन वचनोंके विरोधको मिटाकर एकवाक्यता करनी चाहिये वह यों होगी कि भक्ति क्या पदार्थ है यह प्रथम विचारो तो "सा

परानुरक्तिरीश्वरे " " स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते बुधैः " इत्यादि वाक्योंसे यही सिद्ध होताहै कि प्रेमपूर्वक जो भगवान् श्रीनारायणका ध्यान है वही भक्ति पदार्थ है। और जो वचन ज्ञानसे मोक्षको कहतेहैं उनका तात्पर्य भी ध्यानसे ही है और उ वचनोंमें यह भी नहीं कहा कि वह ध्यान प्रेमपूर्वक न होना चाहिए किं तु ध्यानमा कहाहै सो भक्ति भी प्रेमपूर्वक ध्यानका ही नाम है इससे मोक्षसाधनबोधक समग्र-वाक्योंका भक्तिसे ही तात्पर्य है। ध्यानमात्र और भक्तिमात्रको पृथक् पृथक् मोक्षका साधन मानोंगे तो विकल्प प्राप्त होगा विकल्पमें आठ प्रकारके दोष भी हैं। और " नान्यः पन्था अयनाय विद्यते " इस नियामकश्रुतिसे भी विरोध ही पडेगा इससे उक्तविकल्प स्वीकार करना उचित नहीं। उक्तरीतिसे उपसंहार करना दोनों मीमांसाओंमें अनेक स्थानोंमें प्रसिद्ध है यथा वेदांतके " समान एवं चाभेदात् " इस सूत्र-पर विचार किआ है कि " स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपं सत्यसंकल्प-माकाशात्मानम् " तथा–"मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः " इन दोनों श्रुतिओंमें जो उपासना कही है वह गुणभेदसे भिन्न होनीचाहिए क्यों कि एकत्र तो अधिपतित्वादि गुण कहेहैं एकत्र नहीं कहे इसपर यही सिद्धांत किआहै कि दोनों वचनोंके गुणोंको मिलाकर उपसंहार करके दोनों उपासनाओंको एक ही मानना चाहिए। एवं " तमेव विदित्वा " इत्यादिवचनोंकी ओर " नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः" "भक्त्या त्वनन्यया शक्यः " इत्यादिवचनोंकी एकवाक्यता अवश्य करनी चाहिये उस एकवाक्यतासे यही प्राप्त होताहै कि भक्तिसे ही मोक्ष प्राप्त होसकताहै। और भक्ति तो प्रेमपूर्वक ध्यान ही है सो भक्तिके भीतर ध्यान आही जाताहै और केवल ध्यानके भीतर तो प्रेम आता नहीं इससे मोक्ष-केलिए भक्ति ही साधन है उसका अनुष्ठान करना ही चाहिए।

उसभक्तिको अब इस षट्कमें भगवान् कहेंगे। उस भक्तिका साधन है जीवात्म-साक्षात्कार उसका भी साधन है कर्मयोग इन दोनोंको प्रथमके छै अध्यायोंमें भगवान्ने कहदिआहै क्यों कि प्रथम साधनको कहकर तदनंतर ही साध्यको कहना उचित होताहै। मूलार्थ यथा–

मय्यासक्त–हे पार्थ मेरा आश्रय लेकर तथा मेरेमें चित्तको लगाकर योगका अनुष्ठान करनेसे जिसप्रकार (जिसज्ञान) से मेरेको जानसकेगा उस ज्ञानको तू सावधान होके सुन। उस वक्ष्यमाण ज्ञानसे तू मुझे सकलरूपसे अवश्य जानजाएगा वह ज्ञान ऐसे प्रकारका है ॥ १ ॥

मू०–ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

दोहा–भेदविषय विज्ञान अरु आपरूपको ज्ञान ।
कहौं, जासु रहि शेष ना जानन योग सुजान ॥ २ ॥

टी०–हे पार्थ मैं तेरेको अपने स्वरूपका ज्ञान तथा मेरा और पदार्थोंसे जो विशेष है तद्विषयक विज्ञानका उपदेश देताहूं उस ज्ञानसे तुमको सभी विषय ज्ञात होजायगा कोई भी विषय अज्ञात नहीं रहेगा ।

श्रुतिने भी कहाहै–"तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति ? कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति ? यथा सौम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" अर्थात् यथा एक मृत्तिकाके ज्ञानसे मृत्तिकाके समग्रपदार्थोंका ज्ञान हो जाताहै क्यों कि मृत्तिकाके पदार्थ सभी मृत्तिकाके ही परिणाम हैं एवं एकपरमात्माके ज्ञानसे ही समपदार्थका ज्ञान होजाताहै क्यों कि पदार्थमात्र परमात्माका ही परिणाम है तथा जीव भी परमात्माका अंश ही है इसीअभिप्रायसे यहांपर भगवान् भी कहतेहैं "यज्ज्ञात्वा" इत्यादि ।

जो लोग प्रपंचको परमात्माका विवर्तमानतेहैं और परिणाम्युपादान मायाको मानतेहैं वह सब ठीक नहीं अभिप्राय यह है कि अद्वैतीलोग कहते हैं कि परब्रह्म निर्विशेष पदार्थ है वह अविद्याके वशसे अनेकप्रकारका प्रतीत होताहै इसीहेतु समग्रप्रपंच मिथ्या है क्यों कि यह सब ब्रह्मका विवर्तरूप अतात्त्विक अन्यथाभाव है और प्रपंचका परिणाम्युपादान कारण माया अर्थात् अविद्या (अज्ञान) है । यह सब मिथ्याप्रलापमात्र है–प्रपंचमिथ्यात्वका प्रथम ही खंडन करदिआहै इससे प्रपंच परमात्माका विवर्त्त नहीं किंतु परिणाम ही है । और परिणामिकारणके ही ज्ञानसे उसके परिणामरूपकार्योंका ज्ञान होसकताहै इसीबातको उक्तश्रुति भी कहरहीहै कि एक परमात्माके ज्ञानसे सबका ज्ञान होसकताहै । यदि परमात्मा प्रपंचका परिणामी कारण न होता तो परमात्माके ज्ञानसे सकलप्रपंचके ज्ञानको श्रुति न कहती । और वेदांतका सिद्धांत है कि प्रपंचका निमित्तकारण भी परमात्मा है और उपादानकारण भी परमात्मा ही है यदि मायाको प्रपंचका परिणामी कारण मानोगे तो उक्तसिद्धांतमें भी विरोध पडेगा ।

यदि कहो कि परिणामीकारणका स्वभाव परिणामकार्यमें जाताहै सो परमात्मा चेतन है उसका यदि प्रपंच परिणाम होता तो प्रपंच भी चेतन ही होता जड न होता । ऐसा नियम नहीं क्यों कि गोबरसे बिच्छू उत्पन्न होताहै तुम भी मानते हो

कि उस बिच्छूका गोबर ही परिणामी कारण है तो भी गोबरके सब स्वभाव बिच्छूमें यथा नहीं पाएजाते एवं परमात्माका भी चैतन्यधर्म प्रपंचमें प्राप्त नहीं होता।

यदि कहो कि परमात्मा समग्रही प्रपंचरूपसे परिणत होगा तो परमात्मस्वरूपका अभाव प्राप्त होगा यदि थोडासा परिणत होगा तो सावयवत्वात् अनित्यत्व दोष प्राप्त होगा तो यह दोष तो तुमारे भी अविद्यासंबंधमें हुई है यदि समग्रब्रह्मके साथ अविद्याका संबंध है तब तो शुद्ध ब्रह्मका अभाव प्राप्तहुआ यदि अविद्याका संबंध समग्रब्रह्मके साथ नहीं किंतु ब्रह्मके किसी देशके साथ है तब वही सावयवत्वात् अनित्यत्वदोष प्राप्तहुआ। और सर्वोत्कृष्टज्ञानस्वरूप परमात्मामें अज्ञानस्वरूप अविद्याका संबंध हो भी नहीं सकता। और उक्तश्रुतिने मृत्तिकारूपी परिणामी कारणका दृष्टांत दिखाहै इससे यही सिद्ध होताहै कि इस प्रपंचका परिणामी कारण परमात्मा ही है और यह प्रपंच परमात्माका ही परिणाम है। सो श्रीनारायण प्रथम प्रकृतिके रूपसे परिणत होते हैं फिर उस स्वपरिणामभूत प्रकृतिने समग्र जडप्रपंचकी रचना करते हैं ॥ २ ॥

मू०-मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

दोहा-ज्ञानयोग्य नर कोइ ही मम दर्शन मन लात।
तिनमें कोइ हि सिद्ध हो तिनमें मो कोउ पात ॥ ३ ॥

टी०-शास्त्राधिकारयोग्य सहस्रों मनुष्योंमेंसे कोई ही सिद्धिपर्यंत यत्न करताहै प्रायः सो आरंभशूर ही पुरुष हैं। उस सिद्धिको पाकर भी यत्नकरनेवालोंसे कोई पुरुष मुझे तत्त्वपूर्वक जानताहै अर्थात् कोई ही भाग्यवान् मेरे तत्त्वज्ञानको प्राप्त करताहै। यहां पर सिद्धि भगवत्साक्षात्कारकी जाननी।

इसमें कुछ संदेह नहीं कि भगवान्का तत्त्वज्ञान बहुत ही अल्पलोगोंको है। नैयायिकादिलोगोंने उसे निमित्तकारण ही माना है सांख्यवादिओंने उसका अभाव ही मानाहै अद्वैतिओंने उसे निर्विशेष ही मानाहै ये सब मिथ्याज्ञान हैं इनसबका प्रथम ही खंडन करचुकाहूं। भगवान् अपने तत्त्वज्ञान तथा स्वरूपको स्वयं ही आगे कहेंगे। भगवान्की गुप्त लीलाओंको तो व्रजलोगोंने ही जानपायाथा किंतु वेदांतने जो कुछ प्रतिपादन कियाहै उसे भी सिवाय वैष्णवोंके और कोई नहीं जानता वैष्णवोंमें भी प्राचीन महानुभावोंको ही यह सौभाग्य प्राप्त हुआ कहा भी है-" भाग्यवन्तः प्रपद्यन्ते कृष्णस्य चरणाम्बुजम् " भगवान् स्वयं ही कहेंगे=" वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः " " मां तु वेद न कश्चन " इति। ' भागहीन भाग कहां भगवतसुख ध्यावै। कर्महीन कर्म कहां राम नाम गावै ॥ ' ' गही सुपान सुजानकी रत्नमयी हिकमाय

दूर। हटाई चतुरवर कौशिन लोभ दिखाय ॥" "नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते।" "यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः।" "अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पंडितं मन्यमानाः" इत्यादि श्रुति भी इसी अर्थको दृढ कररही हैं ॥ ३ ॥

मू०–भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

दोहा–गगन अग्नि पृथिवी जल वायु बुद्धि मन जान।
अहंकार यह अष्टविध मेरी सृष्टी मान ॥ ४ ॥

टी०–हे पार्थ--पृथ्वी जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार ये भी मेरी एक प्रकारकी अष्टविध सृष्टि है। किं वा मेरा = मुझसे अधिष्ठित तथा प्रेरित प्रकृतिके ये आठ प्रकारके प्रथम परिणाम हैं। यथा प्रकृतिसे बुद्धि (महत्तत्त्व) बुद्धिसे अहंकार अहंकारसे उक्त पंच सूक्ष्मभूत और मन ये उत्पन्न होतेहैं कहा भी है।

" अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराश्चैव षोडश।
अथ व्यक्तानि सप्तैव प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः ॥
अव्यक्तं च महांश्चैव तथाहंकार एव च।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥
एताः प्रकृतयस्त्वष्टौ विकारानपि मे शृणु।
श्रोत्रं त्वक् चैव चक्षुश्च जिह्वा घ्राणं च पंचमम ॥
वाक् च हस्तौ च पादौ च पायुर्मेढ्रं तथैव च।
शब्दस्पर्शौ च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ॥
एते विशेषा राजेन्द्र महाभूतेषु पञ्चसु।
दशेन्द्रियाण्यथैतानि सविशेषाणि मैथिल ॥
मनःषोडशमित्याहुरध्यात्मगतिचिन्तकाः ॥ " इति मोक्षधर्मे।

तत्त्वत्रयमें भी कहाहै--"विषमविकारेषु प्रथमविकारो महान् अयं सात्त्विकराजसतामसभेदेन त्रिविधोऽध्यवसायजनकः" "अतो (महत्तत्त्वात्) वैकारितैजसभूतादिभेदेन त्रिविधोऽहङ्कारो जायते, अहङ्कारोऽभिमानहेतुः" "अत्र वैकारिकाच्छ्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणरूपाणि ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च वाक्पाणिपादपायूपस्थरूपाणि कर्मेन्द्रियाणि पञ्च, मनश्चेत्येवं दशेन्द्रियाणि जायन्ते" भूतादेः शब्दतन्मात्रं जायते, अस्मादाकाशः स्पर्शतन्मात्रं च जायते, स्पर्शतन्मात्रात् वायुः रूपतन्मात्रं च जायते तस्मात्तेजो रसतन्मात्रं च जायते तस्मात् पृथिवी जायते" इति। अर्थात् प्रकृतिके तीनों गुण जब विषम होते हैं तो उससे सात्त्विक राजस तामस यह त्रिविध महत्तत्त्व उत्पन्न होताहै महत्तत्त्वसे भी त्रिविध अहंकार उत्पन्न होताहै उसमेंसे

वैकारिक अहंकारसे एकादश इंद्रियें उत्पन्न होती हैं और भूतादि अहंकारसे शब्दतन्मात्र उत्पन्न होतेहैं, शब्दतन्मात्रासे आकाश और स्पर्शतन्मात्रा उत्पन्न होतेहैं, स्पर्शतन्मात्रासे वायु और रूपतन्मात्रा उत्पन्न होतेहैं, रूपतन्मात्रासे तेज और रसतन्मात्रा उत्पन्न होतेहैं, रसतन्मात्रासे जल और गंधतन्मात्रा उत्पन्न होतेहैं, गंधतन्मात्रासे पृथ्वी उत्पन्न होती है । ये ही आकाश वायु तेज जल तथा पृथ्वी पंचमहाभूत कहाते हैं । वैष्णवोंके जाननेकेलिए यह तत्त्वत्रयोक्त सृष्टिक्रम यहां लिखदिआहै यही वेदका सिद्धांत है तत्त्वत्रयमें विशेषकर देखलो ॥ ४ ॥

मू०—अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

दोहा—उक्त अष्टविध अपर हैं, यासों भिन्न अपार ।
जीवरूप पर सृष्टि मम जो जडको आधार ॥ ५ ॥

टी०—हे पार्थ जो मैंने आठ प्रकारकी प्रकृतिरूप अपनी सृष्टि कही है यह अपर निकृष्ट है क्यों कि चेतनकी अपेक्षा जड निकृष्ट ही होताहै । इस सृष्टिसे पर=उत्तम जीवरूप मेरी सृष्टि है क्यों कि जीव भी मेरे ही अंश हैं और प्रलयमें मुझमें लीन होकर सर्गादिमें मुझसे ही प्रकट होतेहैं । इस जीवरूप मेरी सृष्टिने ही जगत्=जडवर्गको धारण कर रक्खाहै अर्थात् जडवर्गके भीतर आत्मरूप होकर जीव निवास करतेहैं । इसी बातको द्वितीयाध्यायमें भी कहाहै—

"अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्" इति ।

जीव भी तीनप्रकारके हैं बद्ध मुक्त और नित्यमुक्त । बद्ध हैं जो संसारमें पडेहैं, मुक्त वे हैं जो श्रीवैकुंठधाममें पहुंचगए, नित्यमुक्त वे हैं जो कभी संसारमें प्राप्त नहीं होते सदा अनादिकालसे श्रीवैकुंठमें ही रहकर परमदयासमुद्र अनंत कल्याणगुणार्णव रूपैकनिधि श्रीनारायणकी सेवा करतेहैं । श्रीयामुनाचार्यस्वामीने कहा भी है—

" निवासशय्यासनपादुकांशुकोपधानवर्षातपवारणादिभिः ।
शरीरभेदैस्तव शेषतां गतैर्यथोचितं शेष इतीर्यते जनैः " इति ।

अन्यत्र भी कहाहै—

" महर्षिवर्यैः स तु बद्धमुक्तप्रभेदतोऽन्यत चेतनो द्विधा ।
बद्धोपि तत्रास्ति मुमुक्षवश्च बुभुक्षवश्चेति प्रभेदतो द्विधा ॥ १ ॥
अनादिकर्मोत्करजातनानादेहाभिमानी सुमतोऽथ बद्धः ।
स चाच्युतहेतुकृपाकटाक्षतोऽविद्याक्रियावासरुचिप्रवृत्तेः ॥ २ ॥"

१ अविद्याऽज्ञानम्, क्रिया कर्माणि, वासो वासना, रुचिः इच्छा प्रवृत्तिर्हानोपादाने एतत्प्रसंबन्धस्य आत्मानं विमोक्तुमिच्छुर्मुमुक्षुरित्युच्यते, इत्यन्वयः ।

विमोक्तुमिच्छुस्तु मुमुक्षुरुच्यते संबन्धतः प्राकृतसंमतोऽयम् ।
तथैव सांसारिकभोगमिच्छुर्बुभुक्षुरन्यः खलु कथ्यते बुधैः ॥ ३ ॥
विहाय चान्यत्परमं दयालुं प्राप्यं समर्थं निरपायमीश्वरम् ।
उपायमेतेऽध्यवसीय सुस्थिता ज्ञेयाः प्रपन्नाः सततं हरिप्रियाः ॥ ४ ॥
प्रपन्नश्चापि दृप्तः स तथा चार्त इति द्विधा ।
शरीरस्थितिपर्यन्तमाद्योऽत्रैव यथोचितम् ॥ ५ ॥
प्राप्तदुःखादि भुञ्जानः शरीरान्तेऽवसीय च ।
महाबोधोऽतिविश्वासो मोक्षसिद्धिमवाप्नुयात् ॥ ६ ॥
अथान्योऽसहमानस्तत् क्षणमेव तु संसृतिम् ।
तथैव भगवत्प्राप्तौ सत्वरस्त्वार्त उच्यते ॥ ७ ॥
नित्यकादाचित्कभेदान्मुक्तश्चैवं द्विधोच्यते ।
नित्याः कदाचित्तत्रापि सिद्धाश्च पुरुषा वराः॥ ८ ॥
गर्भजन्मादिदुःखं येनाऽननुभूय स्थिताः सदा ।
सीतारामप्रियाः शश्वत्तेऽनन्तगरुडादयः ॥ ९ ॥
परिच्छदाः परिजना नित्यमुक्ता अपि द्विधा ।
किरीटाद्या अनन्ताद्या क्रमात्ते च प्रकीर्तिताः ॥ १० ॥
भागवताः केवलाश्च कादाचित्का अपि द्विधा ।
तत्र भागवता बोध्या ये तु ते भगवत्पराः॥ ११ ॥
भगवद्भोग्यभृत्यादिसाक्षात्कारसुखाश्रयाः ।
भगवन्मानसा नित्यं तदनुध्यानतत्पराः ॥ १२ ॥
केचिद् गुणानुसंधानपराः कैङ्कर्यतत्पराः ।
इत्थं महर्षिभिः प्रोक्ता द्विविधा भगवत्पराः ॥ १३ ॥
द्विविधाः केवला बोध्या दुःखाभावैकतत्पराः।
आत्मानुभूतिपरमा इति प्रोक्ता महर्षिभिः ॥ १४ ॥" इति ॥

अर्थात्-महर्षि उस जीवके प्रथम दो भेद कहेहैं एक बद्ध द्वितीय मुक्त, बद्धके भी फिर दो भेद हैं एक भोगकी इच्छावाले द्वितीय मोक्षकी इच्छावाले ॥ १ ॥ अनादिकर्मोंकरके देहमें अभिमान रखनेवाला अज्ञानी बद्ध है वही स्वर्गादिभोगकी इच्छा रखनेसे बुभुक्षु कहाताहै । और जिस बद्धजीवपर भगवत्की कृपा होतीहै वह संसारसम्बन्धसे छूटनेकी इच्छा करताहै वही मुमुक्षु कहाताहै ॥२ ॥ ३ ॥ जो मुमुक्षु अपने ज्ञानादिकनके विश्वासको छोडकर भगवत्प्राप्तिमें केवल भगवान्‌को ही उपाय मानते हैं वे प्रपन्न कहातेहैं ॥ यथा-

कर्मज्ञान अरु भक्तिको जो विश्वास निरासु।
उपाशून्यता जानिहौं हरिपद निश्चय जासु॥
हरि उपायोपेय मम ऐकान्तिकता मान।
मिल्यो रहै भव ना मिलै पंकजपत्रसमान॥

प्रपन्न भी दो प्रकारके हैं एक दृप्त द्वितीय आर्त, उनमेंसे दृप्तप्रपन्न सांसारिक दुःखोंसे घबराता नहीं शरीरपातपर्यंत प्रारब्धदुःखोंको भोगकर शरीरांतकालमें परमधामको प्राप्त होताहै ॥ ५ ॥ ६ ॥ और जो प्रपन्न संसारसंबंधको एक क्षण भी सहता नहीं और भगवत्प्राप्तिकेलिए बडी त्वरा कर रहाहै वह आर्त कहाताहै ॥ ७ ॥ मुक्त भी दोप्रकारका हैं नित्यमुक्त और बद्धमुक्त उनमेंसे नित्यमुक्त वे हैं जो जन्ममरणके दुःखको प्राप्त नहीं होते और सदा श्रीवैकुंठधाममें वास करते हैं यथा शेषजी गरुडजी विष्वक्सेनजी इत्यादि। यद्यपि ये लोग भी कभी कभी भगवदाज्ञासे धर्मरक्षाकेलिए भूपर जन्मलेकर पधारते हैं तथापि इनको जन्ममरणादिका दुःख स्पर्श नहीं करता इससे इनकी नित्यमुक्ततामें दोष मत समझना। तथा भगवान् स्वयं अवतार धारण करते हैं वैसे ही नित्यमुक्तोंके भी अवतारको जानो ॥ ८ ॥ ९ ॥ नित्यमुक्त भी दो-प्रकारके हैं एक परिच्छद द्वितीय परिजन। किरीटकुंडलादि जो भगवत्सामग्रीरूप हैं वे परिच्छद हैं और सेवाकरनेवाले शेषादिक परिजन कहातेहैं ॥ इसी परिजनभावको उद्देश्य करके श्रीयामुनाचार्यस्वामीने कहाहै–

धिगशुचिमविनीतं निर्दयं मामलज्जं परमपुरुष योहं योगिवर्याग्रगण्यैः। विधिशिव-सनकाद्यैर्ध्यातुमत्यन्तदूरं तव परिजनभावं कामये कामवृत्तः ॥" अर्थात् हे परमपुरुष भगवन् मुझ अशुचि अविनीत तथा निर्लज्जको धिक्कार है कि जिस आपके परिजन-भावका ब्रह्मा शिव सनकादियोगिवर्य भी ध्यान भी नहीं करसकते आपके उस परि-जनभावकी मैं लोभी होकर इच्छा करताहूं ॥ १० अनादिकालसे संसारमें रहकर कभी आचार्य तथा भगवत्की कृपासे जो मुक्त होतेहैं वे बद्धमुक्त कहातेहैं वे दो प्रकारके हैं भागवत और केवल उनमेंसे जो भगवत्पर हैं वे भागवत हैं उनमेंसे भी कोई भगवत्का ध्यान करतेहैं कोई भगवान्की लीलाओंका कोई भगवान्के गुणोंका श्रीवैकुंठमें ध्यान करतेहैं तथा भगवत्की सेवा करतेहैं ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ केवल भी दोप्रकारके हैं एक तो श्रीवैकुंठमें जाकर संसार दुःखैकनिधि है इसका अनुभव करतेहैं द्वितीय अपने स्वरूपका अनुभव करतेहैं। इनको भगवत्सेवाका सौभाग्य प्राप्त न होनेसे इनका नाम केवल है ॥ १४ ॥ इसीहेतु शास्त्रकारोंने मोक्ष चारप्रकारका

१ यह सब मेरी बनाई अष्टादशरहस्य भाषामें देखो।

कहाहै-सालोक्य, समीप्य, सारूप्य, सायुज्य, इति। ये बद्धजीव भी अनंत हैं बद्धमुक्तभी अनंत हैं तथा नित्यमुक्त भी अनंत हैं ॥ इसप्रकारकी भगवान्‌की जीव सृष्टि है। इसी बातको भगवान् कहते हैं-"अपरेयम्" इत्यादिना ॥ ५ ॥

मू०-एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

दोहा--सकल भूत कारण इहौ द्विविधा प्रकृती तात।
निखिललोक मोसें भयो अंतहि मोमें जात ॥ ६ ॥

टी०--हे पार्थ संसारमें जो कुछ पदार्थ है उसका ये दोनों प्रकृति ही कारण हैं अर्थात् जडवर्ग जो घट पट शरीरादि है उसका तो 'भूमिरापः' इत्यादि जो आठ प्रकारकी प्रकृति कही है वह उपादान कारण है और चेतनवर्ग जो है वह तो जीवस्वरूप नित्य है जो मैं देवदत्त हूं मैं यज्ञदत्त हूं इति जीवसहित देह है उसका ये दोनों प्रकृति कारण हैं। येदोनों प्रकारकीप्रकृति भी मेरी सृष्टि है इसहेतु यह समग्र प्रपंच मुझसे ही उत्पन्न होताहै और प्रलयमें मुझमें ही लीन होजाताहै। श्रुतिने भी कहाहै—

"यतो वा इमानि वा भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" "महानव्यक्ते लीयते अव्यक्तमक्षरे लीयते अक्षरं तमसि लीयते तमः परेदेव एकी भवति विष्णोः स्वरूपात्परतोदिते द्वे रूपे प्रधानं पुरुषश्च" इति। स्मृतिर्यथा-

"प्रकृतिर्या मयाख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी।
पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि ॥
परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः।
विष्णुनामा स वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते" इति ॥

भगवान्‌ने "यज्ज्ञात्वा" यहांपर ज्ञानोपदेशप्रदानकी, प्रतिज्ञाकर यहांतक इन तीन श्लोकोंमें संक्षेपसे तीनों तत्त्वोंका उपदेश करदियाहै। तीन तत्त्व ये हैं- अचित, चित, ईश्वर। अचित नाम समग्र जडवर्गका है। चित् नाम जीववर्गका है। ईश्वर नाम सकलेश्वर श्रीनारायणका है। उसमेंसे "भूमिरापः" इससे अचित् वर्ग संक्षेपसे कहा, "जीवभूताम्" इससे जीववर्गको संक्षेपसे कहा, और "अहं कृत्स्नस्य" इससे ईश्वरको कहा इसको आगे भी सविस्तर कहेंगे। वह ईश्वर अनंतकल्याणगुणसागर भक्तवत्सल श्रीनारायण है सदा श्रीवैकुंठमें लीला करताहै उसके भी पांच प्रकारके रूप हैं-पर, व्यूह, विभव, अंतर्यामी, अर्चावतार, इति। इनमेंसे परनाम वैकुंठनायका है उसे ही परवासुदेव कहतेहैं वही सकलानंतब्रह्मांडोंका तथा श्रीदेवीभूदेवीनीलादेवीका नायक है। वह कहा भी है-

"वैकुण्ठे तु परे लोके श्रिया सार्द्धं जगत्पतिः।
उभाभ्यां भूमिनीलाभ्यां सेवितः परमेश्वरः॥
वैकुण्ठे तु परे लोके नित्यत्वेन व्यवस्थिताः।
पश्यन्ति च सदा देवं नेत्रैर्ज्ञानेन चाऽमराः॥" इति।

श्रुति यथा—"स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः। देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्॥" इति।

वासुदेव संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये चार रूप व्यूहके हैं इनमेंसे संकर्षणादि तीन रूपोंसे भगवान् सृष्टि और पालन तथा संहारादि करतेहैं। कहा भी है।

"उपासकानुग्रहार्थं जगतो रक्षणाय च।
आविरासीद्भगवतः पञ्चायुधपरिष्कृतः॥
सोयं संकर्षणाख्योऽभूत्तदेकान्तवपुर्धरः।
रुक्माभः सोयममलः सर्वशास्त्रेषु शब्दितः॥
सोयं प्रद्युम्ननामाभूत्तदेकान्तवपुर्धरः।
इन्द्रनीलप्रतीकाश एष शास्त्रेषु शब्दितः॥
ततो नाम्नाऽनिरुद्धोयं स्वयमेवाऽभवन्मुने।
तदेकान्तवपुर्युक्तस्तादात्विकघनप्रभः॥" इति।

तथा—"तत्र ज्ञानबलद्वन्द्वाद्रूपं संकर्षणं हरेः।
सोयं समस्तजीवानामधिष्ठातृतया स्थितः॥
संकर्षणस्तु देवेशो जगत्स्रष्टुमनास्ततः।
जीवतत्त्वमधिष्ठाय प्रकृतेस्तु विविच्य तत्॥
विवेकानंतरं देवः प्रद्युम्नत्वमवाप सः।
सोयं प्रद्युम्ननामाऽभूत्तदेकान्तवपुर्धरः॥
ऐश्वर्यवीर्यसंभेदाद्रूपं प्रद्युम्नमुच्यते।
मनसोयमधिष्ठाता मनोमय इतीरितः॥
ऐश्वर्येण गुणेनासौ सृजते सचराचरम्।
शक्तितेजःसमुत्कर्षादनिरुद्धतनुर्हरिः॥
शक्त्या जगदिदं सर्वमनन्ताण्डं निरन्तरम्।
बिभर्ति पाति च हरिर्मोक्षसानुग्रिवाणुकम्॥
तेजसा निखिलं तत्त्वं ज्ञापयत्यात्मनो मुने॥" इति।

विभव नाम भगवदवतारोंका है अवतार दो प्रकारके हैं एक मुख्य यथा श्रीराम श्रीकृष्णादि भगवत्के इसस्वरूपका अवधवासी और ब्रजवासी महानुभावोंने बहुत कुछ वर्णन कियाहै। द्वितीय गौण यथा परशुरामादि। कहा भी है—

"विभवोपि तथाऽनन्तो द्विधैव परिकीर्त्यते ।
गौणमुख्यविभागेन शास्त्रेषु च हरेर्मुने ॥
प्रादुर्भावो द्विधा प्रोक्तो गौणमुख्यविभेदतः ॥
मदिच्छया हि गौणत्वं मनुष्यत्वमिवेच्छया ।
शूकरत्वं च मत्स्यत्वं नारसिंहत्वमेव च ॥
यथा वाजिमुखत्वं च मम संकल्पतोऽभवत् ।
सेनापते ममेच्छातो गौणत्वं न च कर्मणा ॥" इति ।

जीवके भीतर बैठकर जो कर्मानुसार जो जीवको प्रेरणा करताहै वह अंतर्यामी है- श्रुति यथा-"यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमंतरो यमयति" "अंतः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्" "अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः" "नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा" इत्यादि । स्मृति यथा-

"शास्ता विष्णुरशेषस्य जगतो यो हृदि स्थितः"
"अन्तर्यामिस्वरूपं च सर्वेषां बन्धुवत्स्थितम्"
"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥" इति ।

भगवान्का यह अंतर्यामीरूप व्यापक है इसहेतु अंतर्यामि भगवान् केवल जीवके ही भीतर वास नहीं करता किंतु पदार्थमात्रके भीतर वास करतेहै इसीसे श्रुतिने कहा है "यस्य पृथिवी शरीरं यस्याकाशं शरीरम्," इत्यादि इस रूपका उपनिषदोंमें बहुत कुछ वर्णन है ।

अर्चावतार भगवान्की अर्चामूर्तिका नाम है कहा भी है-

"श्रीरङ्गादिकरूपेण त्रैलोक्यं व्याप्य तिष्ठति ।"
"अर्चावतारः सर्वेषां बान्धवो भक्तवत्सलः ।
सत्त्वमात्मनि संजातं स्वामित्वं ब्रह्मणि स्थितम् ॥
सुरूपां प्रतिमां विष्णोः प्रसन्नवदनेक्षणाम् ।
कृत्वात्मनः प्रीतिकरीं सुवर्णरजतादिभिः ॥
तामर्चयेत्तां प्रणमेत्तां पूजेत्तां विचिन्तयेत् ।
विशत्यपास्तदोषस्तु तामेव ब्रह्मरूपिणीम् ॥" इति ।

येही-पर, व्यूह, विभव, अंतर्यामी तथा अर्चावतार, भगवान्श्रीनारायणके पांच प्रकारके रूप हैं । कहा भी है-

"एवं पञ्चप्रकारोहमात्मनां पततामधः ।
पूर्वस्मादपि पूर्वस्माज्ज्यायांश्चैवोत्तरोत्तरः ॥
मम प्रकाराः पञ्चेति प्राहुर्वेदान्तपारगाः ।

परो व्यूहश्च विभवो नियन्ता सर्वदेहिनाम् ॥
अर्चावतारश्च तथा दयालुः पुरुषाकृतिः ।
इत्येवं पंचधा प्राहुर्मां रहस्यविदो जनाः ॥ इत्यादि ।

मैंने यहांपर अचित् चित् तथा ईश्वर इन तीनों तत्त्वोंका विस्तरभयसे संक्षेपसे वर्णन किआहै इसी विषयका तत्त्वत्रयादिग्रंथोंमें सविस्तर वर्णन तथा प्रतिपादन किआ है अधिक उनी ग्रंथोंमें देखना चाहिए । इसी तत्त्वत्रयको भगवान्‌ने भी यहांपर संक्षेपसे तीन श्लोकोंमें कहाहै जीवतत्त्वकी बहुतसी बातें भगवान् प्रथम भी कहचुके हैं । तथा जीव अणु है अनंत है भगवत्से भिन्न हैं नित्य हैं इत्यादि कुछ विषयका मैं भी यथामति यथोचित प्रतिपादन करचुकाहूं ।

मोक्षकेलिए भगवत्के भक्तिस्वरूप ज्ञानका जो "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति" इत्यादि श्रुतिओंने प्रतिपादन किआहै वह भी तत्त्वत्रयज्ञानस्वरूप ही है क्योंकि भगवत्का जीवोंसे और जडवर्गसे भेदज्ञान होना चाहिए वह भेदज्ञान तो विना जीववर्ग तथा जडवर्गके ज्ञान हुए हो नहीं सकता इस हेतु मोक्षइच्छावालेको जडवर्ग तथा जीववर्गका अवश्य ही ज्ञान संपादन करनाचाहिए इसी भेदज्ञानके अभिप्रायसे भगवान्‌ने कहाहै–

"ज्ञानं तेहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः" इति ।

तत्त्वत्रयका प्रथम सूत्र यथा–"मुमुक्षोश्चेतनस्य मोक्षोत्पत्तौ तत्त्वत्रयज्ञानमपेक्षितं तत्त्वत्रयं–चिदऽचिदीश्वरश्च" अर्थात् मोक्षकेलिए जीवको तत्त्वत्रयका ज्ञान संपादन करना चाहिए । चित् अचित् और ईश्वर ये तीन तत्त्व हैं । "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा" "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति" इत्यादि श्रुतिएं भी इसी तत्त्वत्रयज्ञानको प्रतिपादन करती हैं । उस तत्त्वत्रयज्ञानके तीनों भागोंमेंसे भगवज्ज्ञानका जो भाग है वह प्रेमपूर्वक होनेसे भक्तिस्वरूप होना चाहिए तभी जीवका कुछ ठिकाना लगसकताहै । इसी भक्तिमीमांसाका भगवान्‌ने आरंभ करके तत्त्वत्रयका संक्षेपरूपसे यहां ज्ञानकेलिए वर्णन कर दिआहै ॥ ६ ॥

मू०–मत्तः परतरं नाऽन्यत् किंचिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

दोहा–ज्ञान शक्ति बल आदिले मसें अधिक न और ।
दोरेमें मणि तुल्य, सभ मोमें है इकठौर ॥ ७ ॥

टी०–भगवान्‌ने जो "भूमिरापः" यह जडवर्ग संक्षेपसे कहा उसकी अपेक्षा चेतनत्वात् जीववर्ग श्रेष्ठ है इससे उसे पीछे कहा "जीवभूताम्" इति । जीवोंकी अपेक्षा

भी सर्वेश्वरत्वात् ईश्वर श्रेष्ठतम है इससे सबसे पीछे कहा " अहं कृत्स्नस्य " इति। भगवान् प्रभु स्वामी हैं जीव उसके दास हैं कहा भी है—

" दासभूताः स्वतः सर्वे ह्यात्मनः परमात्मनः । "

" आत्मदास्यं हरेः स्वाम्यं स्वभावं च सदा स्मर । "

" स्वत्वमात्मनि संजातं स्वामित्वं ब्रह्मणि स्थितम् । " इत्यादि ।

भगवान् तत्त्वज्ञानका उपदेश करनेलगेहैं इसहेतु इसी अपनी असीम सर्वोत्कृष्टताको स्वयं कहते हैं-" मत्तः परतरं नान्यत् " इत्यादि । मूलार्थ यथा-

हे पार्थ-ज्ञानशक्त्यादिगुणोंके योगसे मुझसे पर-उत्कृष्ट कोई भी पदार्थ नहीं यथा डोरेमें मोती मणिएं तथा फूल पोऐ होते हैं एवं यह सब जीववर्ग और जडवर्गरूप प्रपंच मुझमें पोयाहुआ है अर्थात् मुझमें है मैं ही व्यापकत्वात् सबका आश्रयहूं । भगवान्की सर्वोत्कृष्टताका सब वेदवेदांत इतिहास पुराण स्मृत्यादि स्पष्टरूपसे वर्णन करते हैं, श्रुति यथा=

"नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः" "एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं कुतोयमग्निः" "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" "भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः । भीषाऽस्मादिन्द्रश्चाग्निश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः " " एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः " "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इत्यादि ॥ स्मृति यथा-

" भगवान्नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधो विभुः ।
अक्षरं ब्रह्म सत्यं त्वं त्वं मध्येऽन्ते च राघव ॥ "

" स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ "

" ससुरासुरगन्धर्वं सयक्षोरगराक्षसम् ।
जगद्वशे वर्ततेदं कृष्णस्य सचराचरम् ॥ "

" यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ "

" यतः सर्वाणि भूतानि भवन्त्यादियुगागमे ।
यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति पुनरेव युगक्षये ॥ "

" सर्वे देवाः सपितरो ब्रह्माद्याश्चाण्डमध्यगाः ।
विष्णोः सकाशादुत्पन्ना इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥ "

" प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्यात्मेच्छया हरिः ।
क्षोभयामास संप्राप्ते सर्गकाले व्ययाऽव्ययौ ॥ "

" ब्रह्माद्याः सकला देवा मनुष्याः पशवस्तथा ।

विष्णोर्मायामहाऽऽवर्तमोहान्धतमसाऽऽवृताः ॥ "

" अप्रमेयोऽनियोज्यश्च यत्र कामगमो वशी ।
मोदते भगवान् भूतैर्बालः क्रीडनकैरिव ॥ "

" स एव सृज्यः स च सर्गकर्ता स एव पात्यत्ति च पाल्यते च ।
ब्रह्माद्यवस्थाभिरशेषमूर्त्तिर्विष्णुर्वरिष्ठो वरदो वरेण्यः ॥ "

" ब्रह्मा दक्षादयः कालस्तथैवाखिलजन्तवः ।
विभूतयो हरेरेता जगतः सृष्टिहेतवः ॥ " इत्यादि ।

और भी बहुतलोगोंने परमात्माकी सर्वोत्कृष्टताको कहाहै—

" विश्वं जातं यतोऽद्धा यदवितमखिलं लीनमन्तेऽस्ति यस्मिन्
सूर्यो यत्तेजसेन्दुः सकलमविरतं भासयत्येतदेषः ।
यद्भीत्या वाति वातोऽवनिरपि सुतलं याति नैवेश्वरोज्ञः ।
साक्षी कूटस्थ एको बहुशुभगुणवानव्ययो विश्वभर्ता ॥ " इति ।

" श्रीमानर्च्यः शरण्यो विधिभवप्रमुखैर्योगिगम्याङ्घ्रिपद्मो-
ऽस्पृश्यः क्लेशादिभिः सत् समुदितसुयशाः सूरिमान्यो वदान्यः ।
शश्वन्नारायणोजः सुमहितमहिमा साधुवेदैरशेषै-
र्निर्मृत्युः सर्वशक्तिर्विकलुषविजरो गीर्मनोभ्यामगम्यः ॥ " इति ।

अर्थात् उसी नारायणसे यह प्रपंच उत्पन्न होताहै वही इसकी रक्षा करताहै उसीमें लीन होताहै सूर्यचंद्रमादिका जो तेज है वह भी उसीका तेज है । उसीके भयसे पवन चलताहै पृथ्वी स्थिर है । वह श्रीनारायण अनंतकल्याणगुणोंका सागर है । तथा वह श्रीनारायण श्रीपति है पूजनेके योग्य है शरण्य है । उसीकी सब ब्रह्मादिकदेवता पूजन करतेहैं अविद्या अस्मिता राग द्वेष तथा अभिनिवेश ये पांच क्लेश भी उसके समीप नहीं जाते वही सर्वशक्तिमान् है नित्य है सत्स्वरूप है। श्रीमद्भट्टाचार्यस्वामीने भी कहाहै—

" कार्येऽनन्ते स्वतनुमुखतस्त्वामुपादानमाहुः
सा ते शक्तिः सुकरमितरच्चेति वेलां विलङ्घ्य ।
इच्छा यावद्विहरति सदा रङ्गराजाऽनपेक्षा
सैवेशाना ह्यतिशयकरी सोर्णनाभौ दिभाव्य ॥ १ ॥

प्रलयसमयसुप्तं स्वं शरीरैकदेशं
वरद चिदऽचिदाख्यं स्वेच्छया विस्तृणानः ।
खचितमिव कलापं चित्रमातत्य धुन्व-
न्ननु शिखिनि शिखीव क्रीडसि श्रीसमक्षम् ॥ २ ॥

रूपप्रकारपरिणामकृतव्यवस्थं

विश्वं विपर्ययितुमन्यदसच्च कर्तुम् ।
क्षाम्यन् स्वभावनियमं किमुदीक्षसे त्वं
स्वातन्त्र्यमैश्वरमपर्यनुयोज्यमाहुः '' ॥ ३ ॥

अर्थात् हे भगवन् यह जो ब्रह्मांडरूपी भारी कार्य है इसका उपादान कारण आप ही है प्रपंचको बनानेवाली वह आपकी शक्ति, असीम है सब कार्यको सहजमें ही करडालती है जबतक इच्छा होती है तबतक विहार करतीहै इच्छाके पीछे फिर इस समग्रप्रपंचको समेटलेतीहै, सांसारिक जीवोंमेंसे मकडीमें यह शक्ति किंचित् है जो वह जालको फैलाकर फिर समेटलेती है ॥ १ ॥

हे भगवन् आपके शरीरका एकदेश जो जडवर्ग और जीववर्ग है वह जब प्रलय-कालमें आपमें लीन होनेके कारण सुप्तप्राय होजाताहै उसको सर्गकालमें विस्तृत करके श्रीदेवीके साथ इसप्रकार आप क्रीडा करते हो यथा अपने समेटेहुए विचित्रपुच्छको फैलाकर मयूर वृक्षवृक्षपर नृत्य करताहै ॥ २ ॥

हे भगवन् यह प्रपंच आपका विवर्त नहीं किं तु परिणाम है अतएव सत्य है आप इस सत्य प्रपंचको भी नष्ट करसकते हैं तथा शशशृंगादिके तुल्य असत् भी करसकतेहैं इस हेतु अमुक पदार्थ सत् है वह असत् नहीं होसकता और अमुकपदार्थ असत् है वह सत् नहीं होसकता यह पदार्थस्वभावनियम आपके आगे नहीं चलसकता क्योंकि आप जो चाहे सो करसकते हैं क्यों कि स्वतंत्रता और ईश्वरता ये ऐसे पदार्थ हैं जो इनका कोई भी नियम नहीं करसकता अर्थात् स्वतंत्र ईश्वरको यह कोई नहीं पूछसकता कि ऐसा आपने उलटा पलटा क्यों किया ? और आप तो स्वतंत्र भी हैं ईश्वर भी हैं इससे जो चाहे करसकते हैं ॥ ३ ॥

जैसे ही श्रुति और स्मृतिओंने भगवान् नारायणकी सर्वोत्कृष्टताका गान किआहै वैसे ही महात्मापुरुषोंने भी भगवत्की सर्वोत्कृष्टताका तथा और भी बहुतसे गुणोंका यथा-शक्ति बहुतसा वर्णन किआहै । ये उक्त श्लोक बडे प्रौढ हैं यथामति संक्षेपसे अर्थ लिखदिआहै । श्रीसंप्रदायमें श्रीयामुनाचार्यस्वामी कूरेशस्वामी तथा भट्टाचार्यस्वामी इत्यादि महानुभाव आचार्यप्रवर भी पृथ्वीके कविओंमें शिरोरत्न होचुकेहैं विशेष यह है कि इन-लोगोंने और कविओंकेतुल्य नायिका और राजालोगोंके प्राकृत वर्णनसे अपनी वाणीको तनिक भी नष्ट नहीं किआ किं तु वाणीको भगवच्चरणों ही संमर्पण कर कृतार्थ किआ, क्यों न हो वे अवतारपुरुष थे । इति ॥ ७ ॥

मू०-रसोहमप्सु कौन्तेय, प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु, शब्दः खे, पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

दोहा—जलमे रस शशि सूर्यमें प्रभा, नरोमे जान ।
बल, अरु शब्द अकाशमें, प्रणव वेदमें मान ॥ ८ ॥
पृथिवीमाह सुगन्ध हो, तेज अग्निके माहँ ।
जीवनको जीवन तथा, तप तपकरतन माहँ ॥ ९ ॥
कारण हौ सब लोकके, आदि सनातन जान ।
तेजस्वीमें तेज मति बुधि मानमें मान ॥ १० ॥
कामरागवर्जित बल बलवतोमें तात ।
काम धर्म अनुकूल हौं जीवनमाहँ बसात ॥ ११ ॥

टी०—भगवान् उक्त अपनी सर्वोत्कृष्टताको ही स्पष्ट करते हैं—रस इति, हे पार्थ जलमें रसतत्त्व है वह मैं ही हूं । सूर्य तथा चंद्रमामें प्रभा (कांति) तत्त्व है वह मैं ही हूं । समग्र वेदोंका तत्त्व ओंकार मैं ही हूं । आकाशमें शब्द, पुरुषोंमें पौरुष (पराक्रम) पृथ्वीमें सुगंध तथा अग्निमें तेज मैं ही हूं । जीवोंका जीवन (आयुष्य) तपस्वियोंमें तप, तथा समग्र पदार्थोंका आदि सनातन कारण मैं ही हूं । बुद्धि-मानोंमें बुद्धि, तेजस्वियोंमें तेज, बलवानोंमें जो कामरागादिदोषरहित बल है वह मैं ही हूं । तथा धर्मसे अविरुद्ध=धर्मके अनुकूल जो जीवोंमें काम है वह मैं ही हूं ॥ उक्त सत्त्वपदार्थ सब भगवत्के ही स्वरूप हैं इसहेतु भगवान् सबसे उत्तम है ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥

मू०—ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान् विद्धि, न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

दोहा—राजस तामस सात्त्विक, सकल पदारथ जोय ।
तिन कारण आधार हौं अर्थ न तिनसो मोय ॥ १२ ॥

टी०—हे पार्थ सात्त्विक राजस तथा तामस जो नाम पदार्थ हैं वे सब मुझसे ही उत्पन्न होते हैं अर्थात् मेरे ही परिणाम कार्य हैं अतएव वे सब मेरेमें हैं अर्थात् उन सबकी

इंद्रियादि मेरे अधीन हैं और मैं उनमें नहीं क्यों कि कार्य ही कारणमें रहताहै कारण कार्यमें नहीं रहता। किंवा मैं उन पदार्थोंके अधीन नहीं। यहांपर मधुसूदनजीने "ते मयि" इसका 'वे पदार्थ रज्जुमें सर्पवत् मेरेमें कल्पित हैं' यह अर्थ कियाहै वह सब अशुद्ध है क्यों कि मूलमें इस अर्थकी गंध भी नहीं। इसीको हठधर्मी कहतेहैं कि आप हठसे अपनी तान बजातेहैं। और इस बातका प्रथम ही खंडन करदियाहै इसहेतु सब प्रपंच भगवत्का परिणाम कार्य ही है ॥ १२ ॥

मू०-त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

दोहा-त्रिगुणपदारथनों जग सकल हि मोहित होय।
इन सबमें पररूपको नाहि न जानत सोय ॥ १३ ॥

टी०-उक्त राजस तामस तथा सात्त्विक जो प्रापंचिक पदार्थ हैं इन सबसे मैं पर हूं श्रुति भी कहतीहै-"नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः" इति। तथा ये सब पदार्थ क्षणविनाशी हैं और मैं अव्यय=सदा एकस्वरूप नित्य हूं कहा भी है "क्षण-परिणामिनो हि सर्वे भावा ऋते चितिशक्तेः" इति। तथापि उक्त पुत्रकलत्रधनादि तथा रागद्वेषादिसे मोह=अज्ञानको प्राप्त हुआ हुआ लोक मेरेको नहीं जानता मेरेमें चित्तको नहीं लगाता। किं वा उक्त पदार्थोंमें मोहित लोक उनसे मुझे उत्कृष्ट नहीं समझता किंतु उन्हीं प्रापंचिक पदार्थोंको ही उत्कृष्ट समझ उन्हींमें लीन रहता है ॥ कहा भी है-

"अनेकजन्मसाहस्रीं संसारपदवीं व्रजन्।
मोहश्रमं प्रयातोसौ वासनारेणुगुण्ठितः ॥" इति ॥ १३ ॥

मू०-दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

दोहा-त्रिगुणमयी माया इह पार न इस कोइ पाय।
जो जन मेरी शरण हो सो तिस पारहिं जाय ॥ १४ ॥

टी०-हे पार्थ यह मेरी माया गुणमयी=सत्त्व रज तम गुणमयी है और दैवी अर्थात् मैंने ही अपनी लीलाकेलिए इसे रचाहै कहा भी है-"लीलाकैवल्यात्" इति। यह मेरी माया ऐसी मोहिनी है कि इसका कोई पार नहीं पासकता अतएव इस मायासे मोहित लोग प्रपंचमें ही फँसे रहतेहैं मुझमें चित्तको नहीं लगाते। हां जो लोग मेरी शरणको प्राप्त होतेहैं वे इस मायाको तरसकतेहैं। कहा भी है-"भगवदुपास्ति-मृते न सिद्धिरस्ति" इति।

यहांपर मायाशब्द मिथ्यापदार्थका वाची नहीं किं तु विचित्रकार्यकारित्वात् भगवान्की शक्ति रूप प्रकृतिका नाम माया है। मिथ्यात्वका प्रथम ही खंडन करदिआहै इससे प्रपंच मिथ्या हो भी नहीं सकता। और इंद्रजालादिकोंको जो लोग माया कहते हैं वह भी विचित्रकार्यकारित्वात् ही कहते हैं इसहेतु इंद्रजालादिमें मायाशब्दका प्रयोग औपचारिक है। मायाशब्दकी शक्ति तो प्रकृतिमें ही है कहा भी है-" मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् " इति ॥ १४ ॥

मू०-न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिता ॥ १५ ॥

दोहा-मम शरणागति ना गहैं मूढ अधम नर पाप।
ज्ञानहीन मायावश असुरसुभावप्रताप ॥ १५ ॥

टी०-हे पार्थ जिनने पूर्वजन्मोंमें पाप ही किएहैं वे लोग मेरी शरणको प्राप्त नहीं होते वे चार प्रकारके हैं-मूढ, नराधम, मायावश, ज्ञानहीन, यहां असुरस्वभाववाले मूढ वे हैं जिनको मेरा ज्ञान नहीं अतएव विषयोंमें खचित हैं। नराधम=नरोंमें अधम वे हैं जो मेरे ज्ञानसे हीन हैं और विषयोंमें खचित हैं और विषयोंमें ममताको तथा अहंताको भी करते हैं। समग्र प्रपंच मेरा शेष है उसे अपना शेष समझनेसे वे नराधम कहाते हैं ये मूढोंसे भी निकृष्ट हैं। मायापहृतज्ञान वे हैं जिनको सामान्यरूपसे मेरा ज्ञान होता भी है तथापि कुयुक्तिओंसे वह नष्टप्राय होजाताहै यथा प्रथम तो ज्ञान हुआ कि कोई ईश्वर है पीछे कुतर्क उठा कि ईश्वरकी अपेक्षा ही क्या है ईश्वर भी पुरुष विशेष होकर इस प्रपंचको कैसे रचना करसकताहै इससे ईश्वर कुछ नहीं। आसुरस्वभाववाले वे हैं जो मुझे जानकर प्रेमकी जगह उलटा मेरे साथ द्वेष ही करते हैं यथा रावणादि। ये सभ उत्तरोत्तर निकृष्ट हैं पूर्वकृतपापोंके कारण भगवत्-शणरको प्राप्त नहीं होते ॥ १५ ॥

मू०--चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

दोहा-भजन करैं मम चराविध भाग्यवान जन जोय।
आर्त जिज्ञासु धनेच्छुक अरु जो ज्ञानी होय ॥ १६ ॥

टी०--जिसप्रकार पापके कारण चारप्रकारके उक्त दुष्ट मेरी उपासना नहीं करते उसी प्रकार पूर्वजन्म कृत पुण्यसंचयके कारण चार प्रकारके ही भाग्यवान् लोग मेरी उपासनाको करते हैं--आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी। आर्त वह है जो ऐश्वर्यादिके नष्ट होजानेसे दुःखी है अतएव ऐश्वर्यको चाहताहै वह ऐश्वर्यकेलिए मेरी उपासना करताहै। अर्थार्थी वह है जिसका ऐश्वर्य नष्ट नहीं हुआ किंतु प्रथमसे ही ऐश्वर्य

नहीं है अतएवत अधिक दुःखी भी नहीं किं तु ऐश्वर्यको चाहताहै वह भी ऐश्वर्यके ही लिए मेरी उपासना करताहै । जिज्ञासु वह है जो प्रकृति वियुक्त जीवात्माके स्वरूपको जानना चाहताहै वह ज्ञानकेलिए मेरी उपासना करताहै । ज्ञानी वह है जिसे प्रकृतिवियुक्त जीवात्मस्वरूपका ज्ञान है अतएव स्वजीवांतर्यामी श्रीनारायणकी प्राप्तिकेलिए उसीको परमोत्कृष्ट जानकर उसीमें जो लगाहै वह भगवत्को सर्वोत्कृष्ट जानता है और भगवत्में प्रेम रखताहै इसहेतु निष्काम होकर भगवत्की उपासनां करताहै । इनमें उत्तरोत्तर उत्तम हैं । अन्यत्र भी कहा है—

" चतुर्विधा मम जना भक्ता एव हि ते श्रुताः ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी चेति पृथक्पृथक् ॥ इति ॥ १६ ॥

मू०—तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

दोहा—तिनमें ज्ञानी एक ही भक्त अनन्य हिं जान ।
सबसे प्रिय हौं ज्ञानिको ज्ञानी प्रिय मम मान ॥ १७ ॥

टी०—इन सबमें ज्ञानी पुरुष नित्ययुक्त है अर्थात् सदा मेरा ध्यान करतारहताहै और एक मेरेमें ही अनन्य भक्तिको रखताहै अतएव ज्ञानी पुरुष इनसबमेंसे श्रेष्ठ है। ज्ञानीको मैं ही सबसे प्रियहूं और मुझे भी ज्ञानी पुरुष बडा प्रिय है यहांपर ज्ञानीशब्द प्रेमपूर्वकज्ञानवान् (भक्त) का ही वाचक है । श्रीयामुनाचार्यस्वामीने भी कहा भी है—

तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे विनेशितात्मा कथमन्यदिच्छति ।
स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरसं समीक्षते ॥ इति " ।

अर्थात् यथा भ्रमर कमलकेसंमुख इक्षुरसको भी तुच्छ समझताहै=नहीं चाहता तथा जिसपुरुषने हे भगवन् आपके चरणमें अपने चित्तको लगादिआहै वह और किसी पदार्थकी क्योंकर इच्छाकरेगा ? नहीं करता ॥ भगवत्के चरणमें ऐसा ही स्वाद है ॥ १७ ॥

मू०—उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

दोहा—चारो ही ये श्रेष्ठ अरु ज्ञानीप्रियतम मोय ।
सर्व श्रेष्ठ मुझ प्राप्यको आश्रय लीनो सोय ॥ १८ ॥

टी०—यद्यपि आर्त्त अर्थार्थी जिज्ञासु तथा ज्ञानी ये जो मेरी उपासना करनेवाले हैं ये सभी उत्तम हैं क्यों कि प्रयोजनवश भी मेरीही उपासना करते हैं तथापि ज्ञानी

जो मेरा आत्मा = परमप्रिय है क्यों कि वह सबसे उत्तम गति आश्रय जो मैं हूं ऐसे मेरेको ही प्राप्त हुआहै अर्थात् ज्ञानीने एक मेरा ही आश्रय ऐसा लिआहै कि वह मेरे विना क्षणभर भी रहता नहीं । अतएव मेरा ध्यान भी ज्ञानीमें ही रहताहै इससे ज्ञानी मेरा आत्मा ही है । तथा ज्ञानी युक्तात्मा = सदा मेरा ही ध्यान करता रहताहै । प्रह्लादका वर्णन है–

" सत्त्वासक्तमतिः कृष्णे दश्यमानो महोरगैः ।
न विवेदात्मनो गात्रं तत्स्मृत्याऽऽह्लादसंस्थितः ॥ " इति ॥ १८ ॥

मू०–बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

दोहा–प्राप्य प्रापक सर्व हरि इह विधि मानत जोइ ।
सो ज्ञानी दुर्लभ, लहै बहुत जन्म पर सोय ॥ १९ ॥

टी०–बहुत जन्मोंमें सुकृत (धर्म) करता करता पुरुष मेरी कृपासे ज्ञानको संपादन करके मेरी शरणको प्राप्त होताहै कुछ थोडेसे पुण्यका यह फल नहीं । जो ऐसा ज्ञानी प्राप्य प्रापकादि सब पदार्थ वासुदेव ही है यह मानताहै वह दुर्लभ है। अर्थात् जो ज्ञानी यह मानताहै फिर मेरा प्राप्यपदार्थ भी वासुदेव है और प्रापक भी वही " क्यों कि भगवत्की प्राप्तिमें भगवान् ही उपाय हैं और कुछ उपाय नहीं भगवत्कृपासे ही भगवान् प्राप्त होते हैं और भी जो ज्ञानीका मनोरथ हो वह भी भगवत्विषयक ही हो ऐसा ज्ञानी बहुत दुर्लभ है " नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते । " भगवान् ही प्राप्य हैं और उपाय हैं इसबातको एक श्रीरामानुजाचार्यने अष्टादशरहस्यमें स्पष्ट सिद्ध करदिआहै । इसी अर्थका मेरा दोहा यथा–

हरी उपायोपेय मम ऐकान्तिकता मान ।
मिल्यौ रहै भव ना मिलै पंकजपत्रसमान ॥ इति ॥ १९ ॥

मू०–कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥

दोहा–विषय कामना हीनमति पर वासना पाय ।
अन्यदेव अर्चाविधि अन्यहि देव मनाय ॥ २० ॥

टी०–सभी लोग स्वकीयप्रकृति=पापवासनासे युक्त है अतएव वे विषयभोगमें ही लगे हैं तथा उन पुत्र कलत्र धनादि विषयोंने उन लोगोंका मद्विषयक ज्ञान नष्ट करदिआहै अर्थात् उनको मेरा ज्ञान प्राप्त ही नहीं हुआ तो ज्ञानसे हीन सांसारिक लोग सांसारिकफलोंकेलिए अन्यदेवता जो इंद्र रुद्रादि हैं उनकी अर्चारीतिसे उन्हें ही

पूजते उपासते हैं इस हेतु मुझको सांसारिक लोग पा नहीं सकते किं तु ज्ञानी ही पाक्सकताहै ॥ २० ॥

मू०--यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

दोहा—इद्रादिक मो कायको जो जो पूजन जात ।
तिसकी तिसही देवमें श्रद्धा दृढ हौं वढात ॥ २१ ॥

टी०—हे पार्थ मैं सबका अंतर्यामी हूं इसहेतु देवतालोग भी मेरे ही शरीर हैं सो जे पुरुष मेरी इंद्ररुद्रादिरूप जिस जिस तनु (काय) की अर्चा करना चाहते हैं तथा करते हैं मैं उस उस पुरुषकी उस उस देवतामें श्रद्धाको अचल अर्थात् निर्विघ्न करदेता हूं जो वे उसी देवताकी सदा पूजाकरें । समग्र देवता भगवत्के ही शरीर हैं यह बात वेदने भी कहीहै "यस्यादित्यः शरीरम् । यस्य पृथिवी शरीरम् । यस्यात्मा शरीरम् ।" इत्यादि॥२१॥

मू०—स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हितान् ॥ २२ ॥

दोहा—तिम श्रद्धासों युक्त वह अन्यहि देव मनात।
तासों जो फल पावतो तिनको हौ ही वनात ॥ २२ ॥

टी०--वह उक्त पुरुष तिस अन्यदेवकी श्रद्धासे युक्त होकर उसी इंद्ररुद्रादि देवताकी आराधन=पूजन करताहै और उस पूजनसे अपने मनोरथोंको पाता है अर्थात् स्वाभिलषित पुत्र कलत्र धनादिकों पाता है किं तु उन पदार्थोंको उसे मैं ही देताहूं क्यों कि मैं ही सबका अंतर्यामी हूं देवता मेरा शरीर हैं सो मेरा शरीरभूत देवताकी जो पूजन करताहै उसके मनोरथ मुझे सिद्धकर देने ही उचित हैं ॥ २२ ॥

मू०—अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

दोहा—अन्यदेवको पूजके अन्यदेवाढिंग जात ।
अंतवंत फल सोय, मम भक्त निकट मम आत ॥ २३ ॥

टी०--जो लोग अन्यदेवताकी उपासना करते हैं वे अल्पबुद्धि हैं क्यों कि वे विनाशी सांसारिक विषयोंमें ही खचित हैं उन्हीं विषयोंकेलिए अन्य अनेक देवताओंकी पूजन करते हैं उन्हें यह ज्ञान ही नहीं कि यह संसार विनाशी है ये पदार्थ भी विनाशी हैं इससे इनकी प्रीतिको हम छोंडकर भगवान् नारायणकी उपासना करें जो अविनाशी नित्य सुखमय परमधाम श्रीवैकुंठमें पहुंच जाएं इसहेतु अन्यदेवपूजक अल्पबुद्धि हैं वे लोग देवताराधनसे जिस पुत्र कलत्रादिरूप फलको किं वा

उसदेवताके लोकको पातेहैं वह सभ फल विनाशी है क्यों कि किसी न किसी दिन वह लोक भी नष्ट होता ही है । हे पार्थ देवतापूजनकरनेवाले लोग उस उस देवके लोकको प्राप्त होतेहैं कुछ परमधामको प्राप्त नहीं होते वहां प्रथम अपने पुण्यका फल भोगकर फिर संसारको प्राप्त होजाते हैं कहा भी है-" क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति"। यदि उस देवताका बहुतसा भक्तिपूर्वक आराधन किआहोगा और वह देव भी बडा प्रसन्न हुआहोगा तौ भी जिस दिन उस देवका लोक नष्ट होगा उस दिन तो अवश्य वे अन्यदेवपूजक भी भक्त लोग संसारको प्राप्त होंगे ही। और मेरे भक्त तो मेरे लोकको प्राप्त होते हैं सो मेरा लोक कभी नष्ट नहीं होता इससे मेरे वे भक्त फिर संसारको प्राप्त नहीं होते । भगवान् स्वयं ही कहेंगे कि " यद्गत्वा न निवर्तंते तद्धाम परमं मम" इति । अन्यत्र भी कहाहै—

" वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम् ॥ "
" गावं त्यक्त्वा विमूढात्मा गर्धभीं विन्दते यथा।
तथा हरिं परित्यज्य योन्यदेवमुपासते ॥ "
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते"
" भगवदुपास्तिमृते न सिद्धिरस्ति"
" द्वौ भूतसर्गौ लोकेस्मिन् दैव आसुर एव च ।
विष्णुभक्तिपरो दैव आसुरस्तद्विपर्ययः ॥" ॥ २३ ॥

मू०-अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

दोहा-नहीं रहा पहिले अब जन्म लिओ इन आय ।
इह कुमती जन मोहि प्रभु ना जानत न मनाय ॥ २४ ॥

टी०-हे पार्थ मैं अव्ययस्वरूप परमेश्वर हूं मेरे इस स्वरूपको लोग नहीं जानते अतएव वे साधारण राजकुमार समझकर यह जानतेहैं कि कृष्ण प्रथम अव्यक्त था अब कर्मवशसे जन्म लेकर व्यक्त हुआ है । ऐसा जाननेवाले पुरुष सर्वथा मूर्ख हैं ॥ २४ ॥

मू०-नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

दोहा--मनुषवेश मायावश ढक्यौं रहो हौ तात ।
ज्ञानहीन जन मोहि ना तासों ब्रह्म मनात ॥ २५ ॥

टी०-हे पार्थ ! जीवसाधारण जो मनुष्याकार वेशादिरूप मेरी योगमाया है उससे मैं समावृत=ढकाहुआ हूं इसहेतु मैं सबको प्रकाशित नहीं हूं अर्थात् सबलोग अज्ञानसे

मूढ हुए हुए मुझे अज अव्यय रूप परमेश्वर नहीं जानते हैं। राजसूयप्रकरणमें जब शिशुपालने भगवान्‌की निंदा की है उस समय श्रीनारदजीने भी कहाहै-

"कृष्णं कमलपत्राक्षं नार्चयिष्यन्ति ये नराः।
जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न संभाष्याः कदाचन ॥" इति ॥ २५ ॥

मू०-वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

दोहा-भूत भविष्यत् जीव जड वर्तमान अरु जोय।
तिन सबकौ हौं जानतो मोहि न जानत कोय ॥ २६ ॥

टी०-भूत भविष्यत् तथा वर्तमान जो नाम पदार्थ है उस सबको मैं भलीभांति जानता हूं और मेरेको तो कोई नहीं अर्थात् मुझे परब्रह्म कोई नहीं जानता इसी हेतु ज्ञानी पुरुष बडा दुर्लभ है ॥ २६ ॥

मू०-इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ २७ ॥

दोहा-द्वेषरागकृतद्वन्द्व जो सुख दुख आदि सुजान।
जन्मसमय हीं तासुँ जन मूढ होत अज्ञान ॥ २७ ॥

टी०-शीतोष्ण सुख दुःख मानापमान इत्यादि द्वंद्वोंमेंसे जो अनुकूल होतेहैं सुख मानादि उनकी इच्छा तथा राग होतेहैं जो दुःख अपमानादि प्रतिकूल हैं उनमें द्वेष होताहै यही इच्छाद्वेषकृत द्वंद्वमोह=अज्ञान है सो प्रायः सभी जीव जन्मलेते ही इस मोहको प्राप्त होजातेहैं अर्थात् जन्मलेते ही रागद्वेषकृतमोहको प्राप्त होजाते हैं उस मोहसे वे बाह्यपदार्थोंको भी यथार्थरूपसे नहीं जानसकते फिर उनने मुझे तो क्या ही जानना था कहा भी है-" नैवासुरप्रकृतयः प्रभवन्ति बोद्धुम्" इत्यादि ॥ २७ ॥

मू०-येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

दोहा-पुण्यवंत जन जे सबे नष्ट भए जिन पाप।
द्वंद्वमोहसों मुक्त अरु भजत मोहि वे आप ॥ २८ ॥

टी०-जिन पुरुषनका धर्म करते करते पाप नष्ट होगया है वे उक्त द्वंद्वमोहसे रहित हुए हुए दृढव्रतसे मेरी उपासना करतेहैं। किं वा जिनके पाप नष्ट होगएहैं जो पुण्यवान् हैं तथा जो उक्त द्वंद्वमोहसे रहित हैं ये तीनप्रकारके पुरुष मेरी उपासना करतेहैं कहा भी है" पश्यन्ति केचिदनिशं त्वदनन्यभावाः" इत्यादि ॥ २८ ॥

मू०-जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥

दोहा-आतमदर्शनप्राप्तिहित यत्न करै मम होय।
आतमा अरु तिसरूप को जानत कर्महुं सोय ॥ २९ ॥

टी०-जरा और मरणकी मोक्ष=निवृत्ति आत्मस्वरूपसाक्षात्कारसे होती है इससे यहां पर जरामणमोक्षशब्दसे जरामरणमोक्षका कारण आत्मस्वरूपसाक्षात्कार ही जानना। हे पार्थ जो लोग मेरी शरण लेकर उस आत्मस्वरूपसाक्षात्कारकेलिए यत्न=योगाभ्यास कर्मयोगादि करते हैं वे ब्रह्मको समग्र अध्यात्मको तथा सकल कर्मको जानजाते हैं अर्थात् उनको इन सभका ज्ञान होजाताहै। यहां पर ब्रह्मशब्द जीवके प्रकृतिसंबंधरहित शुद्धस्वरूपका बोधक है। और अध्यात्मशब्द प्रकृतिके संबंधादिकका बोधक है। और कर्मशब्दका अर्थ जीवके जन्मकी रीतिहै अर्थात् जीव जिसप्रकार पुरुषके वीर्यमें आकर उस वीर्यद्वारा जो गर्भमें जाता है वही सभ यहां कर्मपदार्थ है यह सभ आगे उत्तरमें भगवान् ही स्पष्ट कहेंगे ॥ २९ ॥

मू०-साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

दोहा-भूतदेव अरु यज्ञसों युक्त जो जानत मोय।
मरणसमय हु मोहि सुन जानत योगी सोय ॥ ३० ॥

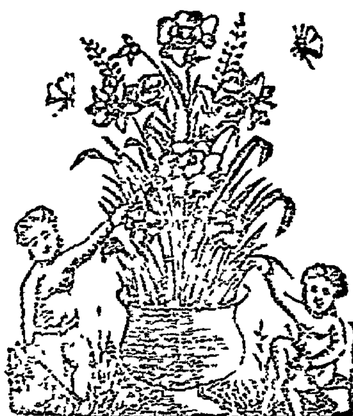
टी०-हे पार्थ जो योगीलोग मुझे ही अधिभूत अधिदैव तथा अधियज्ञसे युक्त जानते हैं=उपासते हैं वे मरणसमयमें भी स्वप्राप्त्यनुगुण मुझे जानते हैं अर्थात् मरणसमय भी उनको मेरी विस्मृति नहीं होती।

यहां पर अधिभूतशब्द स्वाश्रयसहितशब्दस्पर्शादिविषयका बोधक है अधिदैवशब्द दिव्यभोगनेवाले ब्रह्माजीका वाचक है। तथा अधियज्ञशब्द यज्ञोंसे आराध्यमान जो इंद्रादिदेवता उनका जो अंतर्यामी स्वरूप श्रीनारायण है उसका वाचक है। ये तीनों उपासनाके प्रकार ऐश्वर्यार्थीकेलिए हैं क्यों कि ऐश्वर्यार्थीकी शब्दस्पर्शादि विषयोंकेलिए ही इच्छा तथा भगवदुपासना है सो उन शब्दस्पर्शादि विषयोंसे युक्त ही श्रीनारायणकी उनको उपासना करनी चाहिए जो उस विशिष्टोपासनासे वे विषय उनको प्राप्त हों। एवं उनविषयोंको भोगके लिए ही ऐश्वर्यार्थी उपासना करताहै सो जीवात्माकी जो भोक्तृत्वशक्ति है उस शक्तियुक्त ब्रह्माजीवके अंतर्यामी स्वरूपकी उपासना

करनी चाहिए जो भोक्तृत्वशक्तिका भी अनुसंधान बना रहनेसे भोक्तृत्वशक्ति भी प्राप्त हो अन्यथा प्राप्त विषय व्यर्थ होजायँगे।

एवं ऐश्वर्यार्थिओंको इंद्रादिदेवताओंके अंतर्यामीस्वरूपकी उपासना करनीचाहिए जो वह अंतर्यामी प्रसन्न होकर उपासकोंको ऐश्वर्य देनेकेलिए इंद्रादिदेवताओंको प्रेरणा करे इन भगवदुपासनाओंका यह अधिक फल है जो मरणकालमें भी उन उपासकोंको भगवत्की विस्मृति नहीं होती ॥ ३० ॥

इति श्रीभगवद्गीता सप्तसई तथा तत्त्वार्थसुदर्शनी टीकासहित श्रीमद्भगवद्गीताका सप्तमाध्याय समाप्त हुआ ॥ ७ ॥



॥ श्रीः ॥

अथ अष्टमाध्याय।

अर्जुन उवाच—

मू०—किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

दोहा—ब्रह्म कर्म अध्यातम औ अधिदैवत किस नाम।
कहैं किसै अधिभूत अरु यह वरनौ सुखधाम ॥ १ ॥

टी०—भगवान् श्रीवासुदेव ही श्रेष्ठ है वही उपास्य है वह अनंतकल्याणगुण-सागर है। वह भगवान् जीवके अनादिपापोंके कारण प्रकाशित नहीं होता जो लोग उसी भगवान् श्रीवासुदेवकी शरण लेते हैं वे ही उसे पासकतेहैं इत्यादिविषयको भगवान् सप्तमाध्यायमें कहचुके हैं। अब भगवत्प्राप्तिके अनेक उपाय कहनेकोलिए आरंभ करतेहैं—किं तद्ब्रह्मेति।

हे भगवन् आपने जो कहा—'ते ब्रह्म तद्विदुः' 'साधिभूताधिदैवं मां' इत्यादि यहांपर ब्रह्म अध्यात्म कर्म अधिभूत तथा अधिदेव क्या पदार्थ है यह कहो ॥ १ ॥

मू०—अधियज्ञः कथं कोत्र देहेस्मिन् मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

दोहा—कौन वसै अधियज्ञ अरु कायामें कह तात।
मरणकालमें भक्तजन किसविध तोहे पात ॥ २ ॥

टी०—तथा इसदेहमें अधियज्ञ क्या पदार्थ है और योगीलोग मरणसमय आपको कैसे जानतेहैं यह सभ कृपाकर कहिए ॥ २ ॥

श्रीभगवान् उवाच—

मू०—अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः ॥ ३ ॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

दोहा—प्रकृति बंध अध्यात्म अरु ब्रह्म है आतमस्वरूप।
गर्भ प्राप्तिकी रीतिको कर्म कहे है भूप ॥ ३ ॥

अधिदैवत है जीव अरु जडहि वर्ग अधिभूत ।

अतर्यामी देहमे हौ अधियज्ञ सुपूत ॥ ४ ॥

टी०-हे पार्थ जीवका जो अक्षररूप है अर्थात् प्रकृतिसंबंधरूपसंसारसे रहित शुद्धस्वरूप है उसीको ब्रह्म कहते हैं । उसीको अक्षर भी कहते हैं । क्यों कि जीवके उस शुद्ध स्वरूपका कभी नाश नहीं होता । और प्रकृतिरूप जो संसारबंध है उसे ही अध्यात्म कहते हैं । यह बंध मोक्षसे नष्ट होजाताहै इसीसे अक्षर नहीं कहाता । ये दोनों रूप जानने चाहिए । और " असौ वाव लोको गौतमाग्निः । पर्जन्यो वाव गौतमाग्निः । पृथिवी वाव गौतमाग्निः । पुरुषो वाव गौतमाग्निः । योषा वाव गौतमाग्निः । इति पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुष वचसो भवन्तीति स उल्बावृतो गर्भो दश वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते " इस श्रुतिमें जो मनुष्यादिरूपसंपादक विसर्ग कहाहै अर्थात् जो गर्भप्राप्तिपूर्वक जन्मकी रीति कही है वही कर्मपदार्थ है ।

यहां पर मधुसूदनजीने कर्मपदार्थ यज्ञादि कहा है वह ठीक नहीं क्यों कि यहाँ यज्ञादिका प्रकरण नहीं प्रकरणके अनुसार यही अर्थ ठीक है जो कहाहै ।

शब्दस्पर्शादि जो अपने अपने आश्रयके सहित हैं वे ही अधिभूतपदार्थ हैं अर्थात् जडवर्गको ही अधिभूत कहतेहैं । ब्रह्माजीका नाम अधिदैवत है । तथा अंतर्यामिरूप मैं ही अधियज्ञपदार्थ हूं । यहांपर श्रीरामानुजस्वामीने जो कुछ उपासनाकी बात कही है उसे मैं सप्तमाध्यायकी समाप्तिमें कहचुका हूं उपासकने ब्रह्म अध्यात्म कर्म अधिभूत अधिदैव तथा अधियज्ञ इन सभ पदार्थोंको जानलेना चाहिए । कर्म हेयत्वेन ज्ञेय है । अर्थात् मुमुक्षुलोगोंने जीवात्मा और उसका स्वरूप जानना चाहिए तथा जन्मनिवृत्तिकेलिए उक्तजन्मरीति भी जाननी चाहिए । ऐश्वर्यार्थीको ऐश्वर्य-प्राप्तिकेलिए शब्दस्पर्शादि विषयका तथा जीवकी भोक्तृताका भी ज्ञान होना चाहिए भगवान् अंतर्यामीका ज्ञान तो सभीको होना ही चाहिए ॥ ३ ॥ ४ ॥

मू०-अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।

यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

दोहा--अंतकालमें स्मरण मम करतो मरतो जोय ।

निश्चय ही परधाम मम जावत नरवर सोय ॥ ५ ॥

टी०-हे पार्थ सदा मेरी उपासना करनेवाला जो पुरुष मेरेको स्मरण करताहुआ देहको छोडकर इसलोकसे जाता है वह परमधाममें पहुंचकर मेरे सदृशरूपवाला होजाताहै क्यों कि अंतकालके स्मरणका यही प्रभाव है यथा आदिभरत मृगका ध्यान करते करते मरगए सो उसी मृगके सदृश मृग होगए इसी बातको आगे भी कहतेहैं-यमिति ॥ ५ ॥

मू०–यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

दोहा–जिस वस्तुको स्मरणकर अंतहि छोडत काय ।
बहुत किए तिसध्यानसों तिसरूपहि जन्माय ॥ ६ ॥

टी०–यह नियम है कि पुरुष सदा जिस पदार्थका ध्यान करता रहताहै फिर मरणकालमें भी उसी पदार्थका ध्यान करताहै तो उसीके रूपको प्राप्त होताहै । इससे भगवत्प्राप्तिकेलिए भाग्यवान् पुरुषको सदा भगवत्की उपासना करनीचाहिए फिर अंतकालमें भी भगवान्का ही ध्यान करना चाहिए केवल अंतसमयके ध्यानसे कुछ लाभ नहीं होसकता । वेदांतसूत्रकारने भी यही कहाहै कि " आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम्" । इति श्रुति भी कहती है–"स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते" इति अर्थात् कुमारावस्थासे लेकर मरणपर्यन्त भगवदुपासना करनी ही चाहिए ॥ ६ ॥

मू०–तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यऽसंशयम् ॥ ७ ॥

दोहा–सकल कालमे स्मरण कर मेरो, तू रण ठान ।
मोमे मनमति (बुद्धि) लायके पइहो मोहिं सुजान ॥ ७ ॥

टी०–उक्त अर्थका उपसंहार करते हैं–तस्मादिति, जीव जिसका सदा तथा अंतकालमें स्मरण करताहै उसीको प्राप्त होताहै इससे हे पार्थ तू सभ कालमें=सदा मेरा स्मरण कर और युद्धको भी कर क्यों कि अपने मन और बुद्धिको मेरेमें लगानेसे अवश्य ही मेरेको प्राप्त होगा ॥ ७ ॥

मू०–अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नाऽन्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थाऽनुचिंतयन् ॥ ८ ॥

दोहा–अभ्यासयोगसो युक्त अरु मन अनन्यसों जोय ।
स्मरण करत हरिका मरे हरिढिग पहुंचत सोय ॥ ८ ॥

टी०–यहांपर नित्यनैमित्तिक कर्म कालसे भिन्न समग्र कालमें भगवत्का स्मरण करना अभ्यास पदार्थ है और नित्यप्रति योगकालमें अनुष्ठीयमान उपासना ही योगपदार्थ है यह प्रथम भी कहचुके हैं । उस अभ्यासे और योगसे युक्त तथा अनन्यचित्तसे जो मुझ परम दिव्यपुरुषका ध्यान करताहै हे पार्थ वह पुरुष मुझ परमपुरुषकोही प्राप्त होताहै ॥ ८ ॥

मू०–कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसःपरस्तात् ॥ ९ ॥

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्यसम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् १०॥

दोहा—ईश पुरातन सूक्ष्म अरु जो सर्वज्ञ सुजान।
रविसम जिसको रूप है जासों अवर प्रधान॥ ९॥
भक्तियोगयुत चित्तसों तिसको ध्यान लगाय।
भ्रुकुटिमध्य कर प्राणको मर नर तिसको जाय॥ १०॥

टी०—हे पार्थ मैं श्रीनारायण वासुदेव कवि=सर्वज्ञ हू मैं ही पुराणपुरुष तथा जगत्पर शासनकरनेवाला हूं मैं विचारकेलिए सूक्ष्म जो जीवहै उससे भी सूक्ष्म हूं मैं ही सभकी रचनाकरनेवाला तथा अशुद्ध मनसे अचिंत्य हूं मैं ही आदित्य जैसा तेजस्वी तथा प्रकृतिसे परे हूं॥ मुझ ऐसेका जो योगी पुरुष सदा ध्यान करके मरणकालमें भी योग और भक्तिके बलसे मनको मेरेमें स्थिर करके प्राणको भृकुटिमें चढाकर ध्यान करताहै वह मुझ परमदिव्यपुरुषको ही प्राप्त होताहै॥ ९–१०॥

मू०—यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ ११॥

दोहा—जिस जानै वेदज्ञ अरु जिसढिग जाय महान।
ब्रह्मचर्य जिस हित करै तिसको करौ बखान॥ ११॥

टी०—हे पार्थ जिस मेरे रूपको वेदवेदांतज्ञ लोग अक्षर=अस्थूलत्वादिगुणवाला कहते हैं, जिस मेरे रूपको वीतराग पुरुष प्राप्त होते हैं, जिस मेरे रूपकी प्राप्तिकेलिए लोग ब्रह्मचर्यादि तप करते हैं, मैं उस अपने पद=रूपको तुझे संक्षेपसे सुनाताहूं। भगवत्स्वयं भी अपने रूपका सविस्तर वर्णन थोडेसे इसकालमें नहीं करसकते इसीसे कहाहै संग्रहेण इति। कहा भी है—

"यथा रत्नानि जलधेरसंख्येयानि पुत्रक।
तथा गुणा ह्यनन्तस्य असंख्येया महात्मनः॥"
"न हि तस्य गुणाः सर्वे सर्वैर्मुनिगणैरपि।
वक्तुं शक्या वियुक्तस्य सत्त्वाद्यैरखिलैर्गुणैः॥"
"चतुर्मुखो वा यदि कोटिवक्त्रो भवेन्नरः क्वापि विशुद्धचेताः।
स ते गुणानामयुतैकमंशं वदेन्न वा देववर प्रसीद॥"
"वर्षाऽयुतैर्यस्य गुणा न शक्या वक्तुं समेतैरपि सर्वलोकैः।
महात्मनः शंखचक्राऽसिपाणेर्विष्णोर्जिष्णोर्वसुदेवात्मजस्य॥"
"तेजोबलैश्वर्यमहाऽवबोधसुवीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः।
परःपराणां सकला न यत्र क्लेशादयः सन्ति परावरेशे॥" इत्यादिः।

अर्थात् यथा समुद्रके रत्न गिनने आकाशके तारे गिनलेने अशक्य हैं एवं श्रीनारायणके गुणोंको गिनना भी अशक्य है गुणोंके अनंतहोनेसे ही भगवत्के स्वरूपका सविस्तर वर्णन भी अशक्य है ॥ ११ ॥

मू०--सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याऽऽधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

दोहा—सब इन्द्रियन रोककर मनको मोमें लाय ।
ब्रह्मरंध्रमें प्राण कर योगधारणा पाय ॥ १२ ॥
ओम् इत्यादि नाम मम उचरत सिमरत मोय ।
काय तजै जो, जात है परमधामको सोय ॥ १३ ॥

टी०—हे पार्थ सर्वद्वार=समग्र इंद्रियोंको विषयविषयक व्यापारसे रोककर मनको हृदि=हृदयकमलमें निवासकरनेवाले मुझमें लगाकर योगमर्यादामें स्थिर होकर तथा योगरीतिसे प्राणवायुको ब्रह्मरंध्रमें स्थिर करके ओम् इत्यादिक मेरे दिव्यमंगलनामोंको उच्चारण करताहुआ तथा मुझे स्मरण करताहुआ जो शरीरको त्यागता है वह परमधाममें पहुंचताहै ॥ ओंकार यहांपर भगवन्नामोंका उपलक्षक है एवं और भी श्रीराम श्रीकृष्ण श्रीनारायणादि नाम ऐसे ही मोक्षप्रद हैं । भगवन्नाममाहात्म्यपर अजामिलकी कथा प्रसिद्ध है । कहा भी है—

" आनन्द गोविन्द मुकुन्द राम नारायणानन्त निरामयेति ।
वक्तुं समर्थोऽपि न वक्ति कश्चिदहो जनानां व्यसनानि मोक्षे ॥
इदं शरीरं परिणामपेशलं पतत्यवश्यं श्लथसन्धिजर्जरम्
किमौषधैः क्लिश्यसि मूढ दुर्मते निरामयं रामरसायनं पिब ॥
अयाच्यमक्रेयमयातयाममपाच्यमक्षय्यमदुर्भरं मे ।
अस्त्येव पाथेयमितः प्रयाणे श्रीरामनामामृतभागधेयम् ॥"

अर्थात् और जो पाथेय=मार्गमें सहायता देनेवाले अन्नादि होतेहैं उनको किसीसे याचनासे लिआजाता है वा मोल लिआजाताहै फिर वह पकाना भी पडजाताहै फिर वह वासी भी होजाताहै फिर किसी न किसी दिन समाप्त भी होजाताहै और उसका बोझ भी उठाना पडता है ये दोष हैं, सौभाग्यसे प्राप्तहुए श्रीरामनामरूपी अमृतमें यह कोई भी दोष नहीं क्योंकि उसकेलिए याचनाकी वा मोलकी भी अपेक्षा नहीं उसे पकाना भी नहीं पडता वह वासी तथा क्षीण भी नहीं होता और उसका बोझ भी

उठाना नहीं पडता ऐसा श्रीरामनामामृत है तथापि लोगोंकी उधर मति नहीं होती ॥

तथा–" आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन् ।
ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयः ॥
सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा ।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥
अज्ञानादथ वा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत् ।
संकीर्तनमघं पुंसो दहेदेधो यथाऽनलः ॥
नामोच्चारणमाहात्म्यं हरेः पश्यत पुत्रकाः ।
अजामिलोपि येनैव मृत्युपाशादमूमुचत् ॥
कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः ।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत् ॥
रामनाम्नः परं किंचित्तत्त्वं वेदे स्मृतिष्वपि ।
संहितासु पुराणेषु नैव तंत्रेषु विद्यते ॥" इत्यादि ॥ १२ ॥ १३ ॥

मू०–अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

दोहा–मन अनन्यसों नित्य जो सतत हि सिमरत मोय ।
तिसकौं हौं सहज हि मिलौं नित्ययुक्त अरु जोय ॥ १४ ॥
परमसिद्धि मम धामको जो मम सेवक जाय ।
नाशवत अरु दुःखमय जन्म न सो पुनि पाय ॥ १५ ॥

टी०–ऐश्वर्यार्थीने तथा मोक्षार्थीने जिस प्रकार भगवदुपासना करनी चाहिए उसे कहकर अब श्रीदेवकीनंदन भगवान् ज्ञानीकेलिए स्वोपासनाप्रकार तथा स्वप्राप्तिप्रकारको कहते हैं–अनन्येति, हे पार्थ जो पुरुष सदा योगमार्गमें लगाहुआ नित्यंप्रति निरंतर अनन्यचित्तसे मेरा स्मरण करता है मैं उसे सहज ही प्राप्त होजाताहूं यदि वह मेरे विना और किसी भी पदार्थकी अभिलाषा न करे तथा मेरी स्मृतिके विना जी न सके तो। भगवान् आगे स्वयं ही कहेंगे–

" तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥" इति।

वे मेरे अनन्यभक्त मेरी उपासनासे मुझको मेरे धाममें प्राप्त होकर फिर इस विनाशी तथा दुःखमय जन्मको प्राप्त नहीं होते क्यों कि वे महात्मा मेरी प्राप्तिरूप परमसिद्धिको प्राप्त होजाते हैं॥ श्रुति भी कहती है–'स न पुनरावर्तते स न पुनरावर्तते' इति॥ १४॥ १५॥

मू०--आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ १६॥

दोहा–ब्रह्मलोकलकहूं गए पुनि भुवि जन्मन तात।
जो पहुंचे मम धाममें पुनि जन्म न पात॥ १६॥

टी०–देवलोकोंमें सभसे ऊपर ब्रह्माजीका लोक है वहां जीव बहुत ही पुण्योंसे पंहुचताहै। हे पार्थ उस ब्रह्माके लोकतक भी जो लोग पहुंचते हैं वे भी फिर लौटकर इसी पृथ्वीपर ही जन्मते हैं। जो लोग परमधाममें मुझको प्राप्त होजाते हैं उनका फिर जन्म नहीं होता। ब्रह्माका लोक भी परमधाम श्रीवैकुंठसे नीचे ही है॥ १६॥

मू०–सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ १७॥

दोहा–चारसहस्र युग लोकके विधिको इक दिन सोय।
इतनी विधिकी रात पुनि जानत पंडित जोय॥ १७॥

टी०–पृथ्वीलोकके जो चार हजार युग हैं उतना बडा ब्रह्माजीका एक दिन होताहै अर्थात् पृथ्वीपर जब एकहजार सत्ययुग एकहजार त्रेतायुग एकहजार द्वापरयुग तथा एकहजार कलियुग अपने क्रमानुसार बीतते हैं तब उतने समयमें ब्रह्माजीका एक दिन समाप्त होताहै फिर इतनी ही बडी ब्रह्माजीकी रात होती है यह सभ अहोरात्रपरिमाणको जानने ही वाले लोग भलीभांति जानते हैं। ब्रह्माजीके एकदिनभर सभ प्रपंच रहताहै रात्रि लगते ही सभ अपने कारणमें लीन होजाताहै॥ १७॥

मू०--अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके॥ १८॥

दोहा–दिनारंभमें लोक सभ ब्रह्मासो प्रकटात।
रात्रीके आरंभमें ब्रह्मामें लय पात॥ १८॥

टी०–अव्यक्तशब्द यहांपर ब्रह्माजीका बोधक है। जब ब्रह्माजीके दिनका आरंभ होताहै तो समग्र देह इंद्रियादि भोग्य भोगस्थान पदार्थ ब्रह्माजीसे प्रगट होते हैं फिर

दिनके समाप्त होजानेपर रात्रिके आरंभमें वे प्रकट भये सभी पदार्थ अपने अपने कारणमें लयके क्रमसे उन्ही ब्रह्माजीमें लीन होजातेहैं । ब्रह्माजीके दिन और रातका परिमाण प्रथम ही कहचुकेहैं ॥ १८ ॥

मू०-भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्याऽऽगमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

दोहा-ब्रह्मासों ये भूत सब कर्मवशते लीन ।
प्रकट प्रकट दिनमें पुनि होत रातमें लीन ॥ १९ ॥

टी०-हे पार्थ यह समग्र भूतवर्ग ब्रह्माजीसे प्रकट हो होकर कर्मपाशसे विवश हुआ हुआ ब्रह्माजीमें ही वारंवार लयको प्राप्त होताहै फिर ब्रह्माजीके दिनके आरंभ होते ही ब्रह्माजीसे ही प्रकट होताहै । एवं एक ब्रह्मामें ही ब्रह्माके सौवर्षपर्यंत लीन और प्रकट होता है फिर दूसरे फिर तीसरे ब्रह्मामें इत्यादि । ब्रह्माका एकदिन इसलोकके चार हजार युगका होताहै । हाय हाय । अच्छा कहा है—

" नद्यां कीटा इवावर्तादावर्तान्तरमाशु ते ।
व्रजन्तो जन्मनो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिम् ॥
कुर्वते कर्म भोगाय कर्म कर्तुं च भुञ्जते ॥ " इत्यादि ॥

तात्पर्य यह है कि जो भगवदुपासना कर भगवत्को नहीं प्राप्त होते वे इसी तरह अनंतकाल पर्यंत इसी संसारचक्रमें घूमतेरहेंगे । और जो महानुभाव लोग भगवदुपासना कर भगवत्को प्राप्त होजातेहैं वे फिर इस संसारको प्राप्त नहीं होते ॥ १९ ॥

मू०-परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

दोहा-प्रकृतीसों पर जीव नित स्वप्रकाश है जोय ।
नष्ट होय जडवर्ग सब वह तउ नष्ट न होय ॥ २० ॥

टी०-हे पार्थ जीवात्मा अव्यक्त=प्रकृतिसे भी पर=उत्कृष्ट है नित्य है तथा अव्यक्त है अर्थात् वह जीवात्मा चक्षुरादि ज्ञानकरणोंसे व्यक्त=प्रतीत नहीं होता किं तु स्वयं ही प्रकाशमान है । समग्र शरीरादिजडवर्गके नष्ट होनेपर भी वह नष्ट नहीं होता । "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि " इत्यादि वाक्योंसे इस विषयको प्रथम ही सविस्तर वर्णन करचुकेहैं । यहां पर इस उपक्रमका अभिप्राय आगेके श्लोकमें भगवान् कहेंगे ॥ २० ॥

मू०-अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

दोहा—जीव कह्यो अव्यक्त वह परम प्राप्य तिस रूप।
जिसको पाय न जन्म ले, सो मम धाम अनूप॥ २१॥

टी०—हे पार्थ! उक्त श्लोकमें अव्यक्तशब्दसे अक्षर=प्रकृतिवियुक्त शुद्धस्वरूप जीवात्मा कहाहै सो जीवात्माकी शुद्धस्वरूपता ही परमगति है वह मेरा ही धाम=नियमनस्थान है उसको प्राप्त होकर अर्थात् जड प्रकृतिसे वियुक्त हो जीव श्रीवैकुंठमें पहुंचकर अपने शुद्ध स्वरूपसे संपन्न होजाताहै फिर वह इस संसारको प्राप्त नहीं होता। जबतक जीव संसारमें रहताहै तब तक इसका स्वरूप प्रकृतिसे ढका रहताहै जब जीव श्रीवैकुंठमें प्राप्त होताहै तबी इसका यथार्थ स्वरूप प्रगट होताहै। सूत्रकारने भी कहा है "संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्" इति। श्रुति भी कहतीहै—"एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति। मुक्तके उस स्वरूपको भी श्रुति कहतीहै—"य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः" इति।

कोई लोग यहांपर ऐसा भी अर्थ करतेहैं कि यहांपर अव्यक्तशब्द परमात्माका बोधक है वही परमगति है उसको प्राप्त होकर फिर जीव इस संसारको प्राप्त नहीं होता कोई लोग यहांपर कैवल्यमोक्षको कहते हैं॥ २१॥

मू०—पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ २२॥

दोहा—परम पुरुष वह प्राप्त हो परमभक्तिसों तात।
जग सब जासों व्याप्त है अरु जामें हि रहात॥ २२॥

टी०—हे पार्थ ये सब भूत मेरेमें ही स्थित हैं और मुझसे ही व्याप्त हैं अर्थात् मैं ही सर्वत्र व्यापक हूं ऐसा मैं परमपुरुष एक अनन्यभक्तिसे ही प्राप्त होसकताहूं। भगवद्भक्त जिस स्वरूपकेलिए उपासना करते हैं वह अपना स्वरूप भगवान्ने भक्तिसे ही लभ्य कहाहै कहा भी है—

"विद्वेषादपि गोविन्दं दमघोषात्मजः स्मरन्।
शिशुपालो गतः स्वर्गं किं पुनस्तत्परायणः॥"
"तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥"
"भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥"
"किङ्करा दण्डपाशौ वा न यमो न च यातनाः।
समर्थास्तस्य यस्यात्मा केशवालम्बनः सदा॥"

" तस्मादहर्निशं विष्णुं संस्मरन् पुरुषो मुने ।
न याति नरकं शुद्धः संक्षीणाखिलकल्मषः ॥ "
" स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यऽप्रतिहता ययात्मा संप्रसीदति ॥ "
एतावानेव लोकेस्मिन् पुंसां धर्मः परात्परः ।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः ॥ "
" न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च ।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम् ॥ "
" मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ "
" न साधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्गरीयसी ॥
त्वद्भक्तियुक्तो लोकेऽस्मिञ्जीवन्मुक्तः स संततम् ।
त्वद्भक्तिहीनो मूर्खश्च जीवन्नपि मृतोपि सः ॥" इत्यादि ॥ २२ ॥

मू०–यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

दोहा–योगी मर जिस पथ जा जन्म न पावत कोय ।
जन्म लेत जिस पथ जा कहौं पथ ये दोय ॥ २३ ॥

टी०–यहांपर कालशब्द मार्गका बोधक है । हे पार्थ योगी मरकर जिस मार्गसे परमधामको जाता है फिर नहीं संसारमें आता तथा कर्मी पुण्यवान् मरकर जिसमार्गसे जाकर चंद्रलोकको प्राप्त होकर फिर संसारको ही प्राप्त होताहै उन दोनों मार्गोंको मैं तुझे सुनाताहूं ॥ २३ ॥

मू०–अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

दोहा–अग्नि आदिसों चचला ब्रह्मातक मग जोय ।
जो मर इस मग जात पुनि जन्म न पावत सोय ॥ २४ ॥

टी–जो ब्रह्मज्ञ भक्त पुरुष शरीरको त्यागकर इस अर्चिरादिमार्गसे जातेहैं वे परमात्माको प्राप्त होतेहैं । मार्गक्रम–अग्निलोक, अहर्लोक, शुक्लपक्ष लोक, उत्तरायणलोक, संवत्सरलोक, वायुलोक, सूर्यलोक, चंद्रलोक विद्युत्लोक वरुणलोक, इंद्रलोक चतुर्मुखलोक, इति । अर्थात् भगवत्का अनन्य भक्त शरीर त्यागकर अग्निलोकमें जाताहै सो अग्निदेवता उसको अपने लोकका मार्ग दिखाताहुआ अहर्लोकतक

पहुंचाताहै। तब अहर्लोकका देवता अपने लोकमेंसे शुक्लपक्षलोकतक पहुंचाताहै। तब शुक्लपक्षलोकका अधिष्ठाता देव इसे मार्ग दिखाताहुआ उत्तरायणलोकतक पहुंचाकर लौट आताहै, तब उत्तरायणलोकका देव इसे संवत्सरलोकतक पहुंचाताहै। तब संवत्सर-लोकका देव इसे वायुलोकतक पहुंचाताहै। तब वायु इसे अपने लोकसे सूर्य लोकतक पहुंचाताहै, तब सूर्य इसे चंद्रलोकतक पहुंचाताहै। तब चंद्रमा इसको विद्युत्लोकतक पहुंचाकर लौट आताहै। फिर इसको विद्युत् मार्ग दिखातीहुई वरुणलोकमें लेजातीहै अब विद्युत् लौटेगी नहीं किं तु वैकुंठतक पहुंचाएगी अब वरुणलोकसे इसे विद्युत् और वरुण दोनों देवता इंद्रलोकतक पहुंचाते हैं, तब वरुण लौट आताहै, आगे विद्युत् और इंद्र दोनों देवता इसे ब्रह्माके लोकतक पहुंचातेहैं वहांसे इंद्र लौट आताहै, फिर विद्युत् और ब्रह्मा दोनों इस भगवद्भक्तको श्रीवैकुंठमें पहुंचातेहैं। इस प्रकारसे वैकुंठको जानेवाले भगवद्भक्त पधारतेहैं। अग्निसे विद्युत् और ब्रह्मातक उन उन लोकोंके १२ देवता इस भक्तको मार्ग दिखानेवाले हैं। यथा—

अर्चिरहः सितः पक्ष उत्तरायणवत्सरौ।
मरुद्रवीन्दवो विद्युद्वरुणेन्द्रचतुर्मुखाः॥
एते द्वादश धीराणां परधामातिवाहिकाः।
वैकुण्ठप्रापिका विद्युद्वरुणादेस्त्वनुग्रहः॥

इसीका नाम अर्चिरादिमार्ग है। श्रुति भी कहतीहै—"तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद् यान् षडुदङ्ङेति मासांस्तान् मासेभ्यः संवत्सरं संवत्स-रादादित्यमादित्याचन्द्रमसं चंद्रमसो विद्युतं तत् पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति एष देवपथो ब्रह्मपथः। एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते" "स एतं देव-यानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकम् स आदित्यलोकं स चंद्रलोकं सं प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्" इति। याज्ञवल्क्यस्मृति यथा—

"स ह्याश्रमैर्विजिज्ञास्यः समस्तैरेवमेव तु।
द्रष्टव्यस्त्वथ मन्तव्यः श्रोतव्यश्च द्विजातिभिः॥
य एनमेवं विन्दन्ति ये चारण्यकमाश्रिताः।
उपासते द्विजाः सत्यं श्रद्धया परया युताः॥
क्रमात्ते संभवन्त्यर्चिरहः शुक्लं तथोत्तरम्।
अयनं देवलोकं च सवितारं सवैद्युतम्।
ततस्तान् पुरुषोऽभ्येत्य मानसो ब्रह्मलौकिकान्।
करोति, पुनरावृत्तिस्तेषामिह न विद्यते॥" इति॥

जो योगी पुरुष श्रीनारायणके अनन्यभक्त होते हैं वे ही इस मार्गपर पैर रख-सकते हैं श्रीनारायणके अनन्यभक्त भी इसी अर्चिरादिमार्गसे ही श्रीवैकुंठमें पहुंचकर

परब्रह्म श्रीनारायणको प्राप्त होते हैं यह नियम है। श्रीवैकुंठका मार्ग यही अर्चिरादिमार्ग ही है। उक्त श्रुतिसे भी यह सिद्ध होताहै कि मुक्तजीव ब्रह्मलोकमें जाता है। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि जीव अणु है यदि व्यापक होता तो कैसे जासकता। तथा अविद्यानिवृत्तिमात्र ही मोक्ष नहीं किं तु अविद्यानिवृत्तिपूर्वक ब्रह्म (हरि) लोकप्राप्ति ही मोक्ष है यदि अविद्यानिवृत्ति ही मोक्ष होता तो श्रुति " स ब्रह्मलोकम् " इस वाक्यसे वैकुंठमें जानेको प्रतिपादन न करती। यहांपर ब्रह्मलोकशब्द ब्रह्माके लोकका वाचक नहीं क्यों कि ब्रह्माका लोक तो " स प्रजापतिलोकम् " इसी वाक्यसे कहदिआहै इससे यहांपर ब्रह्मलोकशब्द परमात्माके लोक वैकुंठका ही बोधक है।

अद्वैतीलोग जो कहतेहैं कि अर्चिरादिमार्गसे ब्रह्माके लोकमें जाकर ज्ञानी लोग ब्रह्माके साथ मुक्त होजाते हैं यह भी असंगत ही है यदि श्रुतिको यही सिद्धांत अभीष्ट होता तो " स प्रजापतिलोकम् " इस वाक्यसे ब्रह्माके लोकमें ज्ञानीका जाना कहकर फिर " स ब्रह्मलोकम् " ऐसा न कहती। इससे इसविषयमें अद्वैतिओंका कथन सभ असंगत है ॥ २४ ॥

सू०-धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

दोहा-धूम आदिसो चंद्र तक धूममार्ग है तात।
जो मर इस मग चंद्रढिग जात सो पुनि इत आत ॥ २५ ॥

टी०-जो लोग भगवदुपासनाको छोड ज्योतिष्टोमादियागोंको स्वर्गकेलिए करतेहैं वे स्वर्गमें जाकर सुख भोगकर फिर जन्ममरणमय संसारको प्राप्त होते हैं " क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति " अब उस स्वर्गके मार्गको कहते हैं-धूम इति, पुण्यकर्मकरनेवाले स्वर्गसुखकी इच्छावाले जो पुरुष इस कायको त्यागकर धूममार्गसे जाते हैं वे चंद्रलोक स्वर्गलोकमें पहुँचकर कृतपुण्योंका सुख भोगकर फिर इसी संसारको प्राप्त होते हैं। मार्गक्रम यथा-धूमलोक रात्रिलोक कृष्णपक्षलोक दक्षिणायनलोक पितृलोक आकाशलोक तथा चंद्रलोक इति। इसीमार्गके क्रमसे पुण्यवान् लोग स्वर्गमें पहुंचतेहैं। पुण्यका फल भोगकर फिर लौट आते हैं श्रुति यथा-

" ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद् यान् षड् दक्षिणेति मासांस्तान्, नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवंति, मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चांद्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तद्देवा भक्षयंति तस्मिन् यावत्संपातमुषित्वा, अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तते " इति।

याज्ञवल्क्यस्मृति यथा-

यज्ञेन तपसा दानैर्ये हि स्वर्गजितो नराः ।
धूमं निशां कृष्णपक्षं दक्षिणायनमेव च ॥
पितृलोकं चंद्रमसं वायुं वृष्टिं जलं महीम् ।
क्रमात्ते संभवन्तीह पुनरेव व्रजन्ति च ॥ " इति ।

कोई लोग ऐसा भी कहतेहैं कि अर्चिरादिमार्गमें अहः सितपक्ष उत्तरायण तथा संवत्सर और धूममार्गमें धूम रात्रि कृष्णपक्ष तथा दक्षिणायन ये इन नामोंके लोक नहीं हैं किं तु गमनशीलपुरुषको मार्ग दिखानेवाले हैं। तो यह भी पक्ष अनुचित नहीं किं तु इतना अवश्य ही मानना पडेगा कि अहःप्रभृति तथा धूमप्रभृति गमनशीलपुरुषको जो मार्ग दिखाते हैं वह कोई न कोई भूमि (प्रदेश) अवश्य है उस उस भूमिके अधिष्ठाता देवका ही नाम अहः इत्यादि तथा धूम इत्यादि है ।

जिन लोगोंने नरकभोगयोग्य कोई पाप नहीं किआ किं तु स्वर्गभोगयोग्य पुण्य ही किआ है वे ही लोग इस धूममार्गको भी प्राप्त होतेहैं । जिनने केवल पाप ही किआ है वे नरकको ही प्राप्त होतेहैं । जिनने नरकभोगयोग्य पाप भी नहीं किआ तथा स्वर्गभोगयोग्य पुण्य भी नहीं किआ वे तुरत ही इसी भूलोकमें जन्म लेतेहैं । जिनने नरकभोगयोग्य पाप भी किआहै तथा स्वर्गभोगयोग्य पुण्य भी किआहै वे तो प्रथम यमकी आज्ञासे नरक भोगतेहैं फिर धूममार्गसे स्वर्गको प्राप्त होते हैं व्यासदेवने सूत्र भी कहाहै– " संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात्" इति। श्रुति यथा–" अयं लोको नास्ति न पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे। वैवस्वतं संयमनं जनानां यमं राजानम्" इति । स्मृति यथा–"सर्वे चैते वशं यान्ति यमस्य भगवन् किल " ।

"महापातकजान् घोरान्नरकान् प्राप्य दारुणान् ।
कर्मक्षयात्प्रजायन्ते महापातकिनस्त्विह ॥ " इति ॥

स्वर्ग किं वा नरक भोगकर जब जीव जन्म लेनेको आताहै तो प्रथम आकाशको प्राप्त होताहै आकाशसे वायुको वायुसे धूमको धूमसे अभ्रको अभ्रसे मेघको मेघसे जलमें मिलकर पृथ्वीको पृथ्वीसे अन्नको अन्नसे वीर्यको वीर्यद्वारा गर्भको प्राप्त होता है । श्रुतिने भी कहाहै–" तस्मिन् यावत्संपातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति ते इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद् भूय एव भवति " इति ॥ और आकाशादिको प्राप्तहुए जीवको कोई प्रकारके सुख दुःखका भोग नहीं होत

किं तु तत्तुल्यता प्राप्त होतीहै और आकाशादिमें जीव बहुतकाल रहता भी नहीं किं तु अन्नको प्राप्त होकर जीव अन्नमें कुछ काल रहताहै तब गर्भको प्राप्त होताहै । जब गर्भको प्राप्त होताहै तभी सुख वा दुःखके भोगको भी प्राप्त होताहै । इत्यादिक शास्त्रोंमें बहुत कुछ सविस्तर कहाहै इति ॥ २५ ॥

मू०-शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥२६ ॥
नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

दोहा-शुक्ल कृष्ण मग दोय ये ज्ञानी कर्मी हेत ।
लौटत नहि सित पथ जा, जन्म कृष्ण जा लेत ॥ २६ ॥
मगदोऊ जो जानतो मोह न तिसको होय ।
मरण समय, इसहेतु तू सितमग चितको पोय ॥ २७ ॥

टी०-हे पार्थ ऊपर जानेकेलिए शुक्ल=अर्चिरादिमार्ग तथा कृष्ण=धूममार्ग ये दो मार्ग शाश्वत-सदातन हैं इनमेंसे ज्ञानी मेरा भक्त ही शुक्लमार्गको प्राप्त होताहै और वह फिर संसारको नहीं प्राप्त होता। और पुण्यकर्मवाला स्वर्गकेलिए कृष्णमार्गकोही प्राप्त होताहै वह स्वर्गसुख भोगकर फिर संसारमें ही आजाताहै ॥

इनदोनों मार्गोंको जाननेवाला योगीपुरुष अंतकालमें मोह=अज्ञानको प्राप्त नहीं होता इसहेतु हे पार्थ तू अर्चिरादिमार्गध्यानरूप जो योग है उसका अनुष्ठान कर अर्थात् अर्चिरादिमार्गको प्राप्त होनेका उपाय कर । अर्चिरादिमार्ग तो विना भगवत्की अनन्यभक्तिके प्राप्त नहीं होसकता । यद्यपि इस समय विद्याकी क्षीणता तथा जीवोंकी अर्थकाममात्रपरायणताके कारण ऐसे भी लोग बहुत अल्प हैं जो अर्चिरादिमार्गकी किं वा धूममार्गकी इस कहानीको भी जानतेहों तथापि यहांपर इस कहानीके जाननेकेलिए भगवान् आज्ञा नहीं करते किं तु किस प्रकार अर्चिरादिमार्ग प्राप्त हो सकताहै उसके विचार पूर्वक अनुष्ठानकेलिए भगवान् आज्ञा करतेहैं । जो पुरुष यथार्थसे इन दोनों मार्गोंको जानलेगा वह अवश्य ही समझ जायगा कि अर्चिरादिमार्गकी प्राप्तिके विना संसारबंधका पचडा निवडेगा नहीं यह समझ वह अर्चिरादिमार्गकी प्राप्तिकेलिए अवश्य ही भगवान् श्रीनारायणकी अनन्यभक्त्युपासना करेगा । याज्ञवल्क्यने भी कहाहै-

"एतद्‌द्वयं न विजानाति मार्गद्वितयमात्मवान् ।
दन्दशूकः पतङ्गो वा भवेत्कीटोऽथ वा कृमिः ॥ " इति ।

जो मादृश पाप पुरुष अर्चिरादिमार्गप्राप्तिकेलिए कुछ उपाय नहीं करते वे वस्तुगत्या यथार्थरूपसे अर्चिरादिमार्गको जानते ही नहीं यही कहना चाहिए । मेरे जैसोंकेलिए ही सूरदासजीने कहाहै " भर भर उदर विषयनको धावत जैसे सूकर ग्रामी " इत्यादि ।

गही सुपान सुजानकी रतनमयी हिलगाय ।
दूर हटाई चतुरवर कौडिन लोभ दिखाय ॥
कौडिन लोभ दिखाय हरे सभ रतन अनोखे ।
मूरख काच खरीदै दे मुक्तामणि चोखे ॥
निपट कठोर ठगै हरि हरिमति मोह बढाई ।
नैन मूंद नर पाय ठगी विधि जोरी भली बनाई ॥ २६ ॥ २७ ॥

मू०-वेदेषु यज्ञेषु तपस्सु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥

दोहा-वेद यज्ञ तप दान फल अल्प मोक्षते मान ।
परम धामको जाय यति उक्त योगको ठान ॥ २८ ॥

टी०-हे पार्थ जो योगीपुरुष इन दोनों अध्यायोंमें कहे योगको जानताहै वह इस-योगके माहात्म्यके आगे वेदाध्ययन यज्ञ तप तथा दानके पुण्यको तुच्छ समझलेता है और इस भगवदुपासनारूपी योगका अनुष्ठान करके परमधाम श्रीवैकुंठको प्राप्त होजाताहै । कहा भी है-"अयं हि परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम् " इत्यादि॥२८॥

इति पंजाबीपण्डितसुदर्शनाचार्यप्रणीत भगवद्गीतासतसई तथा तत्त्वार्थसुदर्शनी टीका-सहित श्रीमद्भगवद्गीताका अष्टमाध्याय समाप्त हुआ ॥ ८ ॥



श्रीः ।

अथ नवमोऽध्यायः ।

श्रीभगवान् उवाच-

मू०-इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

दोहा-तुम अनसूय सुनौ कहौं परमगोप्यको तात ।
भेद सहित निजभक्तिको बँध जाते छुटजात ॥ १ ॥
विद्याको अरु गोप्यको राजा पावन और ।
धर्म एह अक्षय सुखद जासु दर्श हो मोर ॥ २ ॥
भक्तिरूप इस धर्ममें जिनकी श्रद्धा नाहिं ।
वे मोकूं ना प्राप्त हों बूडत भवजलमाहिं ॥ ३ ॥

टी०-उपासकोंके भेदोंको कहकर, निखिलहेयप्रत्यनीककगुणार्णव श्रीभगवान् वासुदेव अब अपनी महिमाको तथा भक्तिरूप उपासनाके स्वरूपको कहनेकेलिए उपक्रम करतेहैं-इदमिति हे पार्थ तेरेको स्पर्धा नहीं है और तू मेरा भक्त तथा सखा है इसहेतु तेरेको उपासनारूप ज्ञानको तथा उसके भेदोंको सुनाताहूं । इस भक्तिरूप उपासनाका ज्ञान पाकर फिर उसका अनुष्ठान करके तू अवश्य ही संसारबंधरूपी अशुभसे निवृत्त होजायगा = छूटजायगा ॥

यह भक्ति उपासनास्वरूपज्ञान समग्र विद्याओंका तथा गोपनीयोंका राजा है इससे बढकर कोई विद्या तथा गोपनीय नहीं यह ज्ञान बडा पवित्र है क्यों कि चित्तको शुद्ध करदेताहै तथा सबसे उत्तम है । यह धर्मस्वरूप है करनेमें सुखप्रद है अर्थात् इसके अनुष्ठानमें जीवको दुःख नहीं होता किं तु सुख ही होताहै । और यह अक्षय स्वरूप है इसका कभी क्षय नहीं होता । और यह भक्तिरूप ज्ञान प्रत्यक्षावगम है अर्थात् इसके अनुष्ठानसे मैं प्रत्यक्ष होजाताहूं = भक्तको दर्शन देताहूं । (अवगम्यत इत्य-

वगमो विषयः । प्रत्यक्षभूतो अवगमो विषयो (हरिः) यस्य ज्ञानस्य तत् प्रत्यक्षावगमम् भक्तिरूपेणोपास्यमानोहं तदानीमेवोपासितुः प्रत्यक्षतामुपगतो भवामीत्यर्थः) ऐसी व्युत्पत्ति श्री भाष्यकारने लिखी है ॥

इस उपासनारूप धर्ममें जो पुरुष श्रद्धा नहीं रखते वे मेरेको प्राप्त नहीं होते किंतु मरकर नरक किं वा स्वर्गको भोगकर फिर इसी संसारसमुद्रमें आगिरतेहैं ।.१॥२॥३॥

मू०—मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

दोहा—अंतर्यामीरूपसों हौं व्यापक सबमाहँ ।
मम अधीन सभ भूत हैं हौ अधीन तिन नाहँ ॥ ४ ॥

टी०—हे पार्थ मेरे अंतर्यामीरूपसे यह समग्र प्रपंच व्याप्त है अर्थात् मैं सर्वत्र व्यापक हूं कहा भी है—"यः पृथिव्यां तिष्ठन् यं पृथिवी न वेद य आत्मनि तिष्ठन् यमात्मा न वेद" इत्यादि । इसीहेतु ये सभ भूत मेरेमें स्थिर हैं मेरे अधीन हैं कहाभी है—"यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति" इत्यादि । किं तु मैं उनमें स्थित नहीं हूं अर्थात् वे सभ भूत मुझसे अधिक व्यापक नहीं है किंवा मैं उन भूतोंके अधीन नहीं हूं अर्थात् यथा मैं सभ भूतोंका उत्पादन पालन रक्षणादि उपकार करताहू तथा उन भूतोंसे मेरा कोई भी प्रकारका उपकार नहीं होसकता ॥ ४ ॥

मू०—न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

दोहा—धारहु भूत न बोझ तिन मोहि, मम शक्ति निहार ।
ना तिनसों उपकार मम, रहि मम इच्छाधार ॥ ५ ॥

टी०—हे पार्थ यद्यपि ये सभ भूत मेरेमें हैं तथापि जैसे लोग किसी पदार्थको सिरपर उठाताहै तथा उसके बोझको सहताहै वैसे मैं इन भूतोंको तथा इनके बोझको नहीं उठाता किं तु यह मेरी ईश्वरीय योगमाया (शक्ति) है जो मैं सभ भूतोंको धारण करनेवाला उनका स्वामी हूं और मैं उन भूतोंके अधीन नहीं हूं । और उन भूतोंकी सृष्टि भी मुझे कुलालकी तरह नहीं करनी पडती किं तु मेरे संकल्पमात्रसे ही सभ भूतोंकी सृष्टि होजातीहै । श्रुति भी कहती है—"तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयै" "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" "न चास्य कार्यं करणं च विद्यते" "स एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः" इत्यादि । तथा—

" मेघोदयः सागरसान्निवृत्तिरिन्दोर्विभागः स्फुरितानि वायोः ।
विद्युद्विभङ्गो गतिरुष्णरश्मेर्विष्णोर्विचित्राः प्रभवन्ति मायाः " ॥ ५ ॥

मू०—यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

दोहा—गगन सकलमें घूमतो मोमें रहतो वात ।
और हु भूत तथा रहै मोमे, जानौ तात ॥ ६ ॥

टी०—हे पार्थ आकाशमें सर्वत्र वायु घूमताहै वह आकाशः ऐसा पदार्थ है जो किसीका भी आधार नहीं होसकता और प्रत्येक पदार्थ तो किसी न किसीका आधार (आश्रय) लेकर ही रहताहै यथा घट भूपर ठहरताहै एवं वायुका भी कोई न कोई आधार मानना चाहिए आकाश तो आधार हो नहीं सकता और भी कोई वायुका आधार प्रतीत नहीं होता इससे यह अवश्य ही मानना पडेगा कि उस वायुका मैं ही परमेश्वर आधार हूं । इसीप्रकार ही और भी सभ भूत=पदार्थमात्रका मैं ही आधार हूं वे सभमेरा आश्रय लेकर ही रहते हैं श्रुति भी कहती है—" एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः " " भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः । भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः " ॥ इत्यादि ॥ ६ ॥

मू०—सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये, पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

दोहा—कायरूप मो प्रकृतिमें अंतहि सभ लय होय ।
कल्प आदिमें हौ पुनि प्रकट करौ तिन जोय ॥ ७ ॥

टी०—हे पार्थ मेरा शरीरभूत जो प्रकृति है प्रलयकालमें इस प्रकृतिमें ये सभ भूत मेरी इच्छासे लीन होजातेहैं । कहा भी है—" यस्याव्यक्तं शरीरम् " " अव्यक्तमक्षरे लीयते अक्षरं तमसि लीयते तमः परे देव एकीभवति "इति । फिर कल्पके आदिमें मैं अपनी इच्छामात्रसे ही इन सभ भूतोंकी सृष्टि (रचना) करदेताहूं ॥ श्रीयामुनाचार्यस्वामीने भी कहाहै—

"कस्योदरे हरविरिञ्चिमुखः प्रपञ्चः को रक्षतीममजनिष्ट च कस्य नाभेः ।
क्रान्त्वा निगीर्य पुनरुद्गिरति त्वदन्यः कः केन चैष परवानिति शक्य-
शङ्कः " इति ।

अर्थात् हे भगवन् प्रपंचके उत्पादन रक्षण निगरण उद्गिरण व्यापनादि धर्मोंकी आपके विना दूसरेमें संभावना भी नहीं होसकती ॥ ७ ॥

मू०-प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

दोहा--निज प्रकृतीको आठ विध परिणत कर हौ तात ।
प्रकृतिअधीन सभ भूतकी पुनि पुनि रचना लात ॥ ८ ॥
मम बंधन बनतो नही भूतसृष्टिनिर्मान ।
हौ उदास रहतौ तहा भूतन कर्म निदान ॥ ९ ॥

टी०-मैं अपनी (स्वाधिष्ठित) प्रकृतिको आठ प्रकारसे परिणत करके अर्थात् प्रकृतिसे प्रथम पृथिवी जल तेज वायु आकाश मन अहंकार तथा महत्तत्त्व इनको बनाकर तब देव तिर्यक् मनुष्य तथा स्थावर इस चार प्रकारकी भूतसृष्टिको बनाताहूं और ये सभ भूत प्रकृतिके अधीन होनेसे परतंत्र हैं, स्वतंत्र नहीं, इसीसे ये अपनी इच्छासे जब चाहे तब प्रकट नहीं होसकते । इस आठ प्रकारकी सृष्टिको भगवान् प्रथम ही कहचुकेहैं-

"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ " इति ।

और ये भूतग्रामसंबंधी जो प्रलय उत्पादन तथा रक्षण कर्म हैं ये मेरेलिए बंधन नहीं होसकते क्यों कि मैं इन कर्मोंमें आसक्त नहीं हूं किं तु उदासीन हूं । इस सभका मूल जीवका कर्म है जिस जीवका जैसा कर्म होताहै वैसे ही वे जाति आयु तथा भोगरूप फलको पाताहै । अच्छे पुण्यकर्मोंसे अच्छी जाति अच्छे भोग तथा बडी आयु प्राप्त होते हैं पापकर्मोंसे निकृष्ट जाति निकृष्ट तथा अल्प भोग और अल्प आयु प्राप्त होते हैं । ऐसा कोई ही भाग्यवान् जीव होताहै जिसके कर्म जाति आयु भोग इन तीनोंकेलिए अच्छे हों । योगसूत्रकारने भी कहाहै-" सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः" इति । जीवके सुख दुःखोंके भोगमें भगवान्का कुछ दोष नहीं इस बातको वेदांतसूत्रकारने कहाहै-"वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् " इति अर्थात् कोई जीव सुख भोगताहै कोई दुःख भोगताहै इससे भगवान् विषमदृष्टि तथा निर्दय नहीं कहा सकते क्यों कि जिसके जैसे कर्म होतेहैं वह वैसा ही फल भोगताहै फलभुगतानेमें भगवान् जीवकर्मोंके अधीन है ॥ ८ ॥ ९ ॥

मू०-मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

दोहा--है। स्वामी जब चाहतो तब सभ प्रकृति बनाय ।
जीवकर्म अनुरूप, मम इच्छा जगहि घुमाय ॥ १० ॥

टी०--हे पार्थ प्रपंचरचनाकी इच्छा करके जब मैं अपनी अधिष्ठित प्रकृतिकी ओर देखताहूं तब वह प्रकृति इस स्थावर जंगम प्रपंचको बनाडालतीहै अर्थात् जब मैं चाहताहूं कि प्रकृतिका प्रपंचरूपेण परिणाम होजाय तो मेरे सत्यसंकल्पके प्रभावसे यथाक्रम झट हीं प्रकृतिका प्रपंचरूपसे परिणाम होजाताहै=प्रपंच बनजाताहै । जीवोंके कर्मोंके अनुसार ही मेरी इच्छा होती है मेरी उस इच्छासे ही यह प्रपंच कुम्हारके चक्रके तुल्य घूमता रहताहै=कभी लयको प्राप्त होताहै कभी फिर प्रकट होताहै इत्यादि ॥कहाभी है "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" इति। सांख्यवादी लोग जो स्वतंत्र ही प्रकृतिको प्रपंचका कारण मानतेहैं उनका मत इन वाक्योंसे खंडित समझना चाहिए । और प्रकृति जड है जबतक उसको प्रपंचरूपेण परिणत करनेवाला परमात्मा चेतन नहीं होगा तबतक वह जड प्रकृति स्वयं ही कैसे प्रपंचरूपसे परिणत होगी ? अन्यथा मृत्तिका भी कुलालके विना ही क्यों नहीं घटरूपसे परिणत होजाती ? । इससे यही सिद्ध हुआ कि सभकुछ श्रीनारायणकी इच्छाके अधीन है ॥ १० ॥

मू०-अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

दोहा-ईश्वरता मम रूपको नाहिन जानत कोय ।
मनुषकाय कारण, मम करत निरादर सोय ॥ ११ ॥
कर्म ज्ञान आशा तथा तिन सम निष्फल जात ।
राजस तामस वासना वासित उलटो मात ॥ १२ ॥

टी०-हे पार्थ जो जीव राक्षसी=राजसवासनावाले हैं तथा जो पुरुष आसुरी=तामस वासनावाले हैं वे अपनी राजस तथा तामस प्रकृति=वासनाके कारण मेरा जो स्वरूप है कि मैं परमेश्वर हूं निज करुणाके कारण लोकोपकारकेलिए मनुष्यदेहको धारण करताहूं इसको नहीं जानते अतएव वे मुझे साधारण राजकुमार समझकर मेरी अवज्ञा भी करते हैं वे विचेतसः=ज्ञानहीन हैं और उनके आशा कर्म तथा ज्ञान सभ निष्फल हैं क्यों कि उनका ज्ञान यथार्थ नहीं भ्रमस्वरूप है इससे मोघ है, मुझको परमेश्वर जानकर कर्मकरनेसे जितना फल प्राप्त होताहै उतना उनको प्राप्त नहीं होता इससे उनके कर्म

भी मोघ हैं तथा उनके मनोरथ भी पूर्णरीतिसे फलते नहीं इससे आशा भी निष्फल है श्रीयामुनाचार्यस्वामीने भी कहाहै—

"त्वां शीलरूपचरितैः परमप्रकृष्टसत्त्वेन सात्त्विकतया प्रबलैश्च शास्त्रैः ।
प्रख्यातदैवपरमार्थविदां मतैश्च नैवासुरप्रकृतयः प्रभवन्ति बोद्धुम् ॥ " इति

अर्थात् हे भगवन् आपके स्वरूपको प्रतिपादन करनेवाले यद्यपि शास्त्रादि प्रमाण बहुतसे हैं तथापि असुरवासनावाले लोग आपको नहीं जानसकते । छांदोग्योपनिषत्में भी कहाहै कि देवताओंको और दैत्योंको परमात्माके जाननेकी इच्छा हुई सो उनमेंसे इंद्र और विरोचन ब्रह्माके पासगए बत्तीसवर्ष वहां ब्रह्मचर्यसे रहकर ब्रह्माजीसे ज्ञानकी बात पूछी ब्रह्माजीने कहा "तौ ह प्रजापतिरुवाच य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाच " अर्थात् जो तुमारे नेत्रमें दीखताहै तथा जो जलमें तुमारा प्रतिबिंब पडताहै वही आत्मपदार्थ है यह सुनकर दोनों चलेआए किं तु इंद्रको संतोष नहीं हुआ वह तो फिर ब्रह्माजीके पास गया और उसने परमात्मज्ञान संपादन किआ । विरोचन दैत्य तामस-प्रकृतिवाला था उसने नेत्रमें तथा जलमें प्रतिबिंबित होनेवाले शरीरको ही सार=आत्मा तथा परमात्मा समझलिआ । सो राजस तामस प्रकृतिवालेपुरुष भगवान्‌को पा नहीं सकते । एवं अद्वैतिओंने भी आत्माको ही परमात्मा समझलिआ । परं-मात्मा क्या पदार्थ है इसबातको यदि जानाहै तो थोडाबहुत वैष्णवाचार्योंने ही जानाहै क्यों कि भगवान् अनंत है उसका साकल्येन ज्ञान होना तो असंभवसा ही है कोई भी उस प्रभुको मोल खरीद सकता नहीं ॥ ११ ॥ १२ ॥

मू०—महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यऽनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

दोहा—ज्ञानी सात्त्विकवासना वासित इकचित होय ।
सदा भजे नितरूपको भूतमूलको मोय ॥ १३ ॥

टी०—जो महात्मा पुरुष दैवी=सात्त्विक वासनावाले हैं वे मेरेको सकल प्रपंचक कर्ता महेश्वर तथा अव्यय जानतेहैं और यह भी वे जानतेहैं कि मैंने निज करुणाके कारण लोकोपकारकेलिए अवतार धारण किआहै अतएव वे अनन्यमनसे मेरी उपा-सना करते हैं । श्रीयामुनाचार्यस्वामीने भी कहाहै—

"उल्लङ्घितत्रिविधसीमसमातिशायिसंभावनं तव परिव्रढिमस्वभावम् ।
मायाबलेन भवतापि निगूह्यमानं पश्यन्ति केचिदनिशं त्वदनन्यभावाः॥"

इति अर्थात् हे भगवन् आप अपनी योगमायासे अपने स्वरूपको ढकते=छिपाते भी हैं तो भी आपके अनन्य भक्त आपके स्वरूपका साक्षात्कार सदा करते रहते हैं ॥ १३ ॥

मू०-सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

दोहा-दास्यभावनायुक्त नर नाम उचारत मोर ।
अर्चादिक दृढ है करैं नमन सदा मम ठोर ॥ १४ ॥

टी०-उक्त महात्मा पुरुष सदा मेरे श्रीनारायण वासुदेव श्रीराम श्रीकृष्ण इत्यादि नामोंका कीर्तन करतेहैं दृढव्रत होकर सदा मेरी अर्चा करते हैं और मेरे चरणोंमें साष्टांग करतेहैं इत्यादिरूपसे मे मेरी सदा उपासना करतेहैं ॥ १४ ॥

मू०-ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

दोहा-ज्ञानयज्ञसो कोइ यति मम उपासना ठात ।
हौं ही जग, तिन हेतु अरु, इसविध ध्यान लगात ॥ १५ ॥

टी०-कोई महात्मा ज्ञानीपुरुष उक्त नामसंकीर्तनादिरूप उपासनाओंको भी करते हैं और ज्ञानयज्ञसे भी मेरी उपासना करते हैं इसी ज्ञानयज्ञका स्वरूप कहते हैं- एकत्वेनेति, एकत्वेन नाम इस कार्यरूप स्थूलप्रपंचको भी मेराही स्वरूप मानतेहैं और इसप्रपंचका कारण भी मुझे ही मानतेहैं ऐसी एक उपासना है । पृथक्त्वेन नाम नामरूपविभागयोग्य प्रपंचरूप कार्य मेरेको ही जानते हैं यह भी एक उपासना है यह एकत्वोपासनाका एक अंश है । बहुधा नाम अव्यक्तमहदहंकारादि समष्टि और देवमनुष्यादि व्यष्टि भी मुझे ही मानतेहैं । बहुधात्वेन उपासनाका और एकत्वेन उपासनाका यही भेद है कि एकत्वेन उपासना सामान्याकारा है कि कार्य तथा कारण श्रीनारायणको ही जानना । और बहुधात्वेन उपासना विशेषाकारा है कि अव्यक्तादि समष्टिविशेषरूप तथा देवमनुष्यादि व्यष्टिविशेषरूप श्रीनारायणको जानना । तथा विश्वतोमुखं नाम समस्त स्थूल तथा सूक्ष्म चित् अचित् पदार्थको भगवान्का ही शरीर समझना भगवान्को उनसभका आत्मा अंतर्यामी समझना । कहा भी है "यस्य पृथिवी शरीरम्, यस्याव्यक्तं शरीरम्, यस्यात्मा शरीरम्" इत्यादि । यही ज्ञानयज्ञका स्वरूपहै उक्त ज्ञानका सदा अनुसंधान करना ही ज्ञानयज्ञ कहाताहै । एकत्वादिपदार्थोंकी जो कुछ यहां मैंने व्याख्या लिखीहै यह श्रीवरवमुनिस्वामिकृत व्याख्याके अभिप्रायसे लिखीहै विषय बडासूक्ष्म विचारणीय है । ॥ १५ ॥

मू०-अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्‌ साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

दोहा--यज्ञ क्रतु स्वाहा स्वधा मंत्र हवि घृत और ।
होम अग्नि अरु हौं हि हौं विश्वरूप इह मोर ॥ १६ ॥
मातपिता धाता मोहि दादा सबको जान ।
साम यजू ऋक् प्रणव हौं पावन ज्ञेय निदान ॥ १७ ॥

टी०—भगवान् अपने उक्त विश्वरूपको कहतेहैं—अहमिति, हे पार्थ मैं ही क्रतु=ज्योतिष्टोमादियाग हूं,मैं ही यज्ञ = आतिथिपूजनादि पंचमहायज्ञ हूं,मैंही स्वधा=पितृहवि हूं, मैं ही औषधपुरोडाशादिप्रकृतिभूत यवव्रीह्यादिक हूं, मैंही मंत्र=याज्यापुरोनुवाक्यादिरूपहूं मैं ही आज्य=घृतरूप हवि हूं, मैं ही अग्नि=आहवनीयादिरूप अग्नि हूं,तथा हुत=होम भी मैं ही हूं। एवं क्रतुयज्ञादिकनको भगवान्‌का ही रूप समझना यह एक ज्ञानयज्ञ ही है एवं ही और पदार्थोंमें भी समझना। इसीको भगवान्‌ने प्रथमश्लोकमें " विश्वतो मुखम् " यह कहाहै ॥ १६ ॥

और इस समग्रप्रपंचका माता पिता पितामह तथा धाता=उत्पादन कर्ता मैं ही हूं । और वेदवेदांतोंमें वेद्य=जाननेयोग्य मैं ही हूं मैं ही सबसे पवित्र=पावन (अपवित्रको पवित्र करनेवाला अशुद्धको शुद्धकरनेवाला)हूं। ओंकार भी मैं ही हूं कहा भी है—"तस्य वाचकः प्रणवः "इति ओंकार भगवान्‌का वाचक=नाम है अतएव भगवान्‌का ही स्वरूप है। ऋग्वेद सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूं। कहा भी है—"ऋचः सामानि जज्ञिरे तस्माद्‌ यजुस्तस्मादजायत" इति। ये २ परमेश्वरसे ही प्रकटहोते हैं इससे परमेश्वरका ही रूप हैं। पादव्यवस्थावाले वेदका नाम ऋग्वेद है। गानविशेषव्यवस्थावाले वेदका नाम सामवेदहै। पादव्यवस्थारहितवेदका नाम यजुर्वेद है। इसमें कुछ संदेह नहीं कि इसप्रपंचका माता पिता श्रीनारायण ही है। कहा भी है—" त्वं चैव माता भूतानां देवि देवो हरिः पिता" इति।

श्रीयामुनाचार्यस्वामीने भी कहाहै—

" पिता त्वं माता त्वं दयिततनयस्त्वं प्रियसुहृत्
त्वमेव त्वं मित्रं गुरुरपि गतिश्चाऽसि जगताम् ।
त्वदीयस्त्वद्भृत्यस्तव परिजनस्त्वद्गतिरहं
प्रपन्नश्चैवं सत्यहमपि तवैवास्मि हि भरः ॥ " इति ।

अर्थात् हे भगवन् माता पिता आदि उपकार करनेवाले आप ही हैं मैं आपका ही दास भृत्य हूं आपके ही आश्रयपर हूं आप ही पर मुझे सब भरोसा है कि संसारसे पार करेंगे कहा भी है—"व्यास भरोसे कुंवरके सोवत पांव पसार " इति ॥ १७ ॥

मू०—गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

दोहा—गति, भर्ता, साक्षी, प्रभू, शरण, सुहृदह, निवान, ।
प्रभवप्रलयको स्थान हौं, वास अनाशि निदान ॥ १८ ॥
जल सोखूं बरसूं तथा तपौं तेज ह्व हौं हि ।
मृत्यु सुधा अरु सत् असत् मैं हू सभ जग जोंहि ॥ १९ ॥

टी०—(गम्यते इति गतिः) प्राप्तिस्थान जो पृथिवी किं वा स्वर्गादि हैं वे मैं ही हूं भर्ता=धारणकरनेवाला,प्रभु=शासन करनेवाला, साक्षी=साक्षात् देखनेवाला, निवास=निवासस्थान, शरण=इष्टदेनेयोग्य अनिष्टनिवारण योग्य आश्रय, सुहृत्=हितचाहनेवाला, प्रभवस्थान=उत्पत्तिस्थान तथा प्रलयस्थान, निधान—उत्पाद्य तथा उपसंहार्य (निधीयते इति निधानम्) अव्ययबीज=आदि कारण सभका मैं ही हूं ।

तथा सूर्यादि रूपसे मैं ही तप रहाहूं, जलको मैं ही मेघरूपसे पीता तथा बरसताहूं। अमृत=जीवनका साधन, मृत्यु मरणका साधन, मैं ही हूं । और तो क्या कहांतक कहूं जो कुछ सत् तथा असत् पदार्थ है वह सभ मैं ही हूं अर्थात् सभ मेरा ही स्वरूप है ॥ १८ ॥ १९ ॥

मू०—त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

दोहा—पूर्ववेदनिष्णात हो स्वर्गहि चाहत जोय ।
सोमपानकर यज्ञमें स्वर्ग जात नर सोय ॥ २० ॥

स्वर्गविषयको भोग वे मृत्युलोकमें आत ।
विषयभोगमति लोग यों जन्म मरण नित पात ॥ २१ ॥

टी०–ज्ञानी महात्मा पुरुषोंकी वात (चरित्र) कहकर उनीका विशेष चारित्र कहनेके लिए विषयभोगेच्छावाले अज्ञपुरुषोंका थोडासा चरित्र कहतेहैं-त्रैविद्येति, जो वेदके पूर्व=कर्मकांडमें ही अनुराग रखनेवाले तथा यज्ञमें सोमपान करनेवाले पापोंसे रहित पुरुष ज्योतिष्टोमादियागोंसे मेरा आराधन करके मुझसे स्वर्गको चाहतेहैं वे लोग पुण्य=दुःखरहित स्वर्गलोकको प्राप्त होकर दिव्यविषयोंका भोग करते हैं ॥

तदनंतर अपने पुण्यानुसार स्वर्गसुखको भोगकर वे पुरुष पुण्यके क्षय होजानेसे फिर इसी मृत्युलोकको प्राप्त होतेहैं । एवं रीतिसे कर्मकांडमें ही अनुराग रखनेवाले तथा विषयभोगकी इच्छावाले पुरुष सदा जन्म मरणको प्राप्त होतेरहते हैं। श्रुतिने भी कहा है–"जायस्व म्रियस्वेति तृतीयं स्थानम्" । वस्तुगत्या देखाजाय तो स्वर्गकी अपेक्षा नरकही अच्छाहै क्यों कि स्वर्गमें पुण्यका क्षय होताहै और नरकमें तो पापका क्षय होताहै२०॥२१॥

मू०–अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

दोहा–चित अनन्यसो मोहि नर नित्य उपासत जेह ।
जा वैकुंठ न लौटते करू हौं तिनहित एह ॥ २२ ॥

टी०–अब फिर भगवदुपासनाका फल कहते हैं जो देवोपासना और भगवदुपासनाका भेद प्रतीत होजाय–अनन्येति, अनन्य=जिनको मेरे विना और किसी भी पदार्थकी अपेक्षा नहीं ऐसे पुरुष जो मेरी उपासना करते हैं मैं उनके योगक्षेमका निर्वाह करताहूं । अप्राप्तपदार्थकी प्राप्तिका नाम योग है प्राप्तपदार्थकी रक्षा (परिपालन) का नाम क्षेम है । सो हे पार्थ मैं अपने उपासकोंको अप्राप्त परमधामको देताहूं और फिर वे कभी परधामसे गिरते नहीं सो उनको प्राप्त परमधामकी रक्षा (क्षेम) करताहूं। कहा भी है–

'न वासुदेवभक्तानामभयं विद्यते क्वचित् ।
जन्ममृत्युजराव्याधिभयं नैवोपजायते ॥' इति ॥ २२ ॥

मू०–येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

दोहा–अन्यदेवपूजा करैं श्रद्धाकर नर जोय ।
वे भी मोहे पूजते किंतु हीन विधि होय ॥ २३ ॥

टी०-हे पार्थ जो इंद्ररुद्रादिदेवताओंके भक्त इंद्रादिकनको उद्देश्य करके श्रद्धापूर्वक यज्ञ करतेहैं वे भी वस्तुगत्या मेरा ही पूजन करतेहैं क्यों कि इंद्रादिक देवता सभी मेरे शरीरभूत हैं श्रुति भी कहतीहै "यस्य पृथिवी शरीरम्, यस्य वायुः शरीरम्, यस्यादित्यः शरीरम्, यस्य चन्द्रतारकं शरीरम्, यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्" इत्यादि। श्रीभाष्यमें भी लिखाहै कि शब्द मात्र परमात्मापर्यन्तके वाचक हैं सो इन्द्ररुद्रादिशब्द भी उनके अंतर्यामी परमात्मातकके वाचक हैं। किं तु हे पार्थ उक्त पुरुष जो यागादिक करतेहैं वह अविधिसे करतेहैं विधिपूर्वक नहीं करते। तथा राजकर राजाका पदार्थ है किं तु अमात्यको देनेलगे उसे राजाका न समझकर अमात्यको ही राजा समझकर उस करको अमात्यका समझना यही अविधि=अशुद्धि है। उसी करको राजाकासमझकर अमात्यको राजाका नौकर समझकर अमात्यको देनेसे अशुद्धि नहीं कहाती एवं यज्ञादिकनका उद्देश्य श्रीनारायण ही है उसे उद्देश्य न समझकर इंद्रादिको उद्देश्य समझना भी अशुद्धिही है ॥ २३ ॥

मू०-अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥

दोहा-सभ यागनको मैं हि हौ भोक्ता अरु प्रभु तात।
मूढ न जानत मोहि प्रभु तातै पुनि इत आत ॥ २४ ॥

टी०-मैं ही सभ यज्ञोंका भोक्ता (उद्देश्य) तथा प्रभु हूं। मूढ पुरुष मुझे यज्ञोंका भोक्ता तथा प्रभु न जानकर इंद्रादिकनको ही भोक्ता तथा प्रभु जानते हैं इससे वे स्वर्गमें जाकर फिर मृत्युलोकमें ही आजातेहैं ॥ जो पुरुष श्रीनाराणको ही भोक्ता तथा प्रभु जानते हैं वे तो श्रीवैकुंठमें पहुंचते हैं अतएव फिर इस संसारको प्राप्त नहीं होते। श्रीयामुनाचार्यस्वामीने भी कहाहै=

'स्वाभाविकानवधिकाऽतिशयेशितृत्वं नारायण त्वयि न मृष्यति वैदिकः कः। ब्रह्मा शिवः शतमखः परमः स्वराडित्येतेपि यस्य महिमार्णवविप्रुषस्ते ॥ " इति अर्थात् हे नारायण ऐसा कौन वैदिक है जो आपको सकलप्रपंचका परमेश्वर न माने क्यों कि ब्रह्मादिक देवता भी आपकी महिमाके समुद्रके कणके हैं अर्थात् आपके दास हैं तथा आपकी विभूति हैं ॥ २४ ॥

मू०-यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोपि माम् ॥२५॥

दोहा—सुरढिंगजाते पूज सुर, पितरनढिंग तिन पूज।
प्रेतपूज तिनढिग तथा मोढिंग मोकू पूज ॥ २५ ॥

टी०—व्रतशब्द यहांपर संकल्पका बोधक है अन्यदेवोंके आराधनका संकल्प रखनेवाले पुरुष उनी देवताओंको प्राप्त होतेहैं। पितरोंके आराधन करनेका संकल्प रखनेवाले जीव पितरलोकको प्राप्त होते हैं। भूतप्रेतपिशाचादिकनके आराधनका संकल्प रखनेवाले जीव उनी भूतप्रेतपिशाचोंको प्राप्त होतेहैं। और मेरा आराधन करनेवाले महात्मा पुरुष मुझको ही, प्राप्त होतेहैं।

अभिप्राय यह है कि यद्यपि देवताराधनके संकल्पात्रसे कोई भी उस देवताको प्राप्त नहीं होसकता किं तु जो देवताराधनका संकल्प रक्खेगा उसे उस जन्ममें किं वा जन्मांतरमें देवताराधानकरना प्राप्तभी होगा तब वह देवताको प्राप्त होगा एवं पितरादि आराधनसंकल्पसे भी जानना। दूसरा जो पुरुष देवताराधनका संकल्प भी, रखता है वह भी भगवत्को प्राप्त नहीं होसकता इससे जिसे भगवत्प्राप्तिकी इच्छा हो उसे देवतांतरादिके आराधनका संकल्प भी नहीं करना चाहिए ॥ २५ ॥

मू०—पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

दोहा—पत्र पुष्प फल जल तथा देत प्रीतिसों जोग।
भक्त दई तिस वस्तुको भोगौ हौं सुखि होय ॥ २६ ॥

टी०—हे पार्थ जो अनन्यभक्तिसे मुझे फल पुष्प पत्र किं वा जल भी देताहै=निवेदन करताहै मैं उसको बडी प्रीतिसे स्वीकार करताहूं. किं वा मैं उसे ही भोगताहूं कहा भी है—

" याः क्रियाः संप्रयुक्ताः स्युरेकान्तगतबुद्धिभिः।
ताः सर्वाः शिरसा देवः प्रतिगृह्णाति वै स्वयम् ॥ " इति।

अर्थात् जो भक्तिसे भगवान्के आराधनादि किए जातेहैं उनको भगवान् शिरकेवल स्वयं स्वीकार करतेहैं ॥ और तो क्या तत्त्वदृष्टिसे परमेश्वर होकर बाह्यदृष्टिसे भी पुण्य क्षत्रियराजकुमार होकर भगवान्ने भीलनीके बेर बडे प्रेमसे खाए। " दुर्योधनके सब मेवा त्यागे साग विदुर घर खाए "।

भगवान् श्रीनारायण सकलजगत्का परमेश्वर आप्तकाम पुरुषोत्तम है उसे कोई भी पदार्थ अलभ्य नहीं इसीसे वह भक्तिपूर्वक दिये पदार्थको ही स्वीकार करताहै अन्यपदार्थकी ओर देखता भी नहीं। विदुरजीने धृतराष्ट्रसे कहाहै—

' अन्यत्कुम्भादपां पूर्णादन्यत् पादावसेचनात्,
अन्यत् कुशलसंप्रश्नान्नेषिष्यति जनार्दनः ॥ '

अर्थात् हे राजन् आप जो ऐश्वर्यसे श्रीकृष्णको लुब्ध करना चाहते हो यह आपका संकल्प व्यर्थ है क्यों कि अर्घ पाद्य तथा कुशलप्रश्नके विना आपके किसी भी पदार्थको ओर श्रीकृष्णचंद्रने ताकना भी नहीं ॥ २६ ॥

मू०-यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यासि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

दोहा-करै खाय अरु देत तू करै होम तप जोहि ।
मेरे कर अर्पण तिसे जान परम प्रभु मोहि ॥ २७ ॥
इसविध अर्पण योग जो तिसमावि लग नर तात ।
कर्मबंधसे छूटकर मोहि प्रापत होजात ॥ २८ ॥

टी०-हे पार्थ जो तू लौकिक कार्य्य करताहै तथा शरीरधारणकेलिए जो तू खाता पीता पहरताहै तथा जो वैदिक कर्म जप तप होम दानादिक करताहै उन सभ लौकिक वैदिक कर्मोको मेरे अर्पण करता रह अर्थात् उन कर्मोका करनेवाला तथा करण उद्देश्यपूज्य मुझे ही समझ कि सभ कर्मोका कर्ता श्रीनारायण है उनका भोक्ता तथा उनसे पूज्य भी श्रीनारायण है ॥

सभ कर्मोका कर्ता भोक्ता भगवान्को समझना यही संन्यासयोग है इस मदर्पणरूपी संन्यासयोगके अनुष्ठानसे तेरे कर्मोके बंधन टूट जायँगे तब उन कर्मबंधनोंसे मुक्तहुआ हुआ तू मेरेको प्राप्त होजायगा ॥ २७ ॥ २८ ॥

मू०-समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यऽहम् ॥ २९ ॥

दोहा-शरण आत मम जे हि नर तिनको हौं सम मानु ।
मोर भक्ति सेवा करें तिन प्रिय हौ हू जानु ॥ २९ ॥

टी०-हे पार्थ लोकमें लोकमर्यादासे कोई जीव उत्कृष्ट होताहै कोई निकृष्ट भी होता है उन उत्कृष्ट तथा निकृष्ट लोकोंमेंसे जो जीव मेरा आश्रय लेनेको मेरी शरणको प्राप्त होतेहैं मैं उन सभको तुल्यदृष्टिसे देखताहूं अर्थात् शरण आये निकृष्टकी उपेक्षा नहीं करता तथा शरण आए निकृष्टजीवकी अपेक्षा शरण आए उत्कृष्टजीवका अधिक मान भी नहीं करता किं तु शरण आए जीवमात्रको एकसमान समझकर उनका एकसमान मानादिक करताहूं । एवं मेरी शरण लेकर जो जीव भक्तिपूर्वक मेरी उपासना करतेहैं वे सदा मेरेमें ही रमण करतेहैं मुझे ही मान्य पूज्य समझते हैं तथा मैं भी उन्ही अपनेभक्तोंमें सदा रमण करताहूं उनको मान्य समझताहूं अन्यत्र भी भगवान्ने कहाहै-

" निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शिनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥ इति।

भगवान्की इस भक्तवत्सलताकी बहुतसी कथाएं लोकमें प्रसिद्ध हैं यथा श्रीजानकी महाराणीका परमापराध करके काक दौडा जब कहीं आश्रय प्राप्त न हुआ तो फिर लौटकर प्रभुके आगे आ गिरा उस परमापराधीकी भी भगवान्ने रक्षा की। ग्राह-ग्रस्त गजेंद्रने शरण लेकर चीखमारी तो प्रभु उसकी रक्षाकेलिए तुरत कूद पडे। कहा भी है--

" व्यथितः स निरुत्साहो गृहीतो घोरकर्मणा।
परमापद्मापन्नो मनसाऽचिन्तयद्धरिम् ॥
स तु नागवरः श्रीमान्नारायणपरायणः।
तमेव शरणं देवं गतः सर्वात्मना तदा ॥
आरुह्य गरुडं विष्णुराजगाम सुरोत्तमः।
सांनिध्यं कल्पयामास तस्मिन् सरसि लोकधृक् ॥
ग्राहग्रस्तं गजेन्द्रं च तं ग्राहं च जलाशयात्।
उज्जहाराप्रमेयात्मा तरसा मधुसूदनः ॥
जलस्थं दारयामास ग्राहं चक्रेण माधवः।
मोचयामास नागेन्द्रं पाशेभ्यः शरणागतम् ॥ " इत्यादि।

यहांपर मधुसूदनसरस्वतीजीने सामान्यतः जीवमात्रमें भगवान्की समता कहीहै सो यद्यपि भगवान् जीवमात्रमें ही समदृष्टि हैं जीवोंके जो सुख दुःखोंका भेद है वह उनके कर्मके कारणसे है कुछ भगवान् विषमदृष्टि नहीं है तथापि यहांपर प्रकरण भग-वद्भक्तोंका है इससे यही प्रतीत होताहै कि यहांपर शरणागत भक्तोंके लिए ही स्वसम-दृष्टिता प्रतिपादन करनेसे भगवान्का अभिप्राय है। तथा " तेषु चाप्यहम् " इसका जो चित्तवृत्तिमें प्रतिबिंबित होना अर्थ लिखाहै वह भी संगत नहीं क्यों कि जो भक्तिसे भगवान्की सेवा नहीं करते और योगमार्गसे ध्यानलगाते हैं उनकी चित्तवृत्तिमें भी भगवान् प्रतिबिंबित होते ही हैं तो यहां सेवाकरनेवालेका क्या विशेष हुआ इससे यही अर्थ ठीक है कि भगवान् भी अपने भक्तोंका मान करते हैं। कहा भी है—

" अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतंत्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यंतिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा ॥

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः ।
वशे कुर्वंति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ।
मदन्यं ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥ इत्यादि ॥

और वृत्तिमें पदार्थका प्रतिबिंबित होना यह भी अद्वैतवादकी कल्पनामात्र है और यह परस्पर विरोध भी है कि पदार्थको वृत्तिमें प्रतिबिंबित भी मानते हैं और पदार्थकार जो अंतःकरणका परिणाम है उसे ही वृत्ति भी मानते हैं । भगवान्‌का साक्षात्कार भी कुछ प्रतिबिंबरूप नहीं किं तु अत्यन्त गाढ स्मृतिरूप ही होताहै । यथा विषयी पुरुष परम कामसंतप्त होकर जो स्त्रीका स्मरण करताहै तो स्मृतिके गाढ (अनवच्छिन्न) होनेसे वह स्त्री संमुख प्राप्त सी प्रतीत होने लगती है एवं अनन्य भक्त भी जब भगवत्‌का स्मरण करते हैं सो स्मृतिकी गाढतासे भगवान् आगे खडे किं वा बैठेसे प्रतीत होने लगते हैं यही भगवान्‌का साक्षात्कार पदार्थ है ॥ २९ ॥

मू०-अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

दोहा-दुराचारहू मोहि जो सेवत इकचित होउ ।
तिमहू साधू जाननो लग्यौ भले मग सोउ ॥ ३० ॥
मम सेवाते शीघ्र ही हो धर्मात्मा सोय ।
जान सखे मम भक्तको नाश न कबहू होय ॥ ३१ ॥

टी०-हे पार्थ यदि कोई पुरुष दुराचार होकर भी अनन्य मनसे मेरी उपासनाको करताहै तो उसे भी साधु ही जानना क्यों कि वह भी अच्छे ही मार्गमें लगाहै । और वह पुरुष शीघ्र ही धर्मात्मा होजाताहै । पापोंसे निवृत्त होकर धर्माचरणमें लगजाताहै यह मेरी उपासनाका प्रभाव है। भगवत्प्राप्तिमें प्रतिबंधक जो पाप तन्निवृत्तिरूप शांतिको प्राप्त होजाताहै । हे पार्थ तू भी यह प्रतिज्ञाकर :किं वा प्रतिज्ञापूर्वक जान कि मेरे भक्तका नाश नहीं होता किं तु मेरी भक्तिके प्रभावसे पापोंसे निवृत्त होकर धर्मात्मा होकर फिर और भी दृढभक्ति करके मुझे प्राप्त होजाताहै।यहां पर यह अभिप्राय नही निकालना कि भगवद्भक्त दुराचारी भी संसारसे तर जातेहैं इससे धर्मकी कुछ अपेक्षा नहा । दुराचारी भक्त कभी संसारसे पार नहीं होसकते । कहा भी है-

" नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ इति ।

अर्थात् जो पुरुष पापोंसे निवृत्त नहीं शांत नहीं समाधिमान् नहीं तथा शांतचित्त नहीं वह ज्ञानमात्रसे भगवान्‌को प्राप्त नहीं होसकता। हां जो पुरुष केवलपापमेंही रत है उनकी अपेक्षा वह पुरुष अच्छाही है जो पापभी करताहै और भगदुपासनाभी करताहै । और वह पापी पुरुषभी उपासनाके प्रभावसे किसी न किसी जन्ममें क्षीणपाप होकर अवश्य संसारको तरजायगा और भगवद्भक्त दुराचारी होभी नहीं सकता॥३०॥३१॥

मू०--मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येपिस्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिम् ॥ ३२ ॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

दोहा--शूद्र वैश्य नारी तथा पापजाति हू तात ।
शरण लेय मेरी सभी उत्तम गतिको पात ॥ ३२ ॥
कहा कहौ ब्राह्मण तथा क्षत्रियकी गति वात ।
दुखमय इस भवमें मम कर उपासना तात ॥ ३३ ॥

टी०-हे पार्थ मेरी शरण आकर सर्वात्मना मेरा आश्रय लेकर निकृष्ट जाति जो स्त्री शूद्र तथा वैश्य हैं वे भी उत्तम गतिको प्राप्त होतेहैं फिर धर्मात्मा तथा भक्त ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी गतिकी क्या बात कहूं। अर्थात् मेरी शरण आकर सभी लोग संसारको तर जातेहैं । तू इस दुःखमय विनाशी मृत्युलोकको प्राप्तहुआहै सो मेरी उपासना कर जो तू संसारसागरको तरजाए ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

मू०--मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥३४॥

दोहा--मोमें ला चित प्रीतिको मम उपासना ठान ।
इसविध मत्पर होय तू पइहो मोहि सुजान ॥ ३४ ॥

टी०-हे पार्थ मेरेमें चित्तको लगा मेरा भक्त बन मेरी ही उपासना=अर्चादिक कर तथा मेरेको ही साष्टांग प्रणाम कर (यही मेरी उक्त भक्तिका स्वरूप है) मेरा आश्रय लेकर उक्तरीतिके अनुष्ठानसे मेरेको ही प्राप्त होजायगा ।

तथा च लौकिकवैदिक कर्मोंका मुझे ही कर्ता भोक्ता समझ मेरी प्रेरणासे ही उनको करताहुआ सदा मेरे कीर्तन पूजन नमस्कारादिकोंको करताहुआ मेरे गुणोंका अनुसंधान करताहुआ प्रीतिसे उक्त उपासनाका अनुष्ठानकरके मेरेको ही प्राप्त होगा । यही अध्यायका सार है ॥ ३४ ॥

इति पंजाबीपंडितसुदर्शनाचार्यकृतटीकासहिता श्रीभगवद्गीताका नवमाध्याय समाप्त हुआ ॥९॥

॥ श्रीः ॥

अथ दशमोऽध्याय ।

श्रीभगवान् उवाच—

मू०—भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

दोहा—और सुनौं मम वचन अब भक्ति बढै मन जहू ।
तव हित कारन ही कहौं देख रुची तव नाहु ॥ १ ॥

टी०—भक्तियोग और उसके भेदोंको भगवान् कहचुके हैं किंतु गुण ज्ञान तथा महिमाज्ञानके विना भक्ति वढती नहीं इससे अब भगवान् अपने माहात्म्यको कुछ कहना आरंभ करतेहैं जो अर्जुनकी भक्ति वढे । भूय एवेति- हे पार्थ मैं तेरे हितकेलिए और भी गूढविषय तेरेको सुनाताहूं तू सावधान होकर सुन क्यों कि तू मेरे वचन सुनकर प्रसन्न होरहाहै इससे मैं सुनाताहूं ॥ १ ॥

मू०—न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

दोहा—ऋषि अरु देवहु नाहिं मम जानत तात प्रभाव ।
तिन सबको हौं आदि हौं अपरंपार प्रभाव (स्वरूप) ॥ २ ॥

टी०—हे पार्थ मेरे प्रभव=प्रभावको सर्वात्मना देवता और ऋषिलोग भी नहीं जानते क्यों कि देवताओंका तथा ऋषिओंका भी सब प्रकारसे मैं ही आदि=कारण हूं वे मुझसे ही उत्पन्न होतेहैं तथा उनके ज्ञानऐश्वर्य शक्त्यादिक भी मेरे ही दिएहुए हैं अतएव परिमित हैं इससे वे भी मुझे सर्वात्मना जान नहीं सकते फिर सामान्य मनुष्यकी तो कौन वात । यहांपर प्रभवशब्दका अर्थ प्रभाव है उत्पत्ति नहीं क्यों कि भगवान् अनादि हैं अनादि पदार्थकी उत्पत्ति होही नहीं सकती, उक्तअर्थको श्रुति भी कहतीहै-" यं पृथिवी न वेद यमादित्यो न वेद यं वायुर्न वेद यमग्निर्न वेद" "तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं धर्मात्मा होकर फिर और ॰" एको वहूनां यो विदधाति कामान्" इत्यादि ॥ २ ॥

नहीं निकालना कि भगवममनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
अपेक्षा नहा । दुराचारीः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

दोहा—मोहि जानत जो जगप्रभू अज औ अनादी तात।
मोहरहित सो ज्ञाननिधि पावइ तिस मिटजात ॥ ३ ॥

टी०—जो पुरुष मेरेको, अज = जन्मरहित, अनादि = कालसे अपरिच्छिन्न तथा सर्वप्रपंचका प्रभु जानताहै वह पुरुष मनुष्योंमें असंमूढ है = मूढ नहीं क्यों कि मेरेको अचेतन बद्धजीव तथा मुक्तजीवोंकेतुल्य समझना ही संमोह है जो ऐसा नहीं समझता किं तु सभसे उत्तम तथा विलक्षण समझताहै वह असंमूढ है अतएव वह सभ पापोंसे रहित होजाताहै। भगवान् अज हैं और सांसारिक जडवर्ग तो उत्पन्न होताहै तथा प्रकृतिसंबद्धजीव भी भगवान्से ही प्रकट होतेहैं तथा वारंवार जन्म भी लेते हैं इससे भगवान् इनसे विलक्षण हैं यह अजशब्दका तात्पर्य है। मुक्तपुरुष भी इससमय अजही हैं क्यों कि वेभी अब जन्म नहीं लेते इससे कहा अनादि इति। मुक्तपुरुष भी प्रथम तो जन्मलेतेथे ही वे अनादिकालसे अज नहीं है इससे भगवान् मुक्तजीवोंसे भी विलक्षण हैं यहांपर श्रीरामानुजस्वामीने लिखाहै—"मुक्तात्मनो ह्यजत्वमादिवत् तस्य हेयसंबंधस्य पूर्ववृत्तत्वात् इति" ॥ भगवान् सभसे विलक्षण हैं अतएव उपास्यभी वही हैं ॥ ३ ॥

मू०—बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाऽभयमेवच ॥ ४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

दोहा—बुद्धि ज्ञान शम दम क्षमा सत्य तथा भ्रमह्रास।
सुख दुख भय भयहानि अरु मन उद्वेग हुलास ॥ ४ ॥
अहिंसा तुष्टी दान यश तप अपयश समदृष्टि।
इन धर्मोंकी जीवके मम अधीन है सृष्टि ॥ ५ ॥

टी०—बुद्धि = मनकी विवेचनसामर्थ्य, ज्ञान = जडचेतनादिवस्तुस्वरूपोंका निश्चय, असंमोह = भ्रमनिवृत्ति, क्षमा = अपराधादिसे भी मनका विकृत न होना, सत्य = यथार्थसंभाषणमें मनकी प्रवृत्ति, दम = इंद्रियनिग्रह, शम = मनका निग्रह, सुख = अनुकूलानुभव, दुःख = प्रतिकूलानुभव, भव = अनुकूलानुभवजन्य मनका उल्लास, अभव = मनकी खिन्नता, भय = आगामी दुःखकी चिंता, अभय = आगामी दुःखकी चिंताकी निवृत्ति, । अहिंसा = किसीको दुःख न देना, समता = शत्रु मित्र सभको तुल्य जानना, तुष्टि = संतोष, तप = भोगपरित्याग करके शास्त्रीयरीतिसे शरीरको क्लेश देना, दान = परको देना, यश = गुणोंसे कीर्ति, अपयश = अकीर्ति = निंदा, दान यश अपयश इत्यादि शब्दोंसे भी दानादिके अनुकूल मनोवृत्ति ही यहां पर जाननी क्यों कि मनोवृत्तिका ही अवांतर प्रकरण है। हे पार्थ प्रवृत्ति किं वा

निवृति हेतुभूत ये जो जीवोंके बुद्ध्यादिकः भाव हैं ये भी मुझसे ही होतेहैं अर्थात् मेरे संकल्पानुसार ही उत्पन्न होतेहैं ॥ ४ ॥ ५ ॥

मू०–महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता, येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥
एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

दोहा–ब्रह्माके मानस सुत सप्त ऋषी मनु चार ।
जिनकी संतति लोक तिन मम अनुकूल विहार ॥ ६ ॥
मोहि उत्तमगुणयुक्तअरु मम विभूतिके तात ।
तत्त्वरूपसों जानतो योग अवस सो पात ॥ ७ ॥

टी०–मरीचि अंगिरा अत्रि पुलस्त्य पुलह क्रतु और वसिष्ठ ये सातों महाऋषी तथा चारों मनु, किं वा प्रथम होनेवाले चार सनकादिक और चौदह मनु, यह सभ लोक जिनकी प्रजा = संतान है और मानसा जाता = वे ब्रह्माके मनसे = संकल्पसे उत्पन्न हुएथे कुछ आजकलहके जीवोंकी तरह गर्भसे उत्पन्न नहीं हुए अतएव उनका ज्ञान वडा निर्मलथा वे भी मद्भावा = मेरे संकल्पानुरूप ही उत्पन्न हुए और उत्पन्न होकर भी मम संकल्पानुसार ही आचरण करते हैं । कहा भी है–

" भृगुं मरीचिमत्रिं च पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
वसिष्ठं च महातेजा सोऽसृजन्मनसा सुतान् ॥ " इति

हे पार्थ जो मेरी इस विभूतिको अर्थात् समग्रप्रपंचकी उत्पत्ति स्थिति तथा लयको मेरे अधीन तत्त्वसे जानताहै तथा योगं = मेरे हेयप्रत्यनीककल्याणगुणसंयोगको जानताहै अर्थात् जो मुझे अनंतदिव्यगुणोंका सागर तत्त्वसे जानताहै उस पुरुषको दृढ भक्तियोग प्राप्त होताहै इसमें कुछ संदेह नहीं । गुणोंसे ही तो भक्ति (प्रीति) होती है । कहाभी है–

" ब्रह्मा दक्षादयः कालस्तथैवाखिलजन्तवः ।
विभूतयो हरेरेता जगतः सृष्टिहेतवः ॥
विष्णुर्मन्वादयः कालः सर्वभूतानि च द्विज ।
स्थितेर्निमित्तभूतस्य विष्णोरेता विभूतयः ॥
रुद्रः कालोऽन्तकाद्याश्च समस्ताश्चैव जन्तवः ।
चतुर्धा प्रलये ह्येता जनार्दनविभूतयः ॥ " इति॥

तथा–" संपूर्णषड्गुणस्तेषु वासुदेवो जगत्पतिः । "
" पूर्णास्तिमितषाड्गुण्यो निस्तरङ्गार्णवोपमः ।

षण्णां युगपदुन्मेषाद् गुणानां स्वप्रचोदितात् ।
अनन्त एव भगवान् वासुदेवः सनातनः ॥ " इति

श्रीकूरेशस्वामीने भी कहा है–

" गुणैः षड्भिस्त्वेतैः प्रथमतरमूर्तिस्तव बभौ
ततस्तिस्रस्तेषां त्रियुग युगलैर्हि त्रिभिरभूः ।
व्यवस्था या चैषा ननु वरद साऽऽविष्कृतिवशाद्
भवान् सर्वत्रैव त्वऽगणितमहामङ्गलगुणः ॥" इति ।

अर्थात् हे भगवन् आपकी प्रथम श्रीवासुदेवमूर्तिमें तो ज्ञानशक्ति बल ऐश्वर्य वीर्य तथा तेज ये छै ही गुण हैं उस आपकी वासुदेवमूर्तिसे संकर्षण प्रद्युम्न और अनि, रुद्ध ये तीन आपकी मूर्ति प्रकट हुईं उनमें दो दो गुण हैं यथा–संकर्षणमूर्तिमें ज्ञान और वल, प्रद्युम्नमूर्तिमें ऐश्वर्य और वीर्य, अनिरुद्धमूर्तिमें शक्ति और तेज, यह जो व्यवस्था है सो भी गुणोंके आविष्कारके कारणसे है अर्थात् उस उस मूर्तिसे आप उन उन ही गुणोंको प्रकट करते हैं इसहेतु ही यह उक्त गुणसंख्याकी व्यवस्था है वस्तुगत्या देखाजाय तो आपके सभी रूप असंख्येय कल्याणदिव्यगुणोंके साग हैं अन्यत्र भी कहाहै–

" ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यऽशेषतः ।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः । "
" तत्र ज्ञानवलद्वन्द्वाद्रूपं संकर्षणं हरेः ॥
ऐश्वर्यवीर्यसंभेदाद्रूपं प्रद्युम्नमुच्यते ॥
शक्तितेजःसमुत्कर्षादनिरुद्धतनुर्हरिः ॥
संपूर्णषड्गुणस्तेषु वासुदेवो जगत्पतिः॥" इति ।

तथा– " प्रकृष्टं विज्ञानं वलमतुलमैश्वर्यमखिलं
विमर्यादं वीर्यं वरद परमा शक्तिरपि च ।
परं तेजश्चेति प्रवरगुणषट्कं प्रथमजं
गुणानां निस्सीम्नां गणनविगुणानां प्रसवभूः ॥ " इति ॥

निर्विशेष ब्रह्म माननेवालोंको यहांपर ध्यान देनाचाहिए कि भगवान् तत्त्वोपदेश देते- हुए अपनेमें गुणयोगको कहतेहैं यदि भगवान् परब्रह्म वस्तुगत्या निर्विशेष होता तो भगवान् यहां गुणयोगको न कहकर निर्विशेषताको ही कहते । और यहांपर मधुसूदन- जीने इस तत्वज्ञानका फल ऐश्वर्यादि लिखाहै वह प्रकरणविरुद्ध है क्योंकि यहां प्रकरण भक्तियोगका है इससे इस तत्त्व ज्ञानका फल भक्तियोग ही है ॥ ६ ॥ ७ ॥

मू०—अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

दोहा—मैं सबको कारण तथा मझसे सब प्रकटात ।
जान इहैं, मोहि प्रीति सों सेवत बुध दिनरात ॥ ८ ॥

टी०—मैं ही सबकी उत्पत्तिका स्थान हूं तथा सभीपदार्थ मेरेसे ही प्रकट होतेहैं इति मत्वा=उक्तरूपसे मेरेको ही सबका कारण तथा उत्पादनादि सामर्थ्यादि दिव्य-गुणोंका सागर समझकर ज्ञानी लोग प्रेमसे मेरी उपासना करतेहैं ॥ ८ ॥

मू०—मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

दोहा—मम अधीन जीवन मन वे कर, कहत कहात ।
मेरे गुग गाथा, तिनहि (तिनमें ही) करत रमण सुखपात ॥ ९ ॥

टी०—पूर्वोक्त मेरे उपासक भक्त अपने चित्तको मेरेमें लगादेते हैं तथा मद्गतप्राणाः =मेरे अनुसंधान बिना वे एकक्षण भी प्राणोंको धारण नहीं करसकते तथा मेरे गुणोंको और मेरी कथा=चरित्रोंको परस्पर कहतेहैं और सुनतेहैं उसीसे तुष्ट रहतेहैं और सदा मेरे गुण और चरित्रोंमें ही रमण करतेहैं अर्थात् सदा उन्हीका अनुसंधान करते हैं ॥ भगवान्‌के भक्त भगवान् विना जी नहीं सकते गीतावलीरामायणमें श्रीभरतजीने भी कहाहै "तुलसी बीते अवधि प्रथमदिन जौ रघुवीर न ऐहैं । तौ प्रभुचरणसरोजशपथ पुनि जीवत जनहि न पैहैं" । और भी बहुतसा कहाहै—

" शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः ।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ॥
स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ॥
पश्यन्ति ते मे रुचिरावतंसप्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि ।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वचः स्पृहणीयं वदन्ति ॥ " इत्यादि ।

श्रीतुलसीदासजीने भी भक्तचरित्रको बहुतसा कहाहै—

" जुगुति वेधि पुनि पो हियहि रामचरितवर ताग ।
पहिरैहि सज्जन विमल उर शोभा अति अनुराग ॥
सारद शेष महेश विधि आगम निगम पुरान ।
नेति नेति कहि जासु गुन कराहिं निरन्तर गान ॥
रामकथा मन्दाकिनी चित्रकूट चित चारु ।
तुलसी सुभग सनेह वन सिय रघुवीर विहारु ॥

रामचरित राकेशकर सरिस सुखद सबकाहु ।
सज्जन कुमुद चकोर चित हित विशेष बडलाहु ॥
रामकथा शशिकिरन समाना । संत चकोर करहिं जेहिं पाना ॥"
इत्यादि ॥ ९ ॥

मू०-तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

दोहा-इसविध रुचिसों सदा जे मोहि सेवत तात ।
देउं ज्ञान तिनको तथा जासों वे मोय पात ॥ १० ॥
तिन भक्तनके हितलियें हृदयवस्यौ हौं लाल ।
दूर करौ मति (बुद्धि) दीपसों विषयप्रीततमजाल ॥ ११ ॥

टी०-जो पुरुष भक्तिसे सदा मेरी उपासना करतेहैं उनको मैं वह सात्त्विक तथा स्वच्छ बुद्धि देताहूं जिससे वे मुझे प्राप्त होते हैं अर्थात् और भी दृढतर मेरी उपासना करने लगते हैं ॥

मैं हृदयकमलमें वास करताहुआ उन्हीके हितकेलिए ज्ञानरूपी दीपकसे अज्ञानजन्य विषयप्रीतिरूप उनके तम=अंधकारको नष्ट करदेताहूं । तब उनका चित्त मेरेमें ही अनन्य होताहै ॥ १० ॥

अर्जुन उवाच-

मू०-परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

दोहा-तेज परम विभु ब्रह्म अज परम पवित्र अनन्त ।
दिव्य देव अनादि नर तुमको कहते संत ॥ १२ ॥
असित व्यास देवल तथा नारद देवमुनीश ।
इसविध तुमको जानते औरहु कहैं ऋषीश ॥ १३ ॥

टी०-असित देवल व्यास इत्यादि सब ऋषि तथा देवर्षि नारद ये सब हे भगवन् आपको परब्रह्म परज्योति परमपवित्र=शुद्ध दिव्य तथा अनादि पुरुष अज विभु तथा

आदिदेव कहते हैं तथा आप स्वयं भी कह रहे हैं इससे आपके परब्रह्म होनेमें कुछ संदेह नहीं ॥ श्रुति भी कहती है-

"नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः ।
नारायणः परं ज्योतिरात्मा नारायणः परः ॥ "

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म" "अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु इदं वा तद्यादिदमास्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिः" "तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्" इति । स्मृति यथा—

" एष नारायणः श्रीमान् क्षीरार्णवनिकेतनः ।
नागपर्यङ्कमुत्सृज्य ह्यागतो मथुरां पुरीम् ॥
पुण्या द्वारवती तत्र यत्रास्ते मधुसूदनः ।
साक्षाद्देवः पुराणोसौ स हि धर्मः सनातनः ॥
ये च वेदविदो विप्रा ये चाध्यात्मविदो जनाः ।
ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनः ॥
पवित्राणां हि गोविन्दः पवित्रं परमुच्यते ।
पुण्यानामपि पुण्योसौ मङ्गलानां च मङ्गलम् ॥
त्रैलोक्यं पुण्डरीकाक्षो देवदेवः सनातनः ।
आस्ते हरिरचिन्त्यात्मा तत्रैव मधुसूदनः ॥
यत्र नारायणो देवः परमात्मा सनातनः ।
तत्र कृत्स्नं जगत्पार्थ तीर्थान्यायतनानि च ॥
आदिदेवो महायोगी यत्रास्ते मधुसूदनः ।
पुण्यानापि तत्पुण्यं माभूत्ते संशयोत्र वै ॥
कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाऽप्ययः ॥
कृष्णस्य हि कृते भूतमिदं विश्वं चराचरम् ॥ " इत्यादि ॥१२॥१३॥

मू०--सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥
स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

दोहा—हौं जानौं सब सत्य ही वचन कहैं तुम जोय ।
नर देव न जानते तव प्रभावको कोय ॥ १४ ॥

भूतभावन जगपते देवदेव भूतेश ।
तुम हीं अपने आपको जानौ आप महेश ॥ १५ ॥

टी०—हे भगवन् केशव जो आप कहरहे हैं मैं उस सबको सत्य मानताहूं कि परिमितज्ञानवाले दानव ऋषि तथा देव ये सब आपके व्यक्ति=प्रभावको नहीं जानते तथा और भी कोई नहीं जानसकता क्यों कि सभीके ज्ञान परिमित हैं और आपका प्रभाव तथा विभूतिविस्तार अपरिमित है । किंतु हे भूतभावन=समग्रभूतोंका नियमन करनेवाले हे भूतेश=समग्रभूतप्रभो हे देवदेव=देवनके भी पूज्य हे जगत्पते=सकललोकके स्वामिन् आप अपने ही आत्मना=ज्ञानसे अपने आपको जान सकतेहो हे पुरुषोत्तम आपके बिना और कोई भी सर्वात्मना आपको नहीं जान सकता ॥ १४ ॥ १५ ॥

मू०—वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योसि भगवन्मया ॥ १७ ॥
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

दोहा—अपनी दिव्यविभूति सब कहौ कृपाकर सोय ।
जिन सौं तुम सब लोकमें व्याप्त रहेहो होय ॥ १६ ॥
भक्तियोग लग हीं सदा तव चिंतन मन लाउ ।
किस किस और पदार्थमें तुमरो रूप मनाउ ॥ १७ ॥
निजविभूतिको और निज मंगलगुणगण तात ।
विस्तर कर पुनि हू कहो सुनि मन तृप्ति न पात ॥ १८ ॥

टी०—हे भगवन् आप जिन अपनी जगन्नियमनकारिणी विभूतियोंसे समग्रप्रपंचमें नियामकत्वेन व्याप्त होरहेहो उन अपनी समग्र दिव्यविभूतियोंको कहो ॥ १६ ॥ मैं भक्तियोगमें लगकर अपने चित्तको आपमें लगाकर आपका अनुसंधान करताहुआ आपको किस स्वरूपसे जानूं अर्थात् आपके कैसे स्वरूपका अनुसंधान करूं । तथा किस किस पदार्थमें आपके रूपका ध्यान करूं अर्थात् कौन कौन पदार्थ आपके स्वरूप हैं ॥ १७ ॥ हे भगवन् जनार्दन आपकी दिव्य विभूतिप्रतिपादकवचनरूपी अमृतको श्रवणपुटसे पीते पीते मुझे तृप्ति नहीं होती इस हेतु फिर दुबारा आप अपनी दिव्यविभूतियोंको तथा स्रष्टृत्वादि दिव्यमंगलगुणोंके योग=संबंधको विस्तरपूर्वक कहो ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच-

मू०-हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यऽन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

दोहा-अपनी मुख्य विभूतिको कुछक कहौं सुन तात ।
मेरी दिव्यविभूतिको अंत न कोउ पात ॥ १९ ॥

टी०-हे पार्थ मैं अपनी प्रधान प्रधान दिव्यविभूतिको तुझे सुनाताहूं जो तुमने कहा कि सविस्तर कहो सो सविस्तर सुननेकी तुमारी सामर्थ्य नहीं क्यों कि मेरी विभूतिओंका अंत नहीं किं तु अनंत हैं उन अनंत मेरी विभूतिओंको तुम अपने जीवनभरके भी कालमें सुन नहीं सकते क्यों कि तुमारे जीवनका काल परिमित है । विभूतिशब्द नियम्यक्त बोधक है भगवान् श्रीनारायण सभी पदार्थके नियमनकर्ता = नियंता हैं और सभी पदार्थ नियम्य हैं । श्रुति भी कहती है-"यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति "इति । और दिव्यविभूतिओंमें जो प्रधान प्रधान हैं उनमें कुछक भागको यहां भगवान् कहेंगे । यथा बारह सूर्य हैं वे बारह ही भगवत्की विभूति हैं "यस्यादित्यः शरीरम्"इति उन बारह आदित्योंमेंसे विष्णुनामक आदित्य प्रधान है । उसीको भगवान्ने आगे कहाहै । एवं रूपसे ही और भी वक्ष्यमाण विभूतिओंमें समझना श्रीयामुनाचार्यस्वामीने भी भगवान्की विभूतिओंके आनंत्यके विषयमें कहाहै-

"यदण्डमण्डान्तरगोचरं च यद् दशोत्तराण्यावरणानि यानि च ।
गुणाः प्रधानं पुरुषः परं पदं परात्परं ब्रह्म च ते विभूतयः ॥" इति ।

अर्थात् हे भगवन् यह प्रपंचरूपी अंड और इस अंडके भीतर जो पदार्थ हैं और उस अंडके ऊपर जो उत्तरोत्तर दशगुण सात आवरण हैं सत्त्व रज तम ये गुण प्रकृति जीवात्मा श्रीवैकुंठलोक इत्यादि जो पदार्थ हैं वे सभ आपके विभूतिरूप ही हैं ॥

यह जो अंड है इसका सौकरोडयोजन विस्तार है इस अंडके ऊपर इस अंडेसे दशगुण जलतत्त्वका आवरण है, उस जलतत्त्वपर जलतत्त्वसे दशगुण तेजतत्त्वका आवरण है उस तेजतत्त्वपर तेजतत्त्वसे दशगुण वायुतत्त्वका आवरण है, उस वायुतत्त्वपर वायुतत्त्वसे दशगुण आकाशतत्त्वका आवरण है, उस आकाशतत्त्वपर आकाशतत्त्वसे दशगुण अहंकारतत्त्वका आवरण है, उस अहंकारतत्त्वपर अहंकारतत्त्वसे दशगुण महत्तत्त्वका आवरण है, और उस महत्तत्त्वपर महत्तत्त्वसे दशगुण प्रकृतितत्त्वका आवरण है । कहा भी है-

"वारिवह्न्यनिलाकाशैस्ततो भूतादिना (अहंकारेण) वहिः ।
वृतं दशगुणैरण्डं भूतादिर्महता (महत्तत्त्वेन) तथा ॥

अव्यक्तेनावृतो ब्रह्मन् तैः सर्वैः सहितो महान् ।
एभिरावरणैरण्डं सप्तभिः प्राकृतैर्वृतम् ॥ " इति ॥

इसीविषयको श्रीयामुनाचार्यस्वामीने उक्तश्लोकमें संक्षेपसे कहाहै- " दशोत्तराण्यावरणानि यानि च " इति । इस एक एक ब्रह्मांडमें चौदह चौदह लोक होते हैं यथा भूलोकके नीचे यथाक्रम अतल सुतल वितल तलातल महातल रसातल तथा पाताल ये सात पाताललोक हैं । अष्टम यह भूलोक है इसके ऊपर यथाक्रम भुवर्लोक स्वर्लोक महर्लोक जनलोक तपोलोक और सत्यलोक ये छै लोकहैं । इन चौदह लोकोंका एक अंड कहाताहै उस अंडपर उक्तरीतिसे सात आवरण (पडदे) रहते हैं । ऐसे ऐसे अनन्त अंड भगवत्की विभूति हैं कहा भी है-

" अण्डानां तु सहस्राणां सहस्राण्यऽयुतानि च ।
ईदृशानां तथा तत्र कोटिकोटिशतानि च ॥ " इति ।

अर्थात् ऐसे ऐसे अंड भगवान्की सृष्टिमें अनंत हैं । इसी बातको भगवान् भी स्वयं कहते हैं " नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे " इति ॥ १९ ॥

मू०--अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

दोहा--हृदयकमलमें हौं बसौं अंतर्यामीरूप ।
उत्पत्ति पालना अंत अरु सबकी करतौ भूप ॥ २० ॥

टी०-अर्जुनने जो भगवान्के स्रष्टृत्वादिगुणयोगकी जिज्ञासा की है "आत्मनो योगम्" यह उसका संक्षेपेण उत्तर देते हैं--अहमिति । हे पार्थ मैं ही अंतर्यामी रूपसे सबके भीतर रहताहूं और इस प्रपंचकी उत्पत्ति स्थिति (पालन) प्रलयका हेतु हूं । कहा भी है-'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुः यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति " । " यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति " इत्यादि ॥ २० ॥

मू०--आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥
वेदानां सामवेदोस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इंद्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

दोहा--ज्योतिनमें रवि अंशुमान् वायुनमें हूं मरीच ।
आदित्योंमें विष्णु हूं विधु नक्षत्रन बीच ॥ २१ ॥

वेदनमें मैं साम हौं देवन इंद्र सुजान।
इंद्रियमें मन मैं तथा चेतनकौ हौं ज्ञान ॥ २१ ॥

टी०-अब भगवान् संक्षेपसे अपनी प्रधान विभूतिओंको कहतेहैं-आदित्यानामिति। बारह जो आदित्य हैं उनमें मैं विष्णुनामक आदित्य हूं। प्रकाशक पदार्थ जो ज्योति हैं उनमें मैं अंशुमान् सूर्य हूं। ४९ प्रकारके वायुनमें मैं मरीचि हूं। नक्षत्रोंमें मैं चंद्रमा हूं। वेदोंमें सामवेद देवोंमें इंद्र इंद्रियोंमें मन तथा चेतनोंका ज्ञान मैं हूं। जो लोग मनको इंद्रिय नहीं मानते उनको भगवान्के इसवचनपर ध्यान देनाचाहिए यदि मन इंद्रिय न होता तो भगवान् " इन्द्रियाणां मनश्चास्मि " ऐसा न कहते ॥ २१ ॥ २२ ॥

मू०-रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥
पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

दोहा-रुद्रोंमें शंकर तथा यक्षनमें हुं कुबेर।
वसुअनमें पावक तथा दिव्यगिरिनमें मेरु ॥ २३ ॥
जान पुरोहितसंघमें सुरगुरु मोकूं मंद।
नीराशयमें सिंधु हौं सेनानिनमें स्कंद ॥ २४ ॥

टी०-एकादश रुद्रोंमें शंकर मैं हूं महादेवजी भगवत्के परमभक्त हैं इसीलिए उत्कृष्ट भगवान्की प्रधान विभूति हैं। यक्षोंमें तथा रक्षोंमें कुबेर आठ वसुओंमें पावक दिव्यपर्वतोंमें मेरु मैं हूं। आगे भगवान् हिमालयको भी अपनारूप कहेंगे और मेरु तथा हिमालय दोनों ही पर्वत हैं इसलिए यहांपर दिव्य-जो देवताभूमिके पर्वत हैं उनमेंसे मेरुको भगवान्का रूप जानो। और अदिव्य जो पर्वत हैं उनमेंसे हिमालयको भगवान्का रूप जानो ॥ पुरोहितोंमें बृहस्पति मैं हूं। सेनानायकोंमें कार्त्तिकेय मैं हूं। जलाशयोंमें सागर मैं हूं ॥ २३ ॥ २४ ॥

मू०-महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

दोहा-महर्षिनमें भृगु हौं तथा शब्दनमें ओंकार।
यज्ञनमें जपयज्ञ हौं स्थावरमें हिमभार (हिमालय) ॥ २६ ॥

देवर्षिन नारद तथा वृक्षनमें अश्वत्थ ।
सिद्धनमें मुनि कपिल गंधर्वनमें चित्ररथ ॥ २६ ॥

टी०–महाऋषिओंमें भृगु, शब्दोंमें ओंकार, यज्ञोंमें जपयज्ञ, स्थावर = जो पदार्थ स्थिर हैं चल नहीं सकते उनमें हिमालयपर्वत मैं हूं ।

वृक्षोंमें अश्वत्थ = पीपल मैं हूं । देवर्षिओंमें नारद मैं हूं । गन्धर्व जो देवसभाओंमें गान करतेहैं उनमें चित्ररथगंधर्व मैं हूं । सिद्धोंमें कपिलदेव मैं हूं ॥ २५ ॥ २६ ॥

मू०–उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७॥
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

दोहा–अश्वनमें उच्चैश्रवा प्रकट्यो जलसों जोय ।
हौं ऐरावत गजनमें मनुजन नृप जो होय ॥ २७ ॥
गायनमें हौं कामधुक शस्त्रन वज्र कहाउं ।
काम जननकरतामें वासुकि सपन माउं ॥ २८ ॥

टी०–अश्वोंमें उच्चैश्रवा जो जलसे उत्पन्न हुआहै वह मैं ही हूं । गजोंमें ऐरावत नरोंमें राजा, शस्त्रोंमें वज्र मैं ही हूं । वज्रकी अपेक्षा भी भगवान्के सुदर्शन चक्रादि शस्त्र वहुत उत्कृष्ट हैं इसहेतु यहांपर लौकिक शस्त्रोंमें वज्रको भगवान्का रूप जानना क्यों कि लौकिक शस्त्रोंमें वज्रही सभसे उत्तम है। और सुदर्शनचक्रादिशस्त्र तो अलौकिक हैं । गायनमें मैं कामधेनु हूं । जननकर्तापदार्थोंमें काम हूं । एकसिरवाले सर्पोंमें मैं वासुकि हूं ॥ २७ ॥ २८ ॥

मू०–अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥
प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

दोहा–जलवासिनमें वरुण हौं, नागनमे हौं शेष ।
पितरनमें मैं अर्यमा, दंडकरतन यम वेष ॥ २९ ॥
दैत्यनमें प्रल्हाद हौं, मृत्यु अनर्थन माउं ।
चौपायनमें सिंह हौं पक्षिन गरुड कहाउं ॥ ३० ॥

टी०–नाग = अनेकसिरवाले सर्पोंमें शेषनाग मैं हूं । जलवासिओंमें वरुण, पितरोंमें अर्यमा, दंडदेनेवालोंमें यम मैं हूं । दैत्योंमें प्रह्लाद, तथा अनर्थकरनेवालोंमें मृत्यु मैं

हूं यहां पर कालशब्द मृत्युका ही वाचक है क्यों कि समय विशेष कालको आगे३३में श्लोकमें कहेंगे। चौपायोंमें सिंह और गरुड मैं हूं ॥ २९ ॥ ३० ॥

मू०-पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥
सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

दोहा-शस्त्रधरनमें राम हौं गतिवालनमें वात ।
जलजीवनमें मकर म, नदिअन गंगा तात ॥ ३१ ॥
मैं ही करतौ सर्गके अंत मध्य अरु आद ।
आत्मशास्त्र हौं शास्त्रमें, वादिनको हौं वाद ॥ ३२ ॥

टी०-चलनेवाले पदार्थोंमें पवन, और शस्त्रधारिओंमें रावण तथा परशुरामको भ जीतनेवाला श्रीरामचंद्र मैं हूं। यहां पर यह संदेह नहीं करना कि जैसे और पवनादि पदार्थ भगवान्की विभूति हैं वैसे ही श्रीरामचंद्रजी भी भगवान्की विभूति हैं क्यों कि श्रीरामचंद्र तो इनसभ विभूतिओंके अधिष्ठाता साक्षात् भगवान् ही हैं यहां विभूतिओंमें कहनेका यह अभिप्राय है कि श्रीरामचंद्ररूपसे भगवान्ने जैसा कुछ शस्त्र और अस्त्रोंका चमत्कार दिखाया वह और किसीरूपसे नहीं दिखाया सो और सभ शस्त्रधारिओंमें तो भगवान्के कलावतार श्रीपरशुरामजी भी बहुत श्रेष्ठ थे किंतु भगवान्के भी शस्त्रधारी जितने स्वरूप है उनमें दाशरथि श्रीरामचंद्रस्वरूप ही सभसे श्रेष्ठ है यही यहांका अभिप्राय है। कि वा यहां शस्त्रभृत्शब्द से परसुरामजीकाही ग्रहण करना वे तो भगवत्-विभूति हीहै।

और जलजीव जो मत्स्यादि हैं उनमें मकर (ग्राह) प्रवाहवाली नदिओंमें गंगा मैं हूं। और सर्गके उत्पत्ति स्थिति प्रलय करनेवाला मैं हूं किं वा सर्गकी उत्पत्ति करनेवाला ब्रह्मा स्थिति = पालनकरनेवाला विष्णु तथा प्रलय = संहारकरनेवाला रुद्र मैं ही हूं। विद्याओंमें अध्यात्मविद्या और वादकरनेवालोंमें वाद मैं हूं। यहां पर वादशब्दसे शास्त्रीयवाद ही समझना, लुगाइओंकी तथा वकीलोकी लडाई नहीं समझनी ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

मू०-अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥
मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥

दोहा-वर्णोंमें हूँ अकार मैं द्वंद्वसमास समास ।
अखंड काम मैं कालमें, सृष्टीकर कमलास ॥ ३३ ॥

श्री स्मृति मेधा शारदा क्षमा कीर्ति धृति जान।
नारिनमें, अरु मृत्यु हौं; जन्म जातकौ मान ॥ ३४ ॥

टी०—अक्षरोंमें अकार, तथा समासोंमें द्वंद्व समास मैं हूं द्वंद्वसमासमें पूर्वोत्तर दोनों पदार्थ प्रधान होते हैं इससे सब समासोंमें द्वंद्वसमास उत्कृष्ट है अतएव भगवान्‌की प्रधान विभूति है, कालोंमें अखंड काल और चतुर्मुख ब्रह्मा मैं ही हूं भगवान्‌की विभूतिओंमें ब्रह्माजी बहुत उत्कृष्ट हैं इसलिए उनको प्रथम' ३२ के श्लोकमें सृष्टिकर्तृत्वेन विभूति कहाहै यहांपर स्वरूपेण ही अपनी विभूति कहाहै। सर्वप्राणहर मृत्यु उत्पन्न होनेवालोंकी उत्पत्ति, और स्त्रिओंमें श्रीलक्ष्मी मैं हूं और कीर्तिवाणी स्मृति मेधा=धारणाशक्ति धैर्य तथा क्षमा ये मेरे ही स्वरूप हैं ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

मू०–बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छंदसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥
द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोस्मि व्यवसायोस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

दोहा—बृहत्साम मैं साममे, गायत्री छँद संत।
मासनमें मगसिर तथा, ऋतुअनमाहँ वसंत ॥ ३५ ॥
तेजवंतको तेज अरु, द्यूतहु छलिनमाय।
सत्त्ववंतको सत्त्व, जय, व्यवसायिन व्यवसाय ॥ ३६ ॥

टी०—और वेदोंमें यथा सामवेद मेरा रूप है तथा समावेदमें भी बृहत्साम मैं हूं। छंदोंमें गायत्रीछंद, मासोंमें मगसिर मास, तथा ऋतुओंमें वसंत ऋतु मैं हूं। छलकरनेवालोंमें द्यूत (जुवा) मैं ही हूं। भगवान्‌के इस वचनसे द्यूतको सेव्य मत समझना किंतु और सब छलोंसे द्यूतरूप छल भारीहै क्यों कि इसमें एक ही दावमें अनंतधन इधरका उधर होजाताहै तथा द्यूतकी विद्या भी बडी भारी है इसहेतु भगवान्‌ने द्यूतको अपनी विभूतिओंमें कहा है कुछ सेव्यत्वेन नहीं कहा महाराज नल युधिष्ठिरादि इस द्यूतके ही कारण भारी विपत्तिओंमें फँस गएथे। तेजस्वीका तेज, विजयीका विजय, व्यवसाय=मेहनत करनेवालोंका व्यवसाय=मेहनत (श्रम) तथा सत्ववालोंका सत्व मैं हूं। सत्त्वशब्द यहां चित्तके महत्त्व (उदारता) का बोधक है ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

मू०–वृष्णीनां वासुदेवोस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥
दण्डो दमयितामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

दोहा—वासुदेव वृष्णिन महँ, अर्जुन पांडवमाउं ।
मुनियनमें मैं व्यास अरु कवियन शुक्र कहाउं ॥ ३७ ॥
दड जो दंड करते तहँ, जय कर्ताकी नीति ।
ज्ञानवन्तको ज्ञान मैं, गोप्यन मौन सुरीति ॥ ३८ ॥

टी०-वृष्णिकुलमें वासुदेव मैं हूं । पांडवोंमें अर्जुन मुनिओंमें व्यास, कविता करनेवालोंमें किं वा विद्वानोंमें शुक्र मैं हूं । दंडदेनेवालोंका दंड,जयपानेवालोंमें नीति, गुह्योंमें अर्थात् रहस्यविषयके गोपनोपायोंमें मौन, ज्ञानवालोंका ज्ञान मैं ही हूं ॥ ३७ ॥३८॥

मू०-यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मम ॥ ४० ॥

दोहा—सकलभूतकारण तथा मैं हू सुन मन लाय ।
वस्तु नहीं वह कोइ जग मम विन जो ठहराय ॥ ३९ ॥
दिव्यविभूतिनको मम अंत नहीं सुन राय ।
निजविभूति विस्तर कह्यौ इह संक्षेप बनाय ॥ ४० ॥

टी०—हे पार्थ समग्र भूत=पदार्थोंका मैं ही बीज=आदिकारण हूं । तथा प्रपंचभरमें ऐसी कोई भी वस्तु नही जो मेरे विना भी हो=ठहर सके अर्थात् पदार्थमात्र मेरेमें स्थिर हैं मैं ही सभका अंतर्यामी आत्मा हूं अतएव मेरे विना कोई भी पदार्थ स्थितिको प्राप्त नहीं होसकता ॥ ३९ ॥

हे पार्थ मेरी समग्रविभूतिओंको छोड दिव्य = उत्कृष्टविभूतिओंका भी अंत नहीं किंतु अनंत हैं इसहेतु तुम उन सभको सुन नहीं सकते इस कारण मैंने अपनी दिव्यविभूतिओंका यह विस्तर संक्षेपसे तेरको सुनादिआहे । यह एकदिशा है इसी प्रकार और भी सभ उत्तमपदार्थोंको मेरी दिव्यविभूति जानना ॥ ४० ॥

मू०-यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ ४१ ॥
अथ वा बहुनैतेन किं ज्ञानेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

दोहा--जो प्रधान जग वस्तु है शोभासयुत और ।
तेजवंत अरु जोय हो अंश जान तिस मोर ॥ ४१ ॥
वहुतविभूतिश्रवणसों तुम्हें प्रयोजन नाहिं ।
एक अंश सो व्याप्त हौं सुन सभ जगके माहिं ॥ ४२ ॥

टी०-अब भगवान् संक्षेपसे अपनी दिव्यविभूतिका लक्षण कहतेहैं कि-यद्यदिति, जो जो जीव धनधान्यादिभोग्यपदार्थवाले हैं श्रीमान् हैं तथा तेजस्वी हैं उनको तू मेरा अंश=दिव्यविभूति ही जान ॥

हे पार्थ तैंने इस प्रत्येकविभूतिके ज्ञानसे क्या निकालना है ? इतना ही संक्षपसे जानले कि यह जितना स्थूल तथा सूक्ष्म चेतनाचेतन प्रपंच है इस सभमें मैं अपने एकअंशसे व्याप्त होरहा हूं=यह सभ प्रपंच मेरे एकअंशमें स्थिर है अतएव यह सभी पदार्थमात्र मेरी ही विभूति हैं । कहा भी है-"यस्याऽयुतायुतांशांशे विश्वशक्तिरियं स्थिता" इति ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

इति पंजाबी पंडित सुदर्शनाचार्यशास्त्रीप्रणीत भगवद्गीतासतसई तथा तत्त्वार्थसुदर्शनीटीकासहित श्रीमद्भगवद्गीताका दशमाध्याय समाप्त हुआ ॥ १० ॥



श्रीः ।

अथ एकादशाऽध्याय ।

अर्जुन उवाच--

मू०–मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसञ्ज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

दोहा–आतमज्ञान अतिगुह्यके वचन कहे जो आप ।
किरपाकर तिनसों मम टूट गयो मोह पाप ॥ १ ॥
भूतनके उत्पत्ति लय सुने सविस्तर तात ।
नित प्रभुता अरु आपकी तुमसो सुनी सुहात ॥ २ ॥

टी०–भक्तियोगकी सिद्धि तथा वृद्धिकेलिए भगवान्ने कृपाकर अपनी महिमा कही और समग्र चिदचिदात्मक प्रपंचको स्वाधीन स्वशरीरभूत कहा तथा अपने स्रष्टृत्वपालकत्वादि कल्याणगुणोंको भी कहा, अर्जुनने भी यह सभ सुनकर उसपर निश्चय करलिआ कि भगवान् वासुदेव सकलजगदीश्वर है उपास्य है इत्यादि। परंतु भगवान्के उस विश्वरूपका कभी दर्शन नहीं हुआ और इस समय भगवान् अत्यंत हीं अनुग्रह कररहे हैं इसहेतु इसी समय अर्जुनको भगवान्के उस दिव्य विश्वरूपके दर्शनकी अभिलाषा हुई इसी अपनी अभिलाषाका पूर्ण करनेकेलिए अर्जुन कहतेहैं–मदनुग्रहायेति ।

हे भगवन् आपने जो मुझपर कृपाकरके अध्यात्मज्ञानका उपदेश कहा उससे मुझे जो देहात्माभिमानरूपी अज्ञान था अर्थात् मैं जो अज्ञानसे देह और जीवात्माको एक समझाता था वह मेरा अज्ञान आपके इस गुह्योपदेशसे टूट गया । तथा समग्र भूतोंके उत्पत्ति और प्रलय भी आपसे सविस्तर सुने अर्थात् समग्र भूतोंकी उत्पत्ति स्थिति तथा प्रलयके आप ही आदि कारण हैं यह भी सुना और आपकी महिमा=जो आप हीं सर्वत्र व्याप्त हैं आपके विना कोई भी पदार्थ एकक्षण भी रह नहीं सकता इत्यादि आपकी महिमा भी सुनी ॥ १॥ २ ॥

मू०–एवमेतद्र यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

दोहा--तुम जो निज महिमा कही मैं ताहि सत्य मनात।
परमरूप तुमरो वह देखन चित्त चहात ॥ ३ ॥
देखसकौ वह रूप हौ तुमरो यदि भगवंत।
तौ मोहि अवस दिखायदी रूप गुह्य गुणवंत ॥ ४ ॥

टी०—हे भगवन् आपने जो अपनी महिमा कही कि मैं ही सकल प्रपंचका कारण हूं इत्यादि मैं उसे सत्यमानताहूं। इसमें कुछ भी मुझे संदेह नहीं कि आप ही परमेश्वर हैं किंतु हे दयानिधे मैं आपके उन अनंतकल्याणगुणोंसे तथा दिव्यविभूतिओंसे युक्त विश्वरूपका दर्शन करना चाहताहूं। हे योगेश्वर यदि मैं आपके उस दिव्य विश्वरूपका दर्शन करसकताहूं तो आप कृपाकर अवश्य ही अपने उस अव्यय निजाऽसाधारण विश्वरूपका दर्शन करादीजिए ॥ ३ ॥ ४ ॥

श्रीभगवान् उवाच—

सू०-पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाऽऽकृतीनि च ॥५॥
पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याऽऽश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

दोहा--देख रूप मेरे सखे नानाविध गुणवंत।
विविध वर्णके दिव्य अरु नानाऽऽकार अनंत ॥ ५ ॥
आदित्य वायु वसु रुद्र रूपमाँह सब देख।
अजलौं अचरज जो नही तुम देखे उन देख ॥ ६ ॥

टी०—आज भगवान् अपनी परमकृपाके मेघको अर्जुनके ऊपर बरसा रहे हैं सो विश्वरूप दर्शनकी प्रार्थना करते ही भगवान् अपने दिव्यरूपके दर्शनामृतको पान करानेके लिए कहते हैं—पश्येति, हे पार्थ मेरे सैंकडन हजारन=अनंतरूपोंको देख मेरे ही रूप नानाप्रकारके नाना वर्णके नानाआकारके तथा दिव्य हैं। हे पार्थ देख मेरे ही इस रूपमें समग्र आदित्य वसु रुद्र अश्विनीकुमार तथा वायुप्रभृति सभी देवता हैं जो तुमने कभी भी आज तक आश्चर्य देखे सुने नहीं उन आश्चर्योंको मेरे इसरूपमें देखले ॥ ५ ॥ ६ ॥

सू०-इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

दोहा--जग सगरो सचराचर रूपहि माहँ निहार ।
और हु जो देखन चहौ उहि देखौ सुविचार ॥ ७ ॥
इस अपने तुम नेत्रसों देखसकौ नहिं मोय ।
दिव्यैं देतहौ तोहि चख रूप देखँ तिन सोय ॥ ८ ॥

टी०—हे पार्थ मेरे इस दिव्यरूपके एकदेशमें देखँ समग्र सचराचरप्रपंच स्थिर है तथा और भी जो तुम देखना चाहते हो उसे भी यहां ही देख लो ।

कहा भी है—"यस्यायुतायुतांशांशे विश्वशक्तिरियं स्थिता" इति श्रीयामुनाचार्य स्वामीने भी कहाहै—

" कः श्रीः श्रियः परमसत्त्वसमाश्रयः कः कः पुण्डरीकनयनः पुरुषोत्तमः कः ।
कस्याऽयुतायुतशतैककलांशकांशे विश्वं विचित्राचिदचित्प्रविभागवृत्तम् ॥ " इति ।

अर्थात् हे भगवन् आप ही श्रीलक्ष्मीकी भी शोभा हैं आप ही परम शुद्धसत्त्वका आश्रय कमलनयन तथा पुरुषोत्तम हैं हे भगवन् यह समग्र प्रपंच आपके लाखवें करोंडवें हिस्सेकी एक कलाके एक अंशमें स्थिर है आप ऐसे महाविभु परमव्यापक है ७॥

हे पार्थ तू मेरे इस दिव्यरूपको अपने इस लौकिक नेत्रसे देख नहीं सकता इसहेतु मैं तेरेको दिव्य नेत्र देताहूं अर्थात् अपनेरूप देखनेके योग्य तेरे नेत्रमें शक्ति देताहूं उससे तू मेरे इस विश्वरूपको देख ॥ ८ ॥

सञ्जय उवाच

मू०—एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतो मुखम् ॥ ११ ॥

दोहा—इसविध कह निजरूपकी वात हरी भगवंत ।
परमरूप निज पार्थको प्रकट दिखायोऽनंत ॥ ९ ॥
जामें मुख चख बहुतसे दर्श चारु गुणवंत ।
दिव्य वसन भूषण बहुत आयुध दिव्य अनंत ॥ १० ॥

दिव्यगंध माला जहां दिव्य हि लेप लगाय।
सभ अचरजमय, बहुत मुख रूप अनंत बनाय ॥ ११ ॥

टी०—संजय धृतराष्ट्रको कहतेहैं हे राजन्=महाराज महायोगेश्वर श्रीहरिने अपने रूपकी उक्त बातें कहकर अर्जुनको अपना वह दिव्य विश्वरूप दिखादिआ। उस दिव्यरूपमें अनेक मुख तथा अनेक नेत्र थे अनेक अद्भुत दर्शनीय पदार्थ थे किं वा अनेक प्रकारसे उसके दर्शन अद्भुत थे। उसमें दिव्य आभरण कटक कुंडल किरीट हारादि भी अनेक थे। शंख चक्र गदा प्रभृति दिव्यायुध भी अनेक थे। माला तथा वस्त्र भी सभ दिव्य थे। उस वपुपर दिव्य चंदनका लेप लगाथा। वह रूप समग्र आश्चर्योंका सागर था देव=प्रकाशमान तथा अनन्त=अपरिच्छिन्न था। उस रूपमें चारों ओर मुख ही मुख दीखते थे। ऐसे रूपको कृपाकर दिखाया। कहा भी है—

" विराजमानोज्ज्वलपीतवाससं स्मितातसीसूनसमाऽमलच्छविम्
निमग्ननाभिं तनुमध्यमुन्नसं विशालवक्षःस्थलशोभिलक्षणम् ॥"

इति ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥

मू०—दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥
तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥
ततः सविस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

दोहा—सहस्रसूर्यका तेज यदि गगन इकट्ठा होय।
तौ हरिके तिस तेजके सदृश कहावे सोय ॥ १२ ॥
हरिके तिस विभुकायमें एकअंशमें राज।
देख्यो पार्थ अनेकविध जगको सकल समाज ॥ १३ ॥
चकित होय अर्जुन तब बहु रोमांचित काय।
सिरसौं हरिपदवंदना कर बोल्यो इह राय ॥ १४ ॥

टी०—हे राजन् भगवान् श्रीकृष्णचंद्रके उस दिव्य स्वरूपका ऐसा तेज था कि उसका उपमान छोड उपमेय भी कोई प्रतीत नहीं होता, हां यदि आकाशमें एक वार ही हजार सूर्य उदित हो उस हजारसूर्यका जो इकट्ठा तेज हो वह तेज भगवान्के तेजके सदृश होसके अर्थात् उपमेय होसके। श्रुति भी कहतीहै—"तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः" "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो

शान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्" "तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि" "आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः" इत्यादि ॥ १२ ॥

हे राजन् देवदेव श्रीकृष्णचंद्रके उस दिव्यमंगलविश्वरूप शरीरके एक अंशमें अर्जुनने इस समग्र ब्रह्मांडको देखा। प्रविभक्तम्=उस एकदेशस्थ ब्रह्मांडमें कहीं देवता थे कहीं दैत्य थे कहीं नाग थे कहीं मनुष्य थे। तथा कहीं स्वर्गलोक कहीं मनुष्य लोक कहीं पाताललोक थे इत्यादि ॥ श्रुति भी कहती है-"स वेदैतत्परमं ब्रह्मधाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्" "अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्" "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः" "तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन" इत्यादि ॥ १३ ॥

हे राजन् भगवान्के उस दिव्यतेजस्वी विभु विग्रहको देखकर अर्जुन चकित हो गया तथा उस दिव्य दर्शनके हर्षसे अर्जुनके शरीरपर रोमांच होगया सो अर्जुनने भगवान्के श्रीचरणपर साष्टांग प्रणाम करके हाथजोडकर आगेके वचन कहे ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच-

मू०-पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥

दोहा-देखौं हरि तव देहमें सकल हि भूत समाज ।
ब्रह्मा शिव ऋषिगण तथा दिव्य सर्प इह आज ॥ १५ ॥
उदर बाहु मुख चख तथा बहुदिस तोर अनंत ।
दीखत नहीं तव रूपके आदि मध्य अरु अंत ॥ १६ ॥

टी०-हे भगवन् आपके दिए दिव्य नेत्रसे मैं समग्र देवोंको तथा और भी समग्र प्राणिवर्गको आपके इस दिव्यमंगल वपुमें देखताहूं। तथा कमलासनपर बैठे ब्रह्माको समग्र ऋषिओंको और दिव्य सर्पोंको भी आपके इस वपुमें देखता हूं ॥ १५ ॥

हे भगवन् आपके बाहु उदर मुख तथा नेत्र ये शरीरावयव अनेक हैं तथा आपका रूप अनंत है इसका कुछ पारवार नहीं। हे विश्वेश्वर आपके इस विश्वरूपके आदि अंत तथा मध्य कहीं नहीं प्रतीत होते किंतु चारों ओर आपका यही रूप व्यापक प्रतीत होता है ॥ १६ ॥

मू०-किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥ १७॥
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८॥

दोहा-मुकुट गदा अरु चक्र युत तेज राशिसों दीप्त ।
देख्यौ जाय न रूप तव रविहूसों सुविदीप्त ॥ १७ ॥
परब्रह्म हो ज्ञेय तुम सब जगके आधार ।
आदिपुरुष अव्यय तथा धर्म हि राखनहार ॥ १८ ॥

टी०-हे भगवन् आपके सिरोंपर किरीट मुकुट हैं हाथोंमें गदा और चक्रादिशस्त्र हैं । आप तेजके पुंज हैं चारोंओरसे सूर्यसम प्रकाशमान=दीप्यमान हैं । आप अप्रमेय हैं पारावार रहित हैं । प्रदीप्त अग्नि और सूर्यकेतुल्य आपकी कांति है अत एव आप दुर्निरीक्ष्य हैं अर्थात् देखनेको कठिन हैं आपके तेजसे आखोंको चकचौंधी लगतीहैं ॥ १७ ॥

हे भगवन् आप ही परब्रह्म हैं आप ही मुमुक्षुओंके ज्ञेय हैं आप ही इस समग्र ब्रह्माण्डके आधार हैं । आप ही अव्यय=विकाररहित हैं आप ही आदि कालसे लेकर धर्मकी रक्षा करनेवाले हैं । आप ही सनातन पुरुष हैं । ऐसे मैं आपके विग्रहके दर्शन कररहाहूं ॥ १८ ॥

मू०-अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

दोहा-शशि सूरज तव नेत्र हैं बाहु वीर्य अनंत ।
अग्निसदृश तव मुख तरै तुमसो जगत तपत ॥ १९ ॥

गगनभूमिको बीच सभ तुमसो व्यापत तात ।
देख उग्र तव रूपको तीनहु लोक डरात ॥ २० ॥

टी०—हे भगवन् आपका आदि मध्य तथा अंत कहीं नहीं है किं तु चारों ओर आप ही व्याप्त दीखते हैं । आपका वीर्य तथा भुजाएं अनंत हैं। चंद्रमा और सूर्यके तुल्य आपके नेत्र हैं=अति तेजस्वी हैं । किं वा आपके नेत्रोंमें सूर्य और चंद्रमाको देखता हूं। प्रदीप्त कालाग्निके सदृश आपका मुख है मानो आप सभके संहारकेलिए उद्यत हैं । तथा अपने तेजसे समग्र लोकोंको आप तपा रहे हैं । मैं ऐसे आपके दिव्य रूपका दर्शन कर रहा हूं । यहां पर " शशिसूर्यनेत्रम् " कहनेका यह अभिप्राय है कि भगवान् अपने भक्तोंको तो चंद्रतुल्य नेत्रसे शांति=सुख दे रहे हैं और अपने द्वेषियोंको सूर्यतुल्य नेत्रसे तपा रहे हैं । तेजसे तपाना यहां अभिभव है भगवान्के तेजसे समग्र जगत् अभिभूत हो रहा है ॥ १९ ॥

हे भगवन् नीचेसे ऊपरतक जो यह ब्रह्मांड है वह आपके इस रूपसे व्याप्त=भरगया है तथा सभ दिशाएं भरगई हैं=अर्थात् चारों ओर आप ही व्याप्त हो रहे हैं । हे भगवन् आपके इस उग्र रूपको देखकर देवताप्रभृति दिव्यदृष्टिवाले सभी लोक डरगए हैं २०॥

मू०—अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ २१ ॥
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

दोहा--प्रवेश करैं सभ देव इह, स्तुति करते कोउ भीत ।
स्वस्ति बोल ऋषिगण तथा गावत यश हि सुरीत ॥ २१ ॥
रुद्र मरुत आदित्य वसु विश्वेदेव कुमार ।
असुर यक्ष गंधर्व सिद्ध निरखत चकित अपार ॥ २२ ॥

टी०—हे भगवन् देवताओंके समूह आपके इस विग्रहमें प्रवेश कर रहे हैं=किं वा लीन हो रहे हैं । कोई आपकेइस उग्र विग्रहसे डरकर करजोड आपकी स्तुतिकर-

रहे हैं। तथा ऋषिगण और सिद्धगण आपके स्वरूपको जाननेवाले स्वस्ति यह शब्द कहकर उचित स्तोत्रोंसे आपकी स्तुति कर रहे हैं ॥ २१ ॥

हे भगवन् रुद्रगण आदित्यगण वसुगण साध्यगण विश्वेदेवा अश्विनीकुमार वायुगण ऊष्मपा=पितरगण गंधर्व यक्ष तथा असुर ये सभ आपके इस रूपको विस्मित=चकित होकर देख रहे हैं। श्रुति भी कहती है-"तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्योह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानन्त किमिदं यक्षमिति। तेऽग्निमब्रुवन् जातवेद एतद्विजानीहि किमेतद् यक्षमिति" इत्यादि ॥ २२ ॥

मू०-रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् ॥ २३ ॥
नभस्स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥ २४ ॥

दोहा-बहु मुख चख पर बाहु युत सहरद (दन) दाढ कराल।
तव व्यापक इस रूपमें भीत लोक वृद्ध बाल ॥ २३ ॥
व्याप्त गगनलौं दीप्त अति मुख अरु नेत्र महान।
देख तोहि मम भीत मन धृति शांती नहि मान ॥ २४ ॥

टी०-हे भगवन् आपके बहुतसे मुख तथा नेत्रवाले बहुत ही भुजा तथा पादवाले और बहुतसे उदर तथा भयंकर दाढोंवाले इस उग्र रूपको देखकर सभ दर्शनसमर्थदेवतादिलोग भी भीतहोगए हैं तथा मैं भी भयभीत होगयाहूं ॥ २३ ॥

हे भगवन् आपके आकाशको स्पर्शकरनेवाले प्रकाशमान तेजस्वी नानारंगवाले फाडेहुए मुखवाले दीप्त और विशालनेत्रवाले इस उग्ररूपको देखकर मेरा चित्त अति ही भयभीत होगयाहै अतएव मेरा धैर्य और शांति नष्ट होगएहैं ॥ २४ ॥

मू०-दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालाऽनलसंनिभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

दोहा—दंष्ट्रासों भीषण तथा मुख कालाग्निसमान ।

देख भई मति विकल, जस धीरज हो तस ठान ॥ २५ ॥

टी०--हे भगवन् आपके दंष्ट्राओं (दाढों) से भयंकर तथा कालाग्निके समान घोर-तेजवाले मुखोंको देख मेरी मति विकल होगई है चारोंओर कुछ नहीं सूझता कि किधर पूर्व है किधर पश्चिम है, शांति और धैर्य नष्ट होगए हैं हे जगत्के आधार देवेश प्रसन्न होइए अर्थात् जैसे मेरी विकलता दूर हो वैसे करिए। अपने शांत दर्शन दीजिए ॥ २५ ॥

मू०--अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः

सर्वे सहैवाऽवनिपालसङ्घैः ।

भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ

सहाऽस्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति

दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।

केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु

संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥

दोहा--धृतराष्ट्रके पुत्र इह नृपतिसंघके साथ ।

द्रोण भीष्म अरु कर्ण, वली केउक हमरेउ नाथ ॥ २६ ॥

दंष्ट्रायुत भीषण तव मुखमें गिरते तात ।

कोइक टूटे सिर तहां दशनमध्यमें भात ॥ २७ ॥

टी०--हे भगवन् ये सभ धृतराष्ट्रके पुत्र तथा और भी बहुतसे उनके पक्षके राजा लोग और भीष्म द्रोण तथा कर्ण और कुछेक हमारे पक्षके भी लोग ये सभ बडे वेग=त्वराके साथ आपके विकराल दंष्ट्राओंसे भीषण मुखमें गिर रहे हैं=आ आकार पडरहे हैं, कोइक लोग आपके दंतोंके वीचमें लगेहुए दीखते हैं मानो आप उन सभको चबारहे हैं अतएव उनके सिर टूटकर चूर्ण हुए प्रतीत होते हैं। यह आपका ऐसा भयंकर रूप है ॥ २६ ॥ २७ ॥

मू०–यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः

समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।

तथा तवाऽमी नरलोकवीरा

विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

दोहा—बहत नदीजल जलधिमें जिमि जा जा गिरजात ।
तथा ज्वलित मुखमाहँ तव नरपति वीर समात ॥ २८ ॥
अतिज्वालामय अग्निमें जिमि जा गिरत पतग ।
नाशहेतु नर तव हि मुख पडत वेगके सग ॥ २९ ॥

टी०—हे भगवन् दयानिधे, यथा वडे वेगसे नदिओंके जल समुद्रमें जा जाकर गिरतेहैं तथा ये सभ नरलोकके वीर आपके प्रदीप्त मुखमें आ आकर गिररहे हैं । अर्थात् आप सभका संहार कररहे हैं ॥ २८ ॥

हे कृपानिधे यथा अपने नाशकेलिए वडे वेगके साथ पतंग (दीपकपर पडनेवाले कीट) अति भवकतीहुई अग्निमें जा जा गिराकरते हैं और नष्ट होते हैं तथा अपने नाशकेलिए ये सभ लोक वडे वेगके साथ आपके कालाग्नितुल्य मुखमें आ आकर गिररहे हैं ॥ मैं इन सभ आश्चर्योंको आपकी कृपासे देखरहाहूं ॥ २९ ॥

मू०—लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

दोहा—निगलत तुम सभ लोकको होंठहु चाटत साथ ।
सभ जग व्यापक दीप्ति तव जगहिं तपावत नाथ ॥ ३० ॥
उग्ररूपधरकर आप को, करन चहौ अरु काय ।
जानन चाहौं हौ कहौ, करौ दया सुरराय ॥ ३१ ॥

टी०—हे भगवन् आप अपने जाज्वल्यमान (भभकतेहुए) मुखोंसे लोकोंको निगलते जाते हैं और उनके रुधिरसे भींगेहुए होठप्रभृतिको चाटते जाते हैं । आपका उग्र तेज समग्र लोकोंमें व्याप्त होकर सभ लोकोंको तपारहाहै ॥ ३० ॥

हे भगवन् मैंने तो आपके यथार्थरूपके दर्शनकेलिए ' दर्शयात्मानमव्ययम् ' यह प्रार्थना की थी आपने तो अतिभयंकर रूप धारण करलिआ जिससे ब्रह्मादिक भी सभ लोक तथा मैं भी थर थर कांपताहूं । हे भगवन् देवेश आपको मैं साष्टांग प्रणाम करताहूं प्रसन्न होजाइए कृपा करिए और यह कहिए कि ऐसे उग्र=भयंकररूपको धारण करनेवाले आप कौन हैं तथा आप इस भयंकररूपसे क्या करना चाहते हैं क्यों कि मैं यह नहीं जानसकता कि आप कौन हैं तथा क्या करना चाहते हैं । अर्जुनको यह संदेह होगयाहै कि क्या भगवान् आज ही प्रलय करदेंगे ? ॥ ३१ ॥

श्रीभगवान् उवाच—

मू०—कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥

दोहा—लोकनाशकर कालहौं तिनसंहार मनाउं ।
तुमरे लडने बिनहुं हौं इन सभ नाश बनाउं ॥ ३२ ॥

टी०—हे पार्थ मैं लोकका क्षय=संहार करनेवाला प्रवृद्ध=घोररूपको धारण करनेवाला बढाहुआ काल हूं अर्थात् सभके आयुष्यसमयकी कलना=गणना करनेवाला मृत्यु हूं । और ये जो दुर्योधनादि राजालोग हैं इनका आयुःक्षीण होगयाहै अतएव इनका संहार करनेकेलिए प्रवृत्त हुआहूं । हे पार्थ तू जो युद्धकी उपेक्षा करताहै तथा दुर्योधनादिकनपर दया दिखाताहै यह सभ व्यर्थ है क्यों कि यदि तू युद्ध नहीं करेगा तथा इनको नहीं भी मारेगा तो भी ये सभ नष्ट ही होंगे=मृत्युको प्राप्त होंगे ही क्यों कि मैं इनका संहार करना चाहताहूं ॥ भगवान् प्रथम ही कहचुके हैं—

" परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगेयुगे ॥
यदायदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ " इति ॥ ३२ ॥

मू०—तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४॥

दोहा—तासौं (यासौं) कटि कस जीत अरि विपुल राजको भोग ।
मम मारे ये प्रथम, तव निमित्त मात्र उद्योग ॥ ३३ ॥
द्रोण जयद्रथ कर्ण सम भीष्मादिक जे वीर ।
मैंने मारे मार तिन तू जीते रण धीर ॥ ३४ ॥

टी०—हे पार्थ यदि तुम युद्ध न भी करोगे तो भी तुमारे ये संबंधी लोग मृत्युसे बच नहीं सकते क्यों कि इनकी मृत्युका काल आगया है मैं भी इनका संहार करना चाहताहूं इससे यही श्रेष्ठ है कि तुम युद्धकेलिए कमर कसो (उद्यतहो) शत्रुओंको जीतकर अपने यशको बढावो और विपुल राज्यका भोग करो । हे पार्थ ये दुर्योधनादिक तो मेरी इच्छाहीके कारण मरे ही पडे हैं तुम तो इनके मारनेमें निमित्तमात्र हो । सो तुम इनके मरनेमें निमित्त बनजाओ क्यों कि मेरी इच्छा जिसकामको करतीहै उसमें कोई न कोई लौकिक निमित्त बनालेतीहै सो तुम निमित्त बनजाओ ॥ ३३ ॥

हे पार्थ द्रोण भीष्म जयद्रथ कर्ण तथा और भी दुर्योधन दुःशासन प्रभृति वीर मेरी इच्छासेही मरे पडे हैं उन मेरे मारेहुओंको तू मारडाल अर्थात् इनके मारनेमें तेरेको अधिक श्रम भी नहीं होगा । और इनके मारनेमें तू धर्माधर्मभयसे बंधुस्नेहसे तथा कारुण्यसे व्यथा=दुःख मत मना चिंता भी न कर, सार यही है कि तू युद्ध कर अवश्य ही शत्रुओंको जीतेगा=विजय पाएगा ॥ ३४ ॥

संजय उवाच—

मू०—एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ३५

दोहा-ऐसे हरिके वचन सुन हाथ जोड कर, पार्थ ।
कर प्रणाम भयभीत पुनि वचन कह्यो इह सार्थ ॥ ३५ ॥

टी०-हे राजन् श्रीकृष्णभगवान्के इन वचनोंको सुनकर अर्जुनने हाथ जोडकर प्रणाम करके कांपतेहुए अत्यंत भीत होकर तथा गद्गदकंठ होकर श्रीकृष्णचंद्रको आगेके स्तुतिमय वचन कहे ॥ ३५ ॥

अर्जुनउवाच-

मू०-स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ३६

दोहा-तव महिमासों लोक जो प्रीती हर्ष मनात ।
प्रणमत भागत दैत्य जो, इह मोहि उचित हि भात ॥ ३६ ॥

टी०-हे भगवन् हृषीकेश जो आपके गुणानुवाद तथा नामस्मरणरूप कीर्तनसे महात्मा पुरुष अनुराग करतेहैं तथा प्रसन्न होतेहैं । और आपके भयसे जो राक्षस=दुष्टलोक दूर भागते जातेहैं । और देवता सिद्ध प्रभृति जो आपको साष्टांग प्रणाम करतेहैं यह सभ युक्त=उचित ही है क्यों कि आप ही समग्र प्रपंचके प्रभु हैं । इसीहेतुके आगे कहेंगे ॥ ३६ ॥

मू०-कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत् तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

दोहा-ब्रह्माके हू जनक तुम क्यों न नमै तोहि कोइ ।
तुम जगके आधार, तुंमैं मुक्त असत् सत् जोइ ॥ ३७ ॥

टी०-हे भगवन् ब्रह्मादि देवतागण आपको क्यों न प्रणाम करैं ? क्यों कि आप ही सभसे श्रेष्ठ हैं तथा आप ब्रह्माजीके भी कर्ता=पिता हैं । आप ही अनंत हैं देवोंके भी ईश हैं समग्रप्रपंचके आधार हैं तथा अक्षर=सदा एक स्वरूपसे रहनेवाले अच्युत हैं । और जडवर्ग बद्धजीववर्ग तथा मुक्तजीववर्ग इत्यादि जो पदार्थमात्र हैं वह आप ही हैं अर्थात् आप सर्वत्र व्यापक हैं सभके आधार तथा कारण हैं इस हेतु आपके कीर्तनमें प्रीति करनी आपको प्रणाम करने आपसे डरना यह सभ उचित ही है किं वा यहांपर 'सदसत्' इस शब्दसे कार्यावस्थापन्न तथा कारणावस्थापन्न प्रकृतितत्त्व ही लेना सो नामरूपविभागयुक्त कार्यावस्थापन्न और नामरूपविभागाऽयुक्त कारणावस्थापन्न प्रकृतितत्त्व भगवान् ही हैं ॥ ३७ ॥

मू०-त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ३८॥

दोहा—आदि पुरातन पुरुष तुम तुम सबके आधार।
तुम जानो, तुम ज्ञेय, तुम व्यापक प्राप्य अपार॥ ३८॥

टी०—हे भगवन् आप ही आदिदेव हैं पुराणपुरुष हैं समग्र प्रपंचके परम आधार हैं। आप ही सबको जाननेवाले अंतर्यामी हैं। आप ही वेद्य=ज्ञेय जाननेयोग्य हैं आप ही परधाम=प्राप्य हैं अर्थात् मुमुक्षुलोग जो कुछ अनुष्ठान करतेहैं वह आपकी प्राप्तिकेलिए ही करतेहैं। आप ही सर्वत्र व्यापक हैं तथा आप अनंत हैं=आपका पारावार नहीं॥ ३८॥

मू०—वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोपि नमो नमस्ते ३९
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्याऽमितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोसि सर्वः ४०॥

दोहा—वायु अग्नि यम वरुण तुम शशी चतुर्मुख जोय।
तिनके अरु तुम जनक बहु करौं दडवत तोय॥ ३९॥
आगे पीछे सब हि दिश करौं दडवत तोय।
विक्रम वीर्य अनंत तव, व्यापक तुम सब जोय॥ ४०॥

टी०—हे भगवन् वायु यम अग्नि वरुण चंद्रमा प्रजापति दक्षादिक उनका पिता ब्रह्मा तथा ब्रह्माके भी पिता आप ही हैं। प्रजाके पिता प्रजापति हैं उनके पिता ब्रह्माजी हैं सो ब्रह्माजी प्रजाके पितामह हैं ब्रह्माजीके पिता भगवान् हैं इससे भगवान् प्रजाके प्रपितामह (परदादा) हैं, और भगवान् ही प्रपंचका उपादानकारण हैं इससे समग्र प्रपंच भगवान्का रूप (वपु) है और भगवान् ही प्रपंचके निमित्तकारण हैं इससे समग्र प्रपंचके जनक भी भगवान् ही हैं हे भगवन् आप ऐसे हैं सो मैं आपको बारबार अनेक साष्टांग प्रणाम करताहूं॥ ३९॥

हे भगवन् हे सर्व=सर्वस्वरूप! मैं आपके आगे पीछे तथा चारों ओर साष्टांग प्रणाम करताहूं। हे भगवन् आपके वीर्य=ज्ञानबलैश्वर्यादि गुण अनंत हैं तथा विक्रम=पराक्रमभी अनंत हैं। सर्वं समाप्नोपि=आप ही सबके अंतर्यामी हैं, समग्र प्रपंच आपका ही शरीर भूत है। अतएव आप ही सब हैं=सर्वशब्दवाच्य हैं॥

अभिप्राय यह है कि यथा देवदत्तादिशब्द केवल उस उस शरीरके वाचक नहीं किंतु जीवात्माके सहित शरीरके वाचक हैं सो देवदत्तादिशब्दोंसे शरीरसे लेकर आत्मातकका बोध होताहै अतएव देवदत्तादिशब्दोंका जीवात्मातक वाच्य है एवं जीवात्मामें भी रहनेवाला अंतर्यामी श्रीनारायण है सो समग्र शब्द अंतर्यामीतकको बोधन करते हैं

अतएव श्रीनारायण ही समग्र शब्दोंका वाच्य है एवं घटपटादिशब्दोंमें भी समझना इस हेतु उपनिषदोंमें कहीं रुद्रशब्द कहाहै कहा शिवशब्द कहा है कहीं नारायणशब्द कहाहै सो सभी शब्दोंका वही भगवान् वाच्य होनेसे दोष नहीं अन्यथा भारी विरोध आपडेगा=समग्र वेदांतोंका परमात्मामें समन्वय नहीं होसकेगा इसहेतु सभशब्दोंका वहीं परमात्मा श्रीनारायण ही वाच्य है यहीबात यहां अर्जुनने सर्व शब्दसे कहीहै ॥ ४० ॥

मू०–सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥४१॥
यच्चाऽवहासार्थमसत्कृतोसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ४२॥

दोहा–तव महिमा ना जानकर प्रमाद प्रीतिसों जोय ।
जान सखा अजगुत कह्यौ कृष्ण सखे इति तोय ॥ ४१ ॥
हँसी खेलमें आपके करे निरादर जोय ।
विनय करौ अपराध मन करौ क्षमा सभ सोय ॥ ४१ ॥

टी०–हे भगवन् मैं आपकी इस महिमाको नहीं जानताथा कि आप समग्र प्रपंचके प्रभु हैं अतएव मैंने प्रमादसे किं वा स्नेहसे आपको सखा समझकर प्रसभं=अविनयसे जो हे कृष्ण हे यादव हे सखे इत्यादिक संबोधन वचन कहे तथा जो मैंने उक्त अज्ञानसे ही विहारके समय शयनके समय एकत्र बैठनेके समय और भोजनादिके समय हँसीखेलसे आपका निरादर किआ वह निरादर भी कभी एकांतमें भी किआ कभी सभके संमुख भी किआ सो हे भगवन् मैं उन अपने अपराधोंको आपसे क्षमा कराताहूं कृपाकर मेरे उन अपराधोंको क्षमा करदीजिए आप दयाके सागर हैं ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

मू०–पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्चगुरुर्गरीयान् ।
नत्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्योलोकत्रयेऽप्यऽप्रतिमप्रभाव ४३॥
तस्मात् प्रणम्य प्रणिधायकायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ४४

दोहा- सकल जगत कारण तुम गुरु अरु पूज्य महान ।
तुम सम और न दूसरो अधिक कहां गुणखान ॥ ४३ ॥
तासौं कर दडौत हौ तोहि मनाओ नाह ।
पिता सखा प्रिय इव करौ मोरे माफ गुनाह ॥ ४४ ॥

टी०- हे भगवन् आप इस समग्र चराचर प्रपंचके आदिकारण हैं पूज्य हैं गुरु हैं तथासभसे श्रेष्ठ हैं आपका प्रभाव ऐसा है कि उसकी कोई उपमा ही नहीं अतएव

समग्र ब्रह्मांडोंमें आपके तुल्य भी कोई नहीं और आपसे अधिक तो किसने होनाथा । श्रुति भी कहतीहै–"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्" "यस्मात्परं नापरमस्ति किंचित्" "तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् । पतिं पतीनां परमं परस्तात् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्" "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानवलक्रिया च," इत्यादि ॥ ४३ ॥

हे भगवन् इन सभ कारणोंसे मैं साष्टांग प्रणाम करके आपसे अपने अपराधोंकी क्षमाको तथा आपकी कृपाको चाहताहूं हे देव यथा पिता पुत्रके अपराधोंको क्षमा करताहै मित्र मित्रके अपराधोंको क्षमा करताहै तथा आपको भी मेरे अपराधोंको अवश्य क्षमा करना चाहिए ॥ ४४ ॥

मू०–अदृष्टपूर्वं हृषितोस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

दोहा–अनदेखौ तव रूप हौं देख मुदित अरु भीत ।
कर प्रसाद वह आपनो रूप दिखाव सुरीत ॥ ४५ ॥
सिर किरीट, कर चक्र अरु गदा चारु भुज चार ।
लखन चहौं वह आपको सुंदर रूप अपार ॥ ४६ ॥

टी०–हे भगवन् मैंने आजतक आपका ऐसा उग्र रूप कभी नहीं देखाथा सो अदृष्टको देखकर मुझे हर्ष भी बहुतसा हुआहै और भयके कारण मैं व्याकुल भी होरहाहूं सो हे देवेश प्रसन्न होकर अपने उसी सौम्यरूपका दर्शन कराओ ।

हे भगवन् आपके सिरपर किरीट हो हाथोंमें शंख चक्र गदा हों चार भुजा हों ऐसे अपने प्रथमके रूपको धारण कीजिए अब मैं उसीके दर्शन करना चाहताहूं ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

श्रीभगवानुवाच–

मू०–मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

दोहा–तोहि दिखायौ प्रीतिकर परम आपनो रूप ।
अनंत तेजमय कोउ जो और न देख्यौ भूप ॥ ४७ ॥

टी०–हे पार्थ मैंने तेरी भक्तिसे प्रसन्न होकर अपना तेजोमय विश्व=सर्वात्मभूत आदि मध्य अंतरहित पर रूप आत्मयोगात्=अपनी इच्छासे तेरेको दिखायाहै मेरा यह

रूप आजतक तेरे विना और कोईने नहीं देखा। मैं सत्यसंकल्प हूं इसहेतु मेरी इच्छा होते ही मेरे इस रूपके तेरेको दर्शन होगए ॥

यद्यपि जब भगवान् युधिष्ठिरके दूत बनकर हस्तिनापुरमें गएहैं तो दुर्योधनकी यह इच्छा हुई कि श्रीकृष्णचंद्रको कैद करलो तब आप ही पांडव निराश होकर युद्धसे हटजाएँगे उससमय भी भगवान्ने अपना घोर रूप दिखायाहै। उद्योगपर्वमें कहा भी है–

" विदुरेणैवमुक्तस्तु केशवः शत्रुपूगहा।
दुर्योधनं धार्तराष्ट्रमभ्यभाषत वीर्यवान् ॥
एकोहमिति यन्मोहान्मन्यसे मां सुयोधन।
परिभूय सुदुर्बुद्धे ग्रहीतुं मां चिकीर्षसि ॥
इहैव पाण्डवाः सर्वे तथैवान्धकवृष्णयः।
इहादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च सहर्षिभिः ॥
एवमुक्त्वा जहासोच्चैः केशवः परवीरहा।
तस्य संस्मयतः शौरेर्विद्युद्रूपा महात्मनः ॥
अङ्गुष्ठमात्रास्त्रिदशा मुमुचुः पावकार्चिषः।
अस्य ब्रह्मा ललाटस्थो रुद्रो वक्षसि चाभवत् ॥" इत्यादि
" तं दृष्ट्वा घोरमात्मानं केशवस्य महात्मनः ॥
न्यमीलयन्त नेत्राणि राजानस्त्रस्तचेतसः ॥ " इत्यंतम्।

तथापि जैसा कुछ अर्जुनको विश्वरूप दिखायाहै वैसा वहां नहीं दिखाया किंतु वहां तो देवता तथा और वीरोंका सांनिध्यमात्र दिखायाहै इसीसे भगवान् कहतेहैं– " यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् " इति ॥ ४७ ॥

मू०–न वेदयज्ञाऽध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

दोहा–तुम मम देख्यौ रूप जो और न कोउ लखात।
वेद यज्ञ अध्ययन तप दान कर्मसों तात ॥ ४८ ॥
तोहि भय मोह न होय मम उग्र रूपको देख।
मुदित होय निर्भय वही रूप सौम्य मम पेख ॥ ४९ ॥

टी०–हे पार्थ तुमने मेरे जिस रूपके दर्शन पाएहैं मेरे इसरूपके दर्शन वेदाध्ययन यज्ञकांडाध्ययन दान कर्म तथा उग्र तपसे भी प्राप्त नहीं होसकते और न तुमारे विना और कोई इसरूपके दर्शनको पा ही सकताहै ॥

हे पार्थ मेरे इस उग्ररूपके दर्शनसे जो तेरेको भय और विकलता प्राप्त हुएहैं ये सब दूर होजाएं इसहेतु फिर मैं तेरेको उसी (मानुष) रूपका दर्शन कराताहूं सो तू भयको छोड हर्षसे फिर मेरे उसी (मानुष) रूपको देख ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

संजय उवाच-

मू०-इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं
दर्शयामास भूयः । आश्वासयामास च
भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

दोहा-अर्जुनको इस विध कह हरी चतुर्भुजरूप ।
कर दिखाय भय दूर कर दीन भरोसो भूप ॥ ५० ॥

टी०-हे राजन् इस प्रकारसे उक्तवचनोंको कहकर श्रीभगवान्ने अपने सौम्य चतुर्भुजरूपका दर्शन दिआ । तथा उग्ररूपदर्शनसे व्याकुल अर्जुनका बहुत आश्वासन (तसल्ली) किआ कि तू डर मत मेरे इस रूपका दर्शन सहज नहीं तेरी भक्तिके कारण तेरे हितकेलिए मैंने तेरेको इस रूपका दर्शन करायाहै तेरा अवश्य विजय होगा तू युद्ध कर इत्यादि ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच—

मू०-दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

दोहा-देख रूप मानुष तव सुंदर सौम्य सुजान ।
मन शांती धीरजलहे अब चित भयो ठिकान ॥ ५१ ॥

टी०-हे भगवन् आपके इस मानुष सौम्य रूपका दर्शन पाकर मेरा चित्त ठिकाने आयाहै भय दूर हुआहै ॥ ५१ ॥

मू०-सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥ ५२ ॥

दोहा-जो तुम देख्यौ रूप वह काहूं नाहि दिखात ।
देव लोक हू चाहते दर्शन तिस नहि पात ॥ ५२ ॥

टी०-हे पार्थ तैने मेरे जिस विश्वरूपके दर्शन किए हैं इस रूपके दर्शन बहुत ही दुष्प्राप हैं । देवतालोग भी सदा इस रूपके दर्शनकी इच्छा रखते हैं किं तु उनको भी यह दर्शन प्राप्त नहीं होता ॥ ५२ ॥

मू०-नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

दोहा--जो तुम मेरो रूप यह देख्यौ अद्भुत तात ।
वेद दान तप योगसों कोउ न देख सकात ॥ ९३ ॥
किं तु अनन्य हि भक्तिसों ऐसो मेरो रूप ।
देखत जानत लहत है कोइक भक्त अनूप ॥ ९४ ॥

टी०--हे पार्थ तुमने जिसरीतिसे मुझे जैसा कुछ देखाहै, वेदाध्ययनाध्यापन प्रवचन तप दान तथा यज्ञादिकोंसे भी कोई भी मुझे इस रीतिसे ऐसे नहीं देख सकता किं तु मेरा ऐसा दर्शन केवल एक अनन्य भक्तिसे ही प्राप्त होसकताहै तथा अनन्य भक्तिसे ही मेरे भक्त मेरे यथार्थ स्वरूपको जानसकते हैं और मुझे प्राप्त होसकतेहैं ॥ श्रुति भी कहतीहै-"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्" "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्" "पराचः कामाननुयन्ति बालाः" इत्यादि ।

तथा--"मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते"
"भक्त्योद्धवानपायिन्या सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सर्वोत्पत्त्यप्ययं ब्रह्म कारणं मोपयाति सः ॥"
"मन्ये धनाऽभिजनरूपतपःश्रुतौजस्तेजः प्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय ॥"
"न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
"न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥"
"भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि संभवात् ॥" इत्यादि॥९३॥९४॥

मू०-मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

दोहा--द्वेष राग तज करत है मम उपासना जोय ।
मम हि लाभ चितलाय अरु प्राप्त हो मोहि सोय ॥ ९५ ॥

टी०--हे पार्थ, मत्कर्मकृत्=जो पुरुष नित्य नैमित्तिक कर्मोंको मेरा आराधन समझकर करता है, मत्परमः=सब कर्मोंमें मेरेको ही उद्देश्य समझताहै, संगवर्जितः=मेरे बिना और किसी भी पदार्थमें प्रीति नहीं रखता, तथा किसी भी जीवके साथ वैर नहीं करता अर्थात् राग और द्वेषसे रहित है, ऐसा जो मेरा भक्त होताहै वही मेरेको प्राप्त होताहै । किं वा वही सदा मेरा ही एक अनुभव करताहै ॥ ५५ ॥

इति पंचनदीयपंडितसुदर्शनाचार्यशास्त्रिप्रणीत भवद्गीतासतसई तथा तत्त्वार्थसुदर्शनी-टीकासहित श्रीमद्भगवद्गीताका एकादशाध्याय समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

॥ श्रीः ॥

अथ द्वादशाध्याय ।



अर्जुन उवाच--

मू०--एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

दोहा--केउक तव हि उपासना भक्त करत नित तात ।
जीव उपासत कोउ, तिन कौन तुरत फल पात ॥ १ ॥

टी०--अर्जुनने भगवान्‌के जिस रूपके देखनेकी इच्छा की थी भगवान्‌ने अपने उस रूपको कृपाकर दिखादिआ, और भगवत्‌का ज्ञान दर्शन तथा प्राप्ति भगवान्‌की अनन्यभक्तिसे ही प्राप्त होते हैं यह भी "नाहं वेदैः" इत्यादिसे कहदिआ। यद्यपि भक्ति ज्ञानानंतर ही होतीहै तथापि भक्ति और ज्ञान परस्पर सापेक्ष पदार्थ हैं किंचित ज्ञान होनेसे भक्ति होती है भक्तिसे फिर ज्ञान बढताहै ज्ञानसे फिर भक्ति बढती है। और भगवत्‌का जो ऐश्वर्य तथा अनंतकल्याणगुणयुक्ततापूर्वक यथार्थ ज्ञान है वह भक्तिके विना नहीं होता वस्तुगत्या वह ज्ञान भगवान्‌का मानसिक साक्षात्कारस्वरूपहै इसी ज्ञानको यहांपर श्रीरामानुजस्वामीने भक्तिसाध्य कहाहै और भगवान्‌ने भी-

"भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥"

यहां पर कहाहै । भक्तिकी उत्पत्तिकेलिए इस साक्षात्कारस्वरूप ज्ञानकी अपेक्षा नहीं किंतु किंचित् (माहात्म्यादिरूप) ज्ञानकी अपेक्षा है ।

मोक्षके दो साधन हैं एक तो जीवात्माका साक्षात्कार द्वितीय भगवदुपासना उनमेंसे भगवदुपासना श्रेष्ठ है तथा सुखसाध्य भी है और आत्मसाक्षात्कारकी अपेक्षा भगवदुपासनासे मोक्षप्राप्तिरूप फल शीघ्र भी प्राप्त होताहै अर्थात् यदि मोक्ष वर्तमान शरीरपातानंतर प्राप्त न होकर प्रतिबंधक वशसे जन्मांतरमें प्राप्त होगा तो आत्मोपासककी अपेक्षा भगवदुपासकको कम ही जन्म लेने पडेंगे । और भगवदुपासनाके उपाय क्या क्या हैं ? और जो लोग भगवदुपासनामें अशक्त हैं उनकेलिए जीवात्मसाक्षात्कार करना तथा जीवात्मसाक्षात्कारके उपाय इत्यादिविषयोंको श्रीभगवान् अब कहतेहैं ।

एवमिति—अर्जुन पूछतेहैं कि हे भगवन् जो पुरुष निरंतर भक्तिपूर्वक आपकी उपासना करते हैं तथा जो अव्यक्त=नेत्रादिके प्रत्यक्षायोग्य अक्षर=जीवात्माकी उपासना=विवेकज्ञानादिरूप साक्षात्कारको संपादन करतेहैं उन दोनों दलोंमेंसे कौन पुरुष योगवित्तम=उत्तमयोगी हैं अर्थात् कौन मोक्षरूपफलको शीघ्र पाते हैं ? ।

यद्यपि अक्षरशब्द जीवात्माका तथा परमात्माका तुल्य ही बोधक है तथापि परमात्मा निर्गुण नहीं है किं तु अनंतकल्याणगुणोंका समुद्र है इस हेतु परमात्मा निर्गुण है ही नहीं जिसका यहां अक्षरशब्द बोधक होसके। और वेदांतमें परमात्मोपासनासे तथा जीवात्मसाक्षात्कारसे मोक्ष कही है सो दोनों ही मोक्षके साधन हैं इससे इनी दोनों साधनोंके तारतम्यज्ञानकेलिए अर्जुनने प्रश्न किआहै इसहेतु यहांपर अक्षरशब्द जीवात्माका ही वाचक है । यहांपर जो मधुसूदनजीने इसप्रश्नको सगुणब्रह्मोपासना और निर्गुण ब्रह्मोपासनापर लगायाहै वह सब अशुद्ध है क्योंकि परमब्रह्म निर्गुण नहीं इसबातको प्रथम ही प्रतिपादन करदिआहै जब कि घटपटादि तुच्छपदार्थ भी गुणहीन नहीं तब सकलजगदीश्वर गुणहीन हो यह कैसे संभावना होसकताहै । यदि अर्जुनका अभिप्राय सगुणोपासना तथा निर्गुणोपासनाके ही तारतम्यज्ञानकेलिए होता तो अर्जुन "एवं सततयुक्ता ये" इसरीतिसे प्रश्न न करते किं तु 'एवं सततयुक्ता ये सगुणं त्वामुपासते निर्गुणं चापि ये के चित् तेषां के योगवित्तमाः' अर्थात् आपकी जो सगुणरूपकी तथा कोई निर्गुणरूपकी उपासना करतेहैं उनमेंसे कौन श्रेष्ठ हैं ऐसा प्रश्न करते ऐसा तो किया नहीं इसहेतु यहां निर्गुणोपासनाका प्रस्ताव नहीं और जब कि परब्रह्म निर्गुण हो नहीं किंतु अनंतकल्याणगुणसागर हैं तब निर्गुणोपासना आवेगी कहांसे । और अद्वैतमतमें निर्गुणोपासना ही प्रधान है यहांपर मधुसूदनजीने "भक्तास्त्वां पर्युपासते" इस वाक्यको सगुणोपासनाप्रश्नपर लगाया है आगे भगवान्ने "मय्यावेश्य" इस उत्तरमें इसी उपासनाको ही श्रेष्ठ कहा है सो अद्वैतवादसे विरोध पडताहै इससे भी यहां निर्गुणोपासनाका प्रस्ताव नहीं अन्यथा भगवान् अक्षरोपासना (निर्गुणोपासना) को ही उत्तरमें श्रेष्ठ कहते । यदि कहो कि अभी अर्जुनका निर्गुणोपासनामें अधिकार नहीं इस हेतु भगवान्ने अपनी सगुणोपासनाको श्रेष्ठ कहाहै जो अर्जुन सगुणोपासनाका अनुष्ठान करे यह भी मधुसूदनजीका लेख ठीक नहीं क्योंकि अर्जुनने यह नहीं पूछा कि मेरेलिए कौनसी उपासना श्रेष्ठ है किं तु सामान्यतः उपासनाओंका तारतम्य पूछाहै इसहेतु उनके मतसे निर्गुणोपासनाको ही श्रेष्ठ कहनाथा सो नहीं कहा इससे यहांपर उनके मतसे भी निर्गुणोपासनाका प्रस्ताव संगत नहीं । और जब कि आप मोक्षप्राप्ति निर्गुणोपासनासे ही मानतेहैं तो सगुणोपासना किस हेतु स्वीकार करते हैं ? यदि कहो चित्तशुद्धिकेलिए तो तुमारे मतमें वे सब गुण परमात्मामें कल्पित हैं अर्थात् भ्रांतिज्ञानप्रतिपन्न हैं यह कहना ही पडेगा सो भ्रांतिज्ञानप्रतिपन्न गुणोंसे युक्त परमा-

त्माके उपासनासे चित्तकी शुद्धि होनी असंभव है और इसमें कोई प्रमाण भी नहीं क्यों कि यद्यपि भ्रांतिप्रतिपन्नपदार्थको तज्ज्ञानजनकता तो है किं तु कार्यसाधकता नहीं होसकती अन्यथा शुक्तिरजतका भी आभूषण बनजाय । एवं भ्रांतिप्रतिपन्न भगवद्गुणोंसे चित्तकी शुद्धिरूप कार्य हो नहीं सकता और भगवान् अनंतकल्याण-गुणसागर हैं इससे निर्गुणोपासना कोई पदार्थ ही नहीं जिसका यहां प्रस्ताव हो । इसहेतु यहां पर भगवदुपासना और जीवात्मसाक्षात्कारके परस्पर तारतम्य ज्ञानके लिए ही अर्जुनका प्रश्न है ॥ १ ॥

श्रीभगवान् उवाच–

मू०–मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

दोहा–मोमें चित्त लगायके परश्रद्धा युत जोय ।
मोहि उपासत, पात्र तो मम प्राप्ति फल सोय ॥ २ ॥

टी०-हे पार्थ तैने जो मेरे भक्तोंका तथा जीवात्मसाक्षात्कारवालोंका तारतम्य पूछा सो उनमेंसे परमश्रद्धासे मेरेमें चित्त लगायके जो सदा मेरी उपासना करतेहैं वे मेरे भक्त ही मेरी जानमें श्रेष्ठ हैं अर्थात् मेरी प्राप्तिरूप फलको शीघ्र पातेहैं। भगवान् आगे भी कहेंगे--

"भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्" इति ।

कह भी चुकेहैं–

" योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः" इति ।

यथा जिसकिसी फलकेलिए राजसेवा किं वा अमात्यसेवा पृथक् पृथक् स्वतंत्ररूपसे साधन है वहां अमात्यसेवाकी अपेक्षा राजसेवा ही प्रशस्त है एवं भगवान् प्रभु ईश्वर है जीवात्मा उसका दास है मोक्षकेलिए दोनोंकी ही उपासना स्वतंत्ररूपसे कारण है किं तु जीवात्मोपासनाकी अपेक्षा भगवान्की उपासना ही श्रेष्ठ है और दोनोंके फलमें भी बहुतसा भेद है ॥ २ ॥

मू०–ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येंद्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

दोहा–अचल नित्य अव्यक्त ध्रुव जीवात्माकी जोहि ।
पर उपासना करत हे प्रापत हो सोउ मोहि ॥ ३ ॥

इंद्रियँको विषयादिसे रोक सकल सम जान ।
सर्व भूतहितरत तथा मोहि प्रापत हो मान ॥ ४ ॥

टी०-हे पार्थ जो लोग अनिर्देश्य=देहादिसे विलक्षण होनेसे जो देवमनुष्यादि शब्दव्यपदेशयोग्य नहीं, अव्यक्त=नेत्रादिका अविषय, सर्वत्रग=देवादिसकलदेहमें रहनेवाला, अचिंत्य-जीवात्मा कैसाहै इस विचारके जो योग्य नहीं, कूटस्थ=समग्र देहोंमें भिन्न भिन्न होनेपर भी एकसमानरूपवाला, अचल=अपने स्वरूपसे जो चलित (रहित=हीन) नही होता, ध्रुव=नित्य, ऐसे (ऐसे स्वरूपवाले) अक्षर जीवात्माकी इंद्रियग्रामको विषयोंसे रोककर समग्र जीवमात्रको एकस्वरूपजाननेवाले तथा सबके हित करनेकी इच्छा रखनेवाले उपासना=साक्षात्काररूपा करतेहैं वे भी मेरेको ही प्राप्त होतेहैं । अर्थात् जो पुरुष अपने जीवात्माके साक्षात्कारको संपादन करतेहैं वे भी मेरे ही परम धाम श्रीवैकुंठको प्राप्त होतेहैं । यहांपर सर्वत्रग इस पदसे सर्वव्यापकता नहीं लेनी क्यों कि जीवात्मा अणु है यह प्रथम ही प्रतिपादन करदिआहै । किंतु सर्वशरीरांतःप्रवेश ही विवक्षित समझना । अचलपदसे भी गतिराहित्य नहीं जानना किंतु स्वरूपका अक्षय समझना प्रथम ही कहदिआहै कि यह जीवात्मोपासनाका एक पक्षमें प्रस्ताव है । अर्जुनके इसी जीवात्मोपासनाके प्रश्नका भगवान्ने यह उत्तर दिआहै अतएव सर्वत्रग अचल इत्यादि शब्दोंका उक्तरीतिका ही अर्थ ठीक है. जो अणु जीवात्मामें घटजाए । जीवात्मा अणु है भगवान्से भिन्न हैं अनंत हैं इत्यादि विषय प्रथम ही अच्छीतरह प्रतिपादन करदिआहै ।

वेदांतसूत्रकारने इस विषयका विचार उठायाहै कि किस किसकी मोक्ष होतीहै इसपर वेदव्यासने यही सिद्धांत किआहै कि जो पुरुष परमात्माकी उपासना करता है और जो पुरुष जीवात्माका प्रकृतिवियुक्तरूपसे साक्षात्कार करताहै उन दोनोंकी ही मोक्षहोती है । प्रकृतिवियुक्तात्मसाक्षात्कारवालेकी मोक्षको श्रुति भी कहती है-"तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेर्चिषमभिसम्भवन्ति " इति । इस श्रुतिसे पंचाग्निविद्योपासककी मोक्ष कही है पंचाग्निविद्या तो जीवात्माकी ही उपासना है। अद्वैत जो निर्विशेषपरब्रह्मके ही ज्ञानसे मोक्ष मानतेहैं उनके इस नियममे "तद्य ये"इत्यादि श्रुतिएं ही विरोध करतीहैं । और जो वे कहतेहैं कि सगुणोपासनासे ब्रह्माजीके लोकमें जीव जाताहै वहां निर्विशेषपरब्रह्मका साक्षात्कार करके ब्रह्माजीके साथ ही मुक्त होताहै इस नियममें कोई प्रमाण नहीं । ब्रह्माजीको ही प्राप्त होकर उनके साथ जीव मुक्त होताहै इस नियममें " असमाच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते "यह श्रुति विरोध करतीहै क्यों कि यह श्रुति परमात्मोपासककी सीधी श्रीवैकुंठमें प्राप्तिको कहरहीहै ॥ ३ ॥ ४ ॥

मू०-क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

दोहा—जीवोपासक लोकको क्लेश अधिकतर होय ।
देहजीवमतिमानको दुखसों सिद्ध हो सोय ॥ ५ ॥

टी०-किं तु जीवात्मसाक्षात्कारसंपादनमें क्लेश अधिक है क्यों कि देहमें आत्माभिमान रखनेवाले संसारी जीवोंको अव्यक्ता गति = जीवात्माके स्वरूपमें मनको लगाना बडा दुःखसे होताहै ।

जिसरीतिसे और लोग कहतेहैं कि सोहं यह जीवसाक्षात्कार है सो यहां नहीं जानना वे लोग सोहं सोहं पदसे अपनेको परब्रह्म बताते हैं सो सब अशुद्ध है क्यों कि जीव परब्रह्मसे भिन्न पदार्थ है । किं तु जीव प्राकृत दुःखोंसे तथा प्रकृतिसंबंधसे रहित है अणु है सर्व देहोंमें एकस्वरूप है उस जीवके भी भीतर परमात्मा अंतर्यामीरूपसे विराजमान है इत्यादि जीवधर्मोंसे जीवका साक्षात्कार होना चाहिए सो बडा कठिन है क्यों कि देहात्माभिमानके कारण जीवके उस स्वरूपका साक्षात्कार होना असाध्यसा ही है, देहात्माभिमानसे देहगत दुःखोंको सब कोई जीवमें मान रहेहैं उसपर भी यह कठिन हैं कि जीवका अंतर्यामि श्रीनारायण है सो जीवात्माका साक्षात्कार उसके अंतर्यामी तक पहुंचना चाहिए।

इन चारों श्लोकोंका यह अभिप्राय है कि परमात्मोपासक तथा जीवात्मोपासक दोनों ही परमधामको प्राप्त होतेहैं किं तु जीवात्मोपासना कठिन है और परमात्मोपासना उससे सहज भी है और शीघ्र फलप्रद होतीहै इससे परमात्मोपासना ही श्रेष्ठ है॥ वस्तुगत्या तत्क्रतुन्यायसे परधाममें स्वरूपाविर्भावकेलिए परमात्मोपासकको भी जीवात्माके आनंदस्वरूपादिका साक्षात्कार संपादन करना चाहिए ही ॥ ५ ॥

मू०-ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

दोहा--सकलकर्मको छोड फल मो उद्देश्य मनाय ।
कर्म करै, इकमन तथा मेरो ध्यान लगाय ॥ ६ ॥
मम उपासना करत जो भवसागरसो तात ।
तुरत तिन्है परधाममे अपने पास बुलात ॥ ७ ॥

टी०-हे पार्थ जो पुरुष लौकिक तथा वैदिक समग्र कर्मोंको मेरेको समर्पण करके अर्थात् उन कर्मोंका कर्ता कारयिता तथा उद्देश्य मेरेको ही समझ फलेच्छाको त्याग

कर करते हैं तथा अनन्यचित्तसे अनन्य भक्तिसे मेरा ध्यान करतेहुए मेरी उपासना करतेहैं मेरेमें ही सदा चित्तको लगाए रहते हैं उन पुरुषोंका मैं शीघ्र ही जन्ममरण-रूपी संसारसागरसे उद्धार करके अपने परधाममें बुलालेताहूं ॥ कहा भी है-

" जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि ॥ "
इत्यादि ॥ ६ ॥ ७ ॥

मू०-मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

दोहा-प्राप्य समझ इक मोहिको मोमें चित्त लगाय ।
तुरत हि मो ढिग आयगो इसविध भक्ति वनाय ॥ ८ ॥

टी०-हे पार्थ तू मेरेमें ही मन लगा अर्थात् सदा मेरा स्मरण कर और बुद्धिको भी मेरेमें ही लगा अर्थात् मैं ही परमप्राप्य पदार्थ हूं यह निश्चय कर इस रीतिसे मेरेमें मन और बुद्धिको लगाकर उसका परिपाक होनेपर मेरेको ही प्राप्त होजायगा इसमें कुछ संदेह नहीं स्मृति यथा-

" यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥ " इति ॥ ८॥

मू०-अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

दोहा-मोमें चित्त लगान की जो समरथ नहिं तोर ।
तौ प्रीतीयुतध्यानसौं प्राप्ति सिद्ध कर मोर ॥ ९ ॥

टी०-हे पार्थ यदि तू मेरेमें अभी चित्तको स्थिर नहीं करसकता तो अभ्यासयोगेन=स्मरणाभ्यासयोगसे मेरेको प्राप्त होनेकी इच्छा कर ॥ चित्त बडा चंचल है यह सहजमें पारमार्थिक विषयमें नहीं लगता कहा भी है "चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी वहति पापाय वहति श्रेयसे" अर्थात् चित्त नदीके तुल्य है यह पापकी ओर भी जाता है पुण्यकी ओर भी जाता है किं तु पापकी ओर नीची है और पुण्यकी ओर ऊंची है सो यथा जल नीची ओर झट चला जाता है ऊंची ओर बडे क्लेशसे चढता है एवं मन भी पापकी ओर झट चला जाता है, पुण्यकी ओर क्लेशसे जाता है सो जिस पुरुषका चित्त भगवत्में न लगे उस पुरुषको स्वाभाविक अनवधिक अतिशयित सौंदर्य सौशील्य सौहार्द वात्सल्य कारुण्य माधुर्य गांभीर्य सत्यकामत्व तथा सत्य-संकल्पत्वाद्यनेक कल्याणगुणगणाकर श्रीनारायणका स्मरण करना चाहिये उस

स्मरणाभ्यासरूपी योगसे चित्त स्थिर होकर भगवान्में लग जायगा तब भगवत्प्राप्ति भी सहज होजायगी । अभिप्राय यह है कि भगवान्के गुणोंके स्मरणसे चित्त स्थिर होजायगा तब तद्गुणोंसे विशिष्ट भगवान्में भी स्थिर होकर चित्त लग जायगा ॥ ९ ॥

मू०-अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

दोहा-ध्यानाभ्यास हु की तोहि जो समरथ नहि राय ।
तौ कर सेवा विविध मम ताहूसों मोहि पाय ॥ १० ॥

टी०-हे पार्थ यदि तू उक्त मदीयस्मरणाभ्यासरूप योगका भी अनुष्ठान नहीं करसकता=उसमें भी असमर्थ है तो तू मेरे मंदिरमें दीपारोपण मार्जन लेपन पुष्पाहरण पूजन नामसंकीर्तन प्रदक्षिणा साष्टांगप्रणामादिरूप मेरी सेवा कर इस प्रकार मेरी सेवा करनेसे भी सिद्धि=फलको प्राप्त होजायगा अर्थात् मेरी इस सेवासे मेरे स्मरणमें चित्त लगेगा तब मेरेमें स्थिर होजायगा तब तू मेरेको प्राप्त होजायगा ।

जो आज कालके नास्तिकज्ञानी भगवत्सेवाकी निंदा करते हैं उन्हें भगवान्के इस वचन पर ध्यान देना चाहिए जैसी जिसकी सामर्थ्य हो उसे वैसी अवश्य ही भगवान्की सेवा करनी चाहिए । इसमें मथुराके सेठ राधाकृष्ण एक उत्तम उदाहरण हैं उस भाग्यवान्ने अपना तन मन धन जैसा कुछ भगवत्भागवताचार्य सेवामें लगाया है वैसा औरको लगाना कठिन है श्वेतद्वीपके सिवाय इसदेशमें ऐसा किसीने लगाया भी नहीं है अन्यत्रभी कहा है-

" इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजन् ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥ " इति ।

अर्थात् भगवत्चरणकी सेवा करनेवाले भागवतको लौकिक विषयोंसे वैराग्य भगवान्का ज्ञान तथा भक्ति प्राप्त होजातेहैं तब तो परमधामकी प्राप्ति होजाती है । तथा—

" बाह्यैस्तथान्तःकरणैश्च किं वा यो नार्चयेत्केशवमीशितारम् ।
पुष्पैश्च पत्रैर्जलपल्लवादिभिर्नूनं स मुष्टो विधितस्करेण ॥ " इति ।

अर्थात् जो भगवान्की कुछ भी सेवा नहीं करता उसे विधाताने ठगा है ।

गही सुपान सुजानकी रतन मयी दिखलाय ।
दूर हटाई चतुर वर कौडिन लोभ दिखाय ॥
कौडिन लोभ दिखाय हरे सभ रतन अनोखे ।
मूरख काच खरीदै दै मुक्तामणि चोखे ॥
निपट कठोर ठगै हरि हरि मति मोह बढाई ।

नयन मूंद नर पायठगी विधि जोरी भली वनाई ॥ इति मम ।
"अतत्त्वं कुरुते तत्त्वं तेन मोहयते प्रजाः" इति महाभारतमें ॥ १० ॥

मू०-अथैतदप्यशक्तोसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

दोहा-जो मम सेवा हूं नहीं तोसे तात वनात ।
त्याग फलेच्छा कर्म कर तासों हू मोहि पात ॥ ११ ॥

टी०-हे पार्थ यदि तू मद्योगमाश्रितः=मेरेमें भक्ति (प्रीति) लगाकर उक्त मेरी सेवा करनेमें भी असमर्थ है तो तू अपने जीवात्माका अनुसंधान करके कि जीवस्वरूपेण कर्ता नहीं किंतु गुणोंके संगसे ही कर्ता है इत्यादिक जीवस्वरूपानुसंधानपूर्वक तथा फलप्राप्तिकी इच्छाको छोड कर्मको कर अर्थात् जो तू यज्ञादिकर्म करता है उनके फलकी इच्छाको त्याग दे । कर्मफलेच्छात्यागसे चित्त विषयोंसे रुककर अवश्य ही मेरेमें लगेगा । तब वैकुंठप्राप्ति सहज होजायगी ।

जो पुरुष झट भगवान्में चित्तको लगाकर परमभक्तियोगका अनुष्ठान नहीं करसकता उसकेलिए परमकरुणामय भगवान्ने इन तीन श्लोकोंसे उत्तरोत्तर सहज तीन उपाय कहे हैं यह भगवान्की परम दयालुता है जो उत्तरोत्तर सहज उपायोंको बता रहे हैं । चित्तको लगानेकी अपेक्षा स्मरणाभ्यास योग सहज है उससे भी भगवत्सेवा सहज है उससे भी कर्मफलत्याग सहज है किंतु ये सब अनन्यभक्तिरूप योगके ही उपाय हैं स्वतंत्ररूपेण भगवत्प्राप्तिके उपाय नहीं किंतु ये अनन्यभक्तिसंपादनद्वारा ही भगवत्प्राप्तिके यथाक्रम उपाय हैं भगवान्की इस अहेतुक परकृपालुताको शास्त्र भी कहताहै-

" एवं संसृतिचक्रस्थे भ्राम्यमाणे स्वकर्मभिः ।
जीवे दुःखाकुले विष्णोः कृपा काप्युपजायते ॥ " इति ॥ ११ ॥

मू०-श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

दोहा-ध्यानाभ्याससु ज्ञानहै उत्तम, तासों ध्यान ।
कर्मफलनको त्याग तिस, तासों शांती मान॥ १२ ॥

टी०-जिसपुरुषको भगवान् श्रीनारायणकी अनन्यभक्ति प्राप्त नहीं उसकेलिए अनन्यभक्तिसिद्ध्यर्थ भगवान्ने निजस्मरणाभ्यास निजसेवा तथा कर्मफलत्याग ये तीन साधन कहे ये तीनों साधन भगवान्के ही साथ संबंध रखतेहैं क्यों कि भगवान्का स्मरण और सेवा ये तो स्पष्ट ही भगवत्संबंधी साधन हैं तथा कर्मफलत्याग भी

यही है कि कर्मको करके उसे भगवान्‌के अर्पण करदेना सो कर्मफलत्याग भी जो भक्तिका साधन है सो भगवत्संबंधी ही है सो भगवान् अपनी अनन्यभक्तिकेलिए अपने साथ संबंध रखनेवाले तीन साधन कहकर अब जीवात्माके साथ संबंध रखनेवाले भी तीन साधनोंको अपनी अनन्यभक्तिकी प्राप्तिकेलिए कहते हैं-श्रेय इति ।

हे पार्थ जीवात्माका जो स्मरणाभ्यास है तदपेक्षया जीवात्माका ज्ञान जीवकेलिए अधिक हितकर होनेसे श्रेष्ठ है । जिसपुरुषको जीवात्माको अपरोक्षज्ञान भी प्राप्त नहीं हुआ उसकेलिए उस अपरोक्षज्ञानका साधनरूप जीवात्माका ध्यान ही श्रेष्ठ है क्यों कि ध्यानसे ज्ञान सिद्ध होजायगा, ज्ञान यहांपर साक्षात्कार ही जानना । जो पुरुष जीवात्माका भी ध्यान भी नहीं कर सकता उसे फलेच्छाको त्यागकर कर्म ही करना चाहिए । उस फलेच्छात्यागसे चित्त शांत=विक्षेपहीन होगा तब जीवात्माके ध्यानमें लगजायगा ध्यान करते करते जीवात्माका साक्षात्कार भी होजायगा । और जीवात्माका तो श्रीनारायण अंतर्यामी है सो जीवत्माका साक्षात्कार करनेवाला चित्त अवश्य ही अंतर्यामी भगवान्‌तक पहुंचेगा वह तो प्रभु है इसहेतु तदनंतर भगवान्‌में भक्ति भी सिद्ध होजायगी ।

कर्मफलत्यागसे जब चित्त शांत होगा तो या तो जीवात्माके साक्षात्कारमें लग उसे सिद्धकर तब भगवच्चरणमें लगेगा किं वा जीवात्माके साक्षात्कारकी ओर न लग सीधा भगवान्‌में ही लगेगा यह दो मार्ग हैं इसमें जैसी जीवकी प्रारब्ध तथा भगवत्कृपा होगी वैसा होगा । दोनों स्थानोंमें कर्मफलत्यागके कहनेसे मैं यह कल्पना की है ॥ १२ ॥

मू०-अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

दोहा--द्वेषहीन करुणामय क्षमा प्रीति को ठान ।
ममताऽहता रहित अरु सुखदुखसम सम मान ॥ १३ ॥
संतोषी श्रद्धायुत यतमन योगी जोय ।
मोमे लावत बुद्धिमन भक्त मोर प्रिय सोय ॥ १४ ॥

टी०-हे पार्थ जो मेरा भक्त किसीसे भी द्वेष नहीं करता, सभके साथ प्रीति रखताहै दुःखीपर करुणा करताहै, अहंकार और ममतासे रहितहै, सुखसे हर्ष नहीं मानता, दुःखसे उद्वेग नहीं मानता, किसीके अपराधकी ओर ध्यान न देकर क्षमा रखताहै किं

वा शीतोष्णादि दुःखोंको सहन करताहै, भगवदिच्छासे जो प्राप्त हो उतनेसे ही संतोष करताहै, सततं योगी=सदा प्रकृतिवियुक्त जीवात्माका अनुसंधान करताहै, मनको विषयोंसे रोकनेवाला, जिसका निश्चय दृढ है अर्थात् मेरेमें दृढ विश्वास (श्रद्धा) को रखनेवाला, तथा मेरेमें मन और बुद्धिको लगानेवाला ऐसा जो मेरा भक्त है वह मेरेको बहुत प्यारा लगताहै ॥

" निरहंकारः " इस भगवद्वचनपर अद्वैतवादिओंको अवश्य ध्यान देना चाहिए । इससे बढकर और क्या अहंकार होगा जो वे लोग परमात्माके दासभूतस्वजीवको परब्रह्म मानकर बैठजाते हैं=अपनेको ही ब्रह्म बताते हैं । हाय हाय । अवश्य उनको लज्जा करनी चाहिए । इसलिए महाभारतमें लिखा है कि धर्मका मूल लज्जा है ।

" अन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा वेत्ति यो जनः ।
किं तेन न कृतं पापं मूढेनात्मापहारिणा ॥ "
" आसुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ " ॥ १३ ॥ १४ ॥

मू०--यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

दोहा--जासों कोउ दुख पाय ना, वह दुख पात न कासु ।
प्रिय मम सो, स्पर्धा भय खेद हर्ष नाहि जासु ॥ १५ ॥

टी०--हे पार्थ जिस मेरे भक्तसे लोगोंको भय नहीं होता और उसे भी लोगोंसे भय न हो और हर्ष क्रोध भय तथा उद्वेग (घबराहट) इनसे जो रहित हो वह मुझे प्रिय लगताहै । जो पुरुष लोकके साथ विरोध करताहै उसीसे लोग भय मानते हैं और उसका लोग भी विरोध करते हैं तब उसे भी लोगोंसे भय होताहै जो पुरुष किसीसे विरोध नहीं करता उससे लोगोंको भी भय नहीं होता और लोग भी उससे विरोध नहीं करते सो उसे भी लोगोंसे भय नहीं होता सो पूर्वार्धसे यही प्राप्त हुआ कि जो किसीका विरोध नहीं करता वह भगवान्का प्रिय है ॥ १५ ॥

मू०--अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

दोहा--कर्मकुशल, शुचि, द्वंद्व कृत खेद विहीन उदास ।
सर्वारंभविहीन, मम प्रिय विरक्त जो दास ॥ १६ ॥

टी०--जो मेरा भक्त-अनपेक्ष=किसी भी लौकिक पदार्थकी इच्छा नहीं करता, शुचि=स्नानादि नित्य कर्मसे शुद्ध रहै, दक्ष=शास्त्रीय कर्मके निर्वाहमें कुशल (उद्योगी) उदासीन=लोकोंसे राग द्वेष नहीं रखता, गतव्यथः=जिसे शास्त्रीय नित्यनैमित्तककर्म

तथा मदीय सेवाप्रभृतिमें प्राप्त होनेवाले शीतोष्णादिसे दुःख नहीं होता, सर्वारंभपरित्यागी=शास्त्रीय जो कर्म हैं तथा मेरी सेवा है उससे भिन्न किसीभी कार्यका जो उद्योग नहीं करता वह मेरा प्रिय है ॥ १६ ॥

मू०–यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

दोहा–द्वेष हर्ष इच्छा तथा शोक नहीं जस तात ।
पाप पुण्यफल त्यागतो प्रिय मम जो गुनगात ॥ १७ ॥

टी०–हे पार्थ जो मेरा भक्त प्रियपदार्थको पाकर हर्ष नहीं मनाता, दुःखपदार्थकी प्राप्तिसे और दुःखदजीवादिसे जो द्वेष नहीं करता, प्रियपदार्थके विनाशका जो शोक नहीं करता, प्रियपदार्थकी इच्छा भी नहीं करता, पाप और पुण्य दोनोंका जो त्याग करताहै, वह मेरा प्रिय है ।

शुभाशुभपरित्यागी=यहांपर यद्यपि यथा पाप बंधका हेतु है तथा पुण्य भी स्वर्गादि प्रदानपूर्वक बंधका हेतु है इससे त्यागके ही योग्य है तथापि पुण्यको स्वरूपसे ही त्यागदेना यह भगवान्‌का अभिप्राय नहीं किं तु पापको तो स्वरूपसे ही त्याग देना और पुण्यको स्वरूपसे नहीं त्यागना किं तु पुण्य करके उसके फलको त्यागदेना याने फलप्राप्तिकी इच्छा न करके पुण्यको भगवदर्पण करदेना यह तात्पर्य है यह बात प्रथम भी भगवान् कहचुके हैं । किं वा शुभशब्दसे यहांपर काम्य शुभकर्म लेने सो भगवद्भक्तको पुत्रकलत्रधनस्वर्गादि प्राप्तिकेलिए काम्यकर्म नहीं करनाचाहिए यह भगवान्‌का अभिप्राय है ।

श्रुति भी कहती है–"पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्" इति अर्थात् मूर्ख लोग ही बाह्य पदार्थोंकी इच्छा करते हैं वे यमके पाशको भी प्राप्त होते हैं । " न संपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् " लोकविषयमें जो फँसाहै उसे यह प्रतीत नहीं होता कि मुझे मरना भी है ।

" ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किं च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् " ॥ इत्यादि ।

तथा– " यावतः कुरुते जन्तुः संबंधान् मनसः प्रियान् ।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशंकवः ॥

" पुत्रमित्रकलत्रेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः ।
सरःपंकार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव ॥ "

" पुत्रदारादिसंसारः पुंसां संमूढचेतसाम् । " इत्यादि ।

वैष्णवलोग जो प्रायः स्वर्गादिकाम्यविषयसंसाधक ज्योतिष्टोमादि काम्यकर्मोंको नहीं करते उसमें यही हेतु है कि पापकेतुल्य काम्यपुण्य भी बंधक ही हैं, कुछ नास्तिकता हेतु नहीं, यदि कहो कि भगवत्की प्रीतिकेलिए ही ज्योतिष्टोमादिको करना चाहिये सो इसके दो उत्तर हैं एक तो ज्योतिष्टोमादिमें जीवहिंसा मिलीहै यदि कहो पिष्टपशु करनेसे तो हिंसा नहीं तो पिष्टपशुमें भी तो जीवानुसंधान करना ही पडेगा तो वह भी एक प्रकारकी मानसिक हिंसा ही है द्वितीय भगवान्‌की प्रीति ज्योतिष्टोमादिकी भी अपेक्षा भगवान्‌की सेवासे अधिक होतीहै और भगवत्सेवामें तो जीवहिंसा छोड किसी जीवको दुःखमात्र भी प्राप्त नहीं होता सो भगवत्सेवा परमपुण्यस्वरूप तथा सात्त्विक है भगवत्प्रीतिकेलिए उसीका करना उचित है ज्योतिष्टोमादिका करना भगवत्सेवाकी अपेक्षा निकृष्ट ही है । कहा भी है–

" अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥ "

" सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

" अलं व्रतैरलं तीर्थैरलं योगैरलं मखैः ।
अलं ज्ञानकथालापैर्भक्तिरेकैव मुक्तिदा ॥ "

" न तपोभिर्न वेदैश्च न ज्ञानेनापि कर्मणा ।
हरिर्हि साध्यते भक्त्या प्रमाणं तत्र गोपिकाः ॥ "

" ऋषिभिर्बहवो लोके पन्थानः प्रकटीकृताः ।
श्रमसाध्याश्च ते सर्वे प्रायः स्वर्गफलप्रदाः । "

" नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते ॥ " इत्यादि ॥ १७ ॥

मू०–समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥ १८ ॥
तुल्यनिंदास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

दोहा–शत्रु मित्र सुख दुःख अरु मानाऽमान समान ।
शीत उष्णमें सम तथा बाह्यसंगकर हान ॥ १८ ॥
निंदा यश सम मौन युत अल्पहि तोष मनात ।
स्थिरमति गृहरतिहीन अरु भक्त मोर प्रिय तात ॥ १९ ॥

टी०–हे पार्थ और जो मेरा भक्त शत्रु तथा मित्रमें समान है अर्थात् शत्रुके साथ द्वेष भी नहीं करता मित्रकेलिए पाप भी नहीं करता किं वा जिसका कोई शत्रु तथा मित्र

नहीं, मानसे हर्ष भी नहीं मानता अपमानसे रोष भी नहीं करता, शीत उष्ण सुख दुःख इत्यादि द्वंद्वोंसे भी जो चलायमान नहीं होता किं तु सबको समान ही समझताहै बाह्य विषयोंमें जिसकी आसक्ति नहीं, निंदासे खेद नहीं करता स्तुतिसे प्रसन्न भी नहीं होता अर्थात् निंदा और स्तुति दोनोंको तुल्य समझनेवाला, मौनी=यहां पर मौनी शब्दसे आज कलहके शब्दमात्रको न उच्चारण करनेवाले मौनी नहीं समझने किं तु किसीके दुःख देनेपर जो उसकी निंदा नहीं करता तथा किसीके सुख देनेपर जो उसकी स्तुति नहीं करता वह मौनी समझना यह मौन बडा कठिन है, थोडे ही पदार्थसे जो संतोष करताहै, अनिकेतः=घर बारमें जो आसक्ति नहीं रखता, तथा जिसकी मति स्थिर है अर्थात् जिसकी मति मुझसे कभी चलायमान नहीं होती किं तु सदा मेरेमें लगी रहती है वह मुझे प्रिय है ।

इन सात श्लोकोंसे भगवान्ने अपने भक्तोंका चरित्र कहा है जो पुरुष सौभाग्य वश तथा भगवत्कृपासे जन्मसे ही भगवत्के भक्त होतेहैं उनका ऐसा ही चरित्र होताहै जैसा यहां भगवान्ने कहाहै ।

ब्रह्मवैवर्तपुराणमें भी कहाहै—

" दयास्ति सर्वभूतेषु सर्वं कृष्णमयं जगत् ।
यो जानाति महाज्ञानी स भक्तो वैष्णवोत्तमः ॥
ध्यायतेऽहर्निशं धर्मी स्वप्ने ज्ञाने हरिं मुदा ।
महान् जितेन्द्रियः शान्तो विष्णुव्रतपरायणः ॥
भक्तानां त्रिविधानां च लक्षणं श्रूयतामिति ।
तृणशय्यारतो भक्तो मन्नामगुणकीर्तिषु ॥
मनो निवेशयेत् त्यक्त्वा संसारं सुखकारणम् ।
ध्यायते मत्पदाब्जं च पूजयेद्भक्तिभावतः ॥
सर्वसिद्धिं न वाञ्छन्ति तेऽणिमादिकमीप्सितम् ।
ब्रह्मत्वममरत्वं वा शूरत्वं सुखकारणम् ॥
पुत्रादपि परः स्नेहो मयि येषां निरन्तरम् ।
गृहाद्याश्च मयि न्यस्तास्ते नरा वैष्णवोत्तमाः ॥
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं मत्तः सर्वं चराचरम् ।
सर्वेषामहमेवेश इतिज्ञा वैष्णवोत्तमाः ॥ " इत्यादि ।

पद्मपुराणमें भी कहाहै—

"न चलति निजवर्णधर्मतो यः सममतिरात्मसुहृद्विपक्षपक्षे ।
न हरति न च हन्ति किं चिदुच्चैः सितमनसं तमवेहि विष्णुभक्तम् ॥
कलिकलुषमलेन यस्य नात्मा विमलमतेर्मलिनीकृतोस्ति मोहे ।
मनसि कृतजनार्दनं मनुष्यं सततमवेहि हरेरतीव भक्तम् ॥
विमलमतिविमत्सरः प्रशान्तः शुचिचरितोऽखिलसत्वमित्रभूतः
प्रियहितवचनोस्तमानमायो वसति सदा हृदि तस्य वासुदेवः ॥
हरति परधनं निहन्ति जन्तून् वदति तथानिशानिष्ठुराक्षराणि ।
अशुभजनितदुर्मदस्य पुंसः कलुषमतेर्हृदि तस्य नास्त्यनन्तः ॥

जिनपुरुषोंको प्रह्लादादिवत् जन्मसे ही भगवान्‌की भक्ति प्राप्त नहीं और सौभाग्यवश वे भगवद्भक्तिको संपादन करना चाहतेहैं तो उन्हें अपना चरित्र ऐसा ही बनाना चाहिये जैसा भगवान्‌ने कहा है । ऐसा चरित्र बनाए विना प्रथम तो भक्ति प्राप्त ही न होगी प्राप्त भी होगी तो उसका निर्वाह न होगा किं तु थोड़े ही कालमें क्षीण हो जायगी क्यों कि जो पुरुष किसीके साथ द्वेष रखताहै किं वा किसीके साथ अधिक राग रखताहै तो प्रथम तो उसे रागद्वेषसे ही अवकाश नहीं मिलेगा जो भक्तिको संपादन वा संपन्न भक्तिका निर्वाह करेगा और रागद्वेषसे जब मन भराहै तब वहां भक्तिको अवकाश कहां। एवं जो पुरुष ममता रखताहै वह अपने पुत्रकलत्रादिमें ही फँसा रहेगा उसे भक्तिकेलिए अवकाश कहां । जो पुरुष सुखदुखको सम नहीं समझता वह सुखप्राप्तिकेलिए तथा दुःखनिवृत्तिकेलिए यत्न करेगा तो उसी यत्नसे भक्तिकेलिए अवकाश कहां । जो यथाप्रारब्ध प्राप्त थोडे ही पदार्थसे संतोष नहीं करेगा वह अधिक प्राप्तिकेलिए उद्योग करेगा तब भक्तिका निर्वाह कहां। जो हर्षामर्ष भयोंसे मुक्त नहीं वह अमर्ष तथा भयके प्रतीकारमें लगेगा तब भक्ति कहां, क्यों कि काम तो एक ही होगा । जो पुरुष शुचि नहीं रहेगा उसका हृदय मलिन हुआ हुआ भगवत्‌में नहीं लगेगा । जो पुरुष सर्वारंभ शुभाशुभ शोक तथा इच्छादिका परित्याग नहीं करेगा तो उन्हीमें खचित रहेगा । शीतोष्णादि दुःखोंको जो नहीं सहसकेगा वह उनकी निवृत्तिमें लगकर भगवद्भक्तिमे अवश्य ही च्युत होगा । इत्यादि ॥ १८ ॥ १९ ॥

मू०—ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतायां द्वादशाध्यायः समाप्तः ॥ १२ ॥

दोहा—अमृतरूप इस धर्मको श्रद्धासो नर जोय ।
भक्तियोगको साधतो मत्पर प्रिय मम सोय ॥ २० ॥

इति पंज.श्री पडित सुदर्शनाचार्यशास्त्रीप्रणीत श्रीभगवद्गीतासतसईका द्वादशाध्याय समाप्त हुआ १२

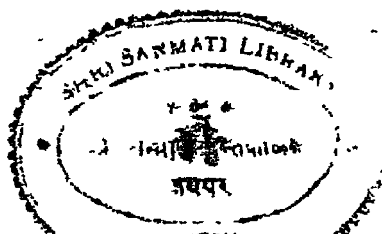
टी०—हे पार्थ मैंने जो तेरेको भक्तियोग सुनाया है यह परम धर्मस्वरूप है तथा अमृतस्वरूप है क्यों कि इसके सेवनसे जीव जन्ममरणरूपी संसारसे निवृत्त होजाताहै । इस धर्म्य और अमृतस्वरूप भक्तियोगका जो पुरुष यथोक्तरीतिसे श्रद्धापूर्वक मेरा आश्रय लेकर=मेरी शरण लेकर अनुष्ठान करता है वह मुझे वहुत ही प्रिय लगताहै ॥

एवं यहांतक भगवान्‌ने कृपाकर भक्तियोगका स्वरूप तथा उसके भेद और साधन सभ कहदिएहैं वस्तुगत्या भक्तियोगकी मीमांसा यहांपर समाप्त होचुकी है इसे भगवान्‌ने भी यहां पर"ये तु" इत्यादि कहदिआहै । अब आगेके छे अध्यायोंमें उक्त विषयोंका ही संशोधन करेंगे अर्थात् इन वारह अध्यायोंमें जो कुछ कथनकी न्यूनता रहगई है उसे श्रीभगवान् आगे पूर्ण करेंगे ॥ २० ॥

इति श्रीपंचनदीय पडितसुदर्शनाचार्यशास्त्रिप्रणीतभगवद्गीताकी तत्त्वार्थसुदर्शनी नामकी टीकाका द्वादशाध्याय समाप्त हुआ ॥

द्वितीयषट्क भी समाप्त हुआ ॥





श्रीः ।

अथ त्रयोदशाध्याय ।

श्रीभगवानुवाच-

मू०--इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञमिति तद्विदः ॥ १ ॥

दोहा-क्षेत्र कहैं इस कायको भोगहेतु गृह तात ।
जानत जो इस कायको सो क्षेत्रज्ञ कहात ॥ १ ॥

टी०--हे पार्थ इसशरीरका नाम क्षेत्र (खेत) है क्यों कि यथा क्षेत्रमें बोएहुए बीज क्षेत्रमें ही फलतेहैं एवं पाप पुण्यरूपी बीज भी शरीरमें बोए हुए शरीरमें ही फलते हैं अर्थात् शरीरसे पाप पुण्य किएजातेहैं और उनका फल भी शरीरसे ही भोगा जाताहै इसहेतु इस शरीरका नाम क्षेत्र है और जो इस क्षेत्रको जानताहै उसे ज्ञानीलोग क्षेत्रज्ञ कहतेहैं । क्षेत्रज्ञ कौन है यह आगे कहेंगे ॥ परम प्राप्य श्रीनारायण ही हैं क्यों कि भक्तलोग जो श्रीवैकुंठकी इच्छा करतेहैं वह भगवत्प्राप्तिकेलिए ही करतेहैं कुछ अपने सुखकेलिए। किं वा सांसारिक दुःखकी निवृत्तिकेलिए नहीं करते क्यों कि वे संसारदुःखको कुछ समझते ही नहीं उनका मन भगवच्चरणमें अनन्य होकर लगाहोताहै । उस भगवान् श्रीनारायणकी प्राप्तिका साधन उसकी अनन्यभक्ति ही है यह सविस्तर प्रतिपादन कर दिआहै । उस भक्तिका भी साधन जीवात्मसाक्षात्कार है जीवात्मसाक्षात्कारका भी साधन ज्ञानयोग और कर्मयोग है सो ज्ञानयोग कर्मयोगरूपी साधन और उनका साध्य जीवात्मसाक्षात्कार ये सभ प्रथमषट्क (छे अध्यायों) में कहादिए । और द्वितीय षट्कमें भक्तियोग भी सांग कहदिआ और प्राप्तव्य श्रीभगवान्का भी स्वरूप तथा माहात्म्य कहादिआ । अब इस षट्कमें पूर्वोक्त ही प्रकृति, पुरुष, प्रपंच, भगवत्स्वरूप, कर्म, ज्ञान, भक्ति तथा इनके उपाय इत्यादि विषयोंका विवेचन करेंगे ॥ इसत्रयोदशाध्यायमें प्रथम शरीर और आत्माके स्वरूपको कहकर आत्मज्ञानकी रीति कहेंगे ॥ १ ॥

मू०-क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

दोहा—मम तनु जीव जो देहमें सो क्षेत्रज्ञ सुजान।
काय जीवके भेदको ज्ञान हि परम ज्ञान ॥ २ ॥

टी०—हे पार्थ समग्र शरीरोंमें मैं ही क्षेत्रज्ञ हूं अर्थात् शरीरमें रहनेवाला जीव मेरा ही शरीर है मैं उसका भी आत्मा हूं इस हेतु मदात्मक जीव क्षेत्रज्ञ है (मां मदात्मकम्) च और अपिशब्दसे भगवान् यह कहतेहैं कि क्षेत्र भी मैं=मदात्मक ही है क्यों कि शरीर प्रकृतिका परिणामविशेष है और भगवान् तो प्रकृतिके भी आत्मा हैं यह श्रुति भी कहतीहै—

"यस्मात्मा शरीरं यस्याव्यक्तं शरीरम्" इत्यादि। हे पार्थ क्षेत्रका क्षेत्रज्ञका जो विवेक (भेद) ज्ञान है तथा मदात्मकत्वज्ञान है अर्थात् मैं क्षेत्रका भी और क्षेत्रज्ञका भी आत्मा हूं यह जो ज्ञान है यह सर्वोत्तम है तथा संपादनीय है। कहा भी है— "नास्ति साङ्ख्यात्परं ज्ञानम्" इत्यादि।

यहांपर अद्वैतीलोग ऐसा कहतेहैं कि भगवान्ने अपनेको ही क्षेत्रज्ञ कहाहै सो जीव परमात्मासे भिन्न कुछ भी पदार्थ नहीं किं तु एक ही ब्रह्म उपाधिभेदसे ईश्वर और जीव कहाताहै उन उपाधिओंको छोडदेनेसे एक ही चैतन्य परब्रह्म निर्विशेष रहजाताहै। यदि जीव भगवान्से भिन्न होता तो भगवान् "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि" ऐसा कभी न कहते इति।

यह अद्वैतिओंका कथन सर्वथा अशुद्ध है क्यों कि यदि भगवान्का यह अभिप्राय होता कि मैं ही अंतःकरणावच्छिन्न होनेसे जीव कहाताहूं तो एक तो साफ वैसा ही कहते अपनेको क्षेत्रज्ञ कहकर जीवका क्यों निषेध करते। और भगवान् केवल क्षेत्रज्ञमात्र तो नहीं किं तु सर्वज्ञ हैं इसहेतु भगवान्ने अपनेको सर्वज्ञ कहनाथा क्षेत्रज्ञ क्यों कहा तत्त्वोपदेशके समय भगवान् मिथ्या कहरहेहैं यह तो आप भी नहीं कहसकते। यदि कहो कि भगवान् सर्वज्ञ हैं एतावता क्षेत्रज्ञ भी हैं ही सो यहां अयोगव्यवच्छेद है कुछ अन्ययोगव्यवच्छेद तो नहीं है। तो भी आगे भगवान्ने "क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानम्" ऐसा क्यों कहा क्योंकि यहां पर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका विवेक ज्ञान ही विवक्षित है यदि भगवान् ही क्षेत्रज्ञ हैं जीव कुछ पदार्थ नहीं तब भगवान्का तो प्रपंचमात्रसे ही संबंध है भगवान् सबका अंतर्यामी है श्रुति भी कहतीहै " यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्" प्रपंचमात्रका और क्षेत्रज्ञका विवेक ज्ञान यहां कहना चाहिए था क्यों कि परब्रह्मको प्रपंचमात्रसे विलक्षण जानना ही चाहिए यह तो तुमारा भी अभीष्ट है सो न कहकर यहां जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके ही विवेकज्ञानकी भगवान्ने बात कही है इससे यही प्रतीत होताहै कि क्षेत्रज्ञ वह पदार्थ है जो केवल शरीरमात्रके साथ ही साक्षात्संबंध रखताहै। शरीरमात्रके साथ तो संबंध रखनेवाला जीव ही है

इससे यहां क्षेत्रज्ञ जीव ही है । और भगवान्ने "क्षेत्रज्ञं माम्" ऐसा कहाहै इससे यही अर्थ निकलता है कि भगवान्का शरीरभूत जो जीवात्मा है वही क्षेत्रज्ञ है श्रुति भी कहतीहै "यस्यात्मा शरीरम्" अर्थात् जिसका आत्मा भी शरीर है । और तो क्या समग्र प्रपंच ही भगवान्का शरीर है ।

और प्रथम सविस्तर इस बातको सिद्ध करदिआहै कि परमात्मासे जीवपदार्थ भिन्न है और भेदबोधक वचनोंकी कुछ भी गति नहीं और अभेदबोधकवचनोंकी तो गति है सो अभेदबोधकवचनोंको ही भेदबोधकवचनोंके पीछे लगाना चाहिए सो भगवान्का शरीरभूत ही जीव क्षेत्रज्ञ है यही यहांका अभिप्राय है इससे अद्वैतीका पूर्वोक्त पक्ष सर्वथा अशुद्ध जानना ।

यदि कोई पूर्वोक्त भेदबोधकवचनोंका मनमाना अर्थ करके यहांपर यही हठ करेगा कि भगवान् अपनेको क्षेत्रज्ञ कहतेहैं सो भगवान् ही अंतःकरणावच्छिन्न होनेसे जीव कहातेहैं और जीव वास्तव पदार्थ कुछ नहीं सब मिथ्या ही है तो हम यहांपर यह कहेंगे कि भगवान्का यह तात्पर्य नहीं कि मुझसे भिन्न जीव पदार्थ कुछ भी नहीं किं तु भगवान् अपनेको क्षेत्रज्ञ बताते हैं तो भगवान् सर्वज्ञ होनेसे क्षेत्रज्ञ भी हैं ही । और वस्तुगत्या जैसा कुछ भगवान् शरीरको जानतेहैं वैसा जीव जान भी नहीं सकता क्यों कि प्रथम तो बहुतसे नास्तिक शरीरको ही आत्मा मानतेहैं और आस्तिक लोगोंमें भी बहुत मूढ यह भी नहीं जानते कि शरीर जड है चेतन पदार्थ जीव है, जो बडेसे बडे ज्ञानी जीवको और शरीरको पृथक् जानतेहैं वे भी शरीरके कुछ ही धर्मोंको जानते हैं समग्र धर्मोंको तथा समग्र अवयवोंको. नहीं जानते कि शरीरका अमुक अवयव कैसा है कहांसे आया है इसका कारण कौनसा कर्म है इत्यादि यह सब भगवान् ही जानतेहैं इससे भगवान् क्षेत्रज्ञ भी हैं ही । इससे यहांपर भगवान्का यह अभिप्राय नहीं कि मैं ही जीव हूं किं तु जीव मेरा ही शरीरभूत है वही क्षेत्रज्ञ है यही अभिप्राय है । कहा भी है—

"खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किं च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥" इति ।

अर्थात् आकाश वायु अग्नि जल पृथ्वी इत्यादि सभी पदार्थ भगवान्के शरीरभूत हैं । क्यों कि भगवान् सबका अंतर्यामी है ।

और "सर्वक्षेत्रेषु" इससे एक जीव नहीं समझना किं तु जीव अनेक हैं यथा 'सब घरोंमें दीपक जलताहै' इस वाक्यसे यह बोध नहीं होता कि सब घरोंमें एक ही जलनेवाला दीपक है किं तु प्रतिघर भिन्न भिन्न दीपककी सत्ता प्रतीत होतीहै एवं "सर्वक्षेत्रेषु" इस वाक्यसे भी प्रत्येकशरीरमें क्षेत्रज्ञकी सत्ता ही प्रतीत होतीहै कुछ सब शरीरोंमें होनेवाला जीव एक ही है यह अर्थ प्रतीत नहीं होसकता ।

जीवका परमात्माका यथार्थ भेद है इसको पीछे भी भलीभांतिप्रतिपादन किआहै आगे भी भगवान् स्वयं इसभेदको कहेंगे—

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
यस्मात् क्षरमतीतोहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥" इत्यादि।

पृथिव्यादिसंघात (मिश्रितसमूह) रूप शरीर तथा जीवात्मा श्रीनारायणका शरीरभूत है भगवान् श्रीनारायण सभका आत्मा है यह श्रुति भी कहरही है—" यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः। य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः।" इत्यादि। यहां पर जो "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि" यह (क्षेत्रज्ञं माम्) सामानाधिकरण्य है अर्थात् भगवान्ने अपनेको और क्षेत्रज्ञको जो अभेदसे कहा है इसमें यही हेतु है जो उक्त श्रुतिएं परमात्माको सभका आत्मा कहरहीहैं और परमात्मा सभका आत्मा है ही। और परमात्मा जीवात्माका भी आत्मा है इसीसे परमात्मा कहाताहै। यथा जीव 'मैं गोरा हूं' इस वाक्यसे शरीरका और अपना अभेद बोधन करताहै और वस्तुगत्या देह और जीव भिन्न भिन्न पदार्थ हैं। एवं यहांपर भी भगवान्ने जीवका और अपना अभेद कहाहै वस्तुगत्या भेद ही है।

भगवान् ही सभका आत्मा अंतर्यामी है यह भगवान् भी दशमाध्यायमें कहचुकेहैं—

" अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ॥
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥" इति।

यहांपर कोई लोग कहतेहैं कि "क्षेत्रज्ञं माम" इस सामानाधिकरण्यसे एकत्व प्रतीत होताहै अर्थात् एक निर्विशेषब्रह्म ही सत्य पदार्थ है और सभ जीववर्ग तथा जडवर्ग मिथ्या हैं वही परमात्मा ही अज्ञानके कारणसे जीवरूपसे प्रतीत होताहै। और यथा रज्जुमें सर्पभ्रम होनेके अनंतर 'यह सर्प नहीं किं तु रज्जु है' इस वाक्यसे सर्पभ्रम नष्ट होजाताहै एवं परमात्मामें जो जीवत्व भ्रम होरहाहै वह "क्षेत्रज्ञं चापि मां

१ यहांपर श्रीरामानुजस्वामीने जिस रीतिसे अद्वैतवादका खंडन लिखाहै अब यहासे उसीका सारांश लिखताहूं।

विद्धि " भगवान्के इस तत्त्वोपदेशसे निवृत्त होजाताहै । जब जीवत्वभ्रम निवृत्त होगया तब तो ' मैं ही ब्रह्म हूं ' यह ज्ञान होजाताहै भामतीकारने कहा भी है " आत्मा च ब्रह्म " इति ।

जो अद्वैतीलोग ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं उनसे प्रथम यह पूछना चाहिए कि अर्जुनको उपदेश देनेवाले भगवान् वासुदेवका आत्माके यथार्थ साक्षात्कारसे अज्ञान नष्ट होगयाथा ? किं वा अज्ञान नहीं नष्ट हुआ था ? यदि भगवान्का अज्ञान नष्ट होगयाथा तो अज्ञाननिवृत्तिसे निर्विशेषब्रह्म ही वे थे उनको अध्यासकी संभावना भी नहीं हो सकतीथी तब तो अर्जुनादिभेदको देखना और उसके प्रति उपदेश करना इत्यादि व्यवहारकी संभावना भी नहीं होसकती । यदि भगवान्का अज्ञान ही नष्ट नहीं था तो भगवान् अज्ञानी थे अज्ञानीको तो उपदेशका अधिकार तथा सामर्थ्य नहीं होसकती भगवान्ने ही कहाहै—"उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः " इति । फिर भगवान्ने अर्जुनको कैसे उपदेश दिआ ।

और यदि अज्ञानकृत ही जीव और परमात्माका भेद है तो अज्ञान तो अनादि चलाआताहै जब वह आजतक निवृत्त नहीं हुआ तब आगेको निवृत्त होगा इसमें क्या प्रमाण है ? । जब आजतक किसीको अज्ञान निवर्त्तक ज्ञान नहीं हुआ तो आगेको होगा इसमें भी क्या प्रमाण है । यदि किसीको ज्ञान हुआ है तो उस ज्ञानसे अज्ञान नष्ट होजानेसे अज्ञानकार्य प्रपंचकी आज प्रतीति नहीं होनी चाहिए थी, होती तो है । परमात्माके साथ जो अविद्या संबंध है सो यदि समग्र परमात्माके साथ है तब तो निर्विशेषब्रह्मका अभाव प्राप्त हुआ । यदि किसी एक देशमें अविद्यासंबंध है तो सावयत्वात् ब्रह्मको अनित्यत्व प्राप्त हुआ और श्रौतज्ञानको ही तुम अविद्यानिवर्तक मानते हो और श्रुति तो मिथ्या है प्रापंचिक है इसहेतु उससे यथार्थ ज्ञान उत्पन्न भी नहीं होसकता अन्यथा प्रापंचिकत्वाविशेषात् मूढवाक्योंसे भी यथार्थज्ञान होना चाहिए । इत्यादि अनंत दोष अद्वैतवादमें भरे पडे हैं प्रत्युत अद्वैतवाद भी प्रापंचिक होनेसे दोषस्वरूप ही है । सो अद्वैतवादकी जो युक्ति हैं वे सभ श्रुतिस्मृतिसे विरुद्ध हैं और लोकको भ्रष्ट तथा मोहित करनेकेलिए निकली हैं ।

और भोग्य जो जडवर्ग है भोक्ता जो जीववर्ग हैं तथा सभका परमेश्वर जो श्रीनारायण है इन तीनोंके परस्पर भेदको तथा भिन्न भिन्न स्वरूपको बहुतसी श्रुतिएं भी कहरही हैं—"अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः" " मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् " " क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः । क्षरात्मना विशते देव एकः ", " स कारणं कारणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः " " प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः " " पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं शिवमच्युतम् " " ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ " " नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां

यो विदधाति कामन् " " भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा " " पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति " " तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यऽनश्नन्नन्योभिचाकशीति " " अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम् । अजो ह्येको जुषमाणोनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोन्यः " " गौरनाद्यन्तवती सा जनित्री भूतभाविनी " " समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः" इत्यादि। इसीगीतामें भी भगवान्ने भी कहाहै—

" अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ॥
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये, पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥
मायाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥
प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ " इत्यादि

अर्थात् प्रकृति जो मदीया मेरे साथ संबंध रखनेवाली किं वा मेरे करके आधिष्ठित है उसमें चेतन जीवरूप गर्भको संयुक्त करदेताहूं तब यह सर्ग होताहै । इत्यादिक अनेक श्रुति स्मृतिएं जीवात्मा परमात्मा तथा जडवर्ग इनके परस्पर भेदको स्पष्टरूपसे कहरहीहै। यदि ये भेदबोधक श्रुतिस्मृतिएं प्रमाण नहीं हैं तो जिन "तत्त्वमसि" "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि" इत्यादिश्रुतिस्मृतिओंको लक्षणवृत्तितक दौडकर आप अभेदबोधक कहते हो वे भी कैसे प्रमाण कहाएंगी ? वस्तुगत्या उनका भी वह अर्थ नहीं जो तुम कहतेहो। यदि कहो कि नहीं—सभी श्रुति स्मृति प्रमाण ही है किं तु कुछ श्रुति स्मृति अभेदको प्रतिपादन करती हैं कुछ भेदको प्रतिपादन करती हैं, सो अभेद तो यथार्थ है यथार्थ ही अभेदको श्रुति स्मृति कहती हैं, और भेद तो अयथार्थ (मिथ्या) है सो अज्ञानकृत मिथ्यारूप ही भेदको उक्त श्रुति स्मृति कहरही हैं और भेद तो लोकसे अवगत है सो लोकावगत ही भेदकी श्रुतिस्मृतिएं अनुवाद करती हैं। यह भी तुमारा कहना संगत नहीं क्यों कि प्रथम तो अनुवादकत्वादेव भेदबोध श्रुतिस्मृतिओंको अप्रामाण्य प्राप्त होगया और भेदबोधक श्रुतिस्मृतिओंको प्रमाण भी कहते हो और अनुवादक भी कहतेहो

यह तुमारे वाक्यमें परस्पर विरोध भी है। यदि कहो कि हां भेदबोधक श्रुति स्मृतिएं प्रमाण नहीं तो जिन श्रुतिस्मृओंको आप अभेदबोधक कहते हो वह भी अविशेषात् प्रमाण नहीं कहाएंगी। और शब्दकी यही यथार्थता तथा प्रमाणता है कि यथार्थ (सत्य) अर्थको बोधन करे और भेद तो आपके मतमें यथार्थनहीं किं तु अज्ञान जन्य होनेसे मिथ्या है जब उक्त श्रुतिस्मृतिएं मिथ्याभूत भेदको प्रतिपादन करती हैं तब उनको यथार्थता और प्रमाणता कैसे प्राप्त होगी ? ये श्रुतिस्मृति प्रमाण नहीं तो और भी श्रुतिस्मृति क्यों कर प्रमाण कहासकेंगी ?'। और द्वैतापत्तिके भयसे आप अभेदको ब्रह्मस्वरूप ही कहेंगे और ब्रह्म भी निर्विशेष ही तुमारे मतमें सत्य है सविशेष तो ब्रह्म भी मिथ्या ही है। निर्विशेष पदार्थकी तो शब्दमात्र प्रतीत नहीं करासकता क्यों कि निर्विशेषकेलिए प्रमाण प्रवृत्त ही नहीं होसकता (निर्विशेषे प्रमाणाभावात्) यदि उस निर्विशेषब्रह्मकी भी श्रुतिस्मृतिसे प्रतीति होगी तो उसमें प्रतीयमानत्वरूप किं वा प्रमाणप्रतिपाद्यत्वरूप ही विशेष रहजानेसे निर्विशेष नहीं कहाएगा। तुम तो मानते हो निर्विशेष ही, तो अर्थात् यही प्राप्त हुआ कि अभेदबोधक श्रुतिस्मृतिएं किसी भी अर्थको प्रतिपादन नहीं करती किं तु कचटतप इत्यादिवाक्यवत् व्यर्थ ही हैं तो व्यर्थत्वादेव अभेदबोधकश्रुतिस्मृतिओंको भी अप्रामाण्य प्राप्त हुआ तब तो आपके मतसे समग्र वेद तथा समग्र स्मृतिएं अप्रमाण होगईं। वाह वा आपके इस मतको दूरसे ही नमस्कार उचित है जिनके समग्र श्रुति -स्मृतिओंको अप्रमाण बनादिआ इसकेलिए यही उदाहरण है कि "विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्" इति। इससे यही सिद्ध हुआ कि भेद सत्य है कहा भी है—

" जीवेश्वरभिदा चैव जडेश्वरभिदा तथा।
जीवभेदो मिथश्चैवं जडजीवभिदा तथा।
मिथश्च जडभेदोयं प्रपञ्चो भेदपंचकः ॥ "
" भिन्ना जीवाः परो भिन्नस्तथापि ज्ञानरूपतः।
प्रोच्यन्ते ब्रह्मरूपेण वेदवादेषु सर्वशः ॥ "
" ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः ॥" इत्यादि ॥

तथा च जीववर्ग और जडवर्ग सभी अवस्थाओंमें परमात्माके शरीरभूत हैं और परमात्मा उन सभका अंतर्यामीरूपेण आत्मा है। और समग्र प्रपंच उसी परमात्माका परिणाम है सो कारणावस्थामें, तथा कार्यावस्थामें परमात्मा ही जगद्रूपसे स्थिर है। यही श्रुतिएं भी कहती हैं " सदेव सौम्येदमग्र आसीत्। एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म। तदै

क्षत बहुस्यां प्रजायेयेति । अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम् । तत्तेजोऽसृजत । सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो । सोऽकामयतबहुस्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत । सत्यं चानृतं च सत्यमभवत् । हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि । विज्ञानं चाविज्ञानं च सत्यं चा नृतं च सत्यमभवत्।" इत्यादि, इनी सभ प्रमाण तथा हेतुओंसे यहां भगवान्ने समानाधिकरण्यसे=अभेदसे "क्षेत्रज्ञ चापि मां विद्धि" ऐसा कहाहै सो इसका यही अर्थ है कि 'मैं हूं आत्मा जिसका ऐसे जीवात्माको क्षेत्रज्ञ जान' इति ॥ २ ॥

मू०—तत् क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च तत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

दोहा—रूप विकार क्षेत्रके जिसहित जो अरु सोय ।
स्वभाव रूप अरु जीवके सुन मित सभ दृढ होय ॥ ३ ॥
चार वेद ऋषिसकल ही ब्रह्मसूत्र अरु भूप ।
निपुण कह्यो श्रुति युक्तिसों देह जीवको रूप ॥ ४ ॥

टी०—हे पार्थ यह क्षेत्र=शरीर जिस द्रव्यका है जैसा है जिनका आश्रय है इसके जो विकार हैं जिसकेलिए यह उत्पन्न हुआहै वह मैं तुझे संक्षेपसे सुनाताहूं सुन । और स च=वह क्षेत्रज्ञ=जीवात्मा जैसा है तथा जिस प्रभाववाला है यह सुन । यह जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ = जीवका यथार्थस्वरूप है इसे ऋषिओंने (स्मृतिने) वेदोंने तथा वडी दृढ युक्तिवाले ब्रह्मसूत्रोंने सविस्तर कहाहै ॥

यहां पर "स च" इस तत्पदसे भगवान् उक्तक्षेत्रज्ञका ही परामर्श करतेहैं यदि उक्त द्वितीयश्लोकमें भगवान्का यही तात्पर्य होता कि जीव कुछ पदार्थ नहीं मैं ही अज्ञान् वश जीवरूपसे प्रतीत होताहूं तो यहांपर भगवान् उस क्षेत्रज्ञका तत् शब्दसे परामर्श न करते किं तु अस्मत् शब्दसे परामर्श करते ऐसा नहीं किआ किंतु तत् शब्दसे क्षेत्रज्ञका परामर्श किआहै इससे यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा परमात्मासे भिन्न है। 'क्षेत्रज्ञं माम्' यह सामानाधिकारण्य इसीसे है कि परमात्माजीवात्माका भी आत्मा है। यह सभ पूर्वश्लोकपर ही सविस्तर लिखदिआहै ।

जीवके और शरीरके स्वरूपको ऋषिओंने सविस्तर कहाहै यथा—

"अहं त्वंच तथान्ये च भूतैरुह्याम पार्थिव ।
गुणप्रवाहपतितो भूतवर्गोऽपि यात्ययम् ।

कर्मवश्या गुणा ह्येते सत्त्वाद्याः पृथिवीपते ।
अविद्यासंचितं कर्म तच्चाशेषेषु जन्तुषु ॥
आत्मा शुद्धोऽक्षरः शान्तो निर्गुणः प्रकृतेः परः ।
तथा पिण्डः पृथक् पुंसः शिरःपाण्यादिलक्षणः ॥
किं त्वमेतच्छिरः किं तु उरस्तव तथोदरम् ।
किमु पादादिकं त्वं वै तवैतत् किं महीपते ॥
समस्तावयवेभ्यस्त्वं पृथक् भूप व्यवस्थितः ।
कोहमित्येव निपुणो भूत्वा चिन्तय पार्थिव ॥
त्रिगुणं कर्मिणां क्षेत्रं प्रकृते रूपमुच्यते ॥
तेषां त्ववयवान् सूक्ष्मान् षण्णामप्यमितौजसान् ।
संनिवेश्यात्ममात्रस्तु सर्वभूतानि निर्ममे ।
इंद्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः ।
वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ॥
यत् किंचित् सृज्यते येन सत्त्वजातेन वै द्विज ।
तस्य सृज्यस्य संभूतौ तत्सर्वं वै हरेस्तनुः ॥ " इत्यादि ।

अर्थात् हे राजन् तुम क्या हो और तुमारे सिर उदर छाती हस्त पाद इत्यादिक क्या हैं इसका अच्छी तरह बिचार करो । तुम इन शरीरावयवोंसे भिन्न जीवस्वरूप हो तुमारे हमारे तथा और सभके भी शरीर पंचभूतोंके बने हैं । सभ जीवोंके साथ कृतकर्म संबंध रखताहै उसी कर्मके अनुगुण शरीरादि प्राप्त होतेहैं । आत्मा शरीरसे भिन्न है शुद्ध है क्षयरहित तथा शांत है प्रकृतिसे भी वह परे है । सांसारिकजीवोंके देह त्रिगुण हैं । छओं इंद्रिओंके सूक्ष्म अवयवोंको मिलाकर परमात्मा शरीरोंको बनाताहै इंद्रियें मन बुद्धि सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण बल धृति शरीर तथा जीवात्मा इत्यादि सभी पदार्थोंका भगवान् वासुदेव आत्मा अंतर्यामी है । जो कुछ सृष्टिकारण तथा सृष्टिकार्य पदार्थ हैं वे सभ भगवान् हरिके शरीभूत हैं भगवान् सभका आत्मा है ॥

श्रुतिएं भी इसी विषको कहतीहैं यथा—" तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तरात्मा प्राणमयः । तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योन्तरात्मा मनोमयः । तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योन्तरात्मा विज्ञानमयः । तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तरात्माऽऽनन्दमयः । एषोणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः । आराग्रमात्रो ह्यपरोपि दृष्टः । वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः स

चानन्त्याय कल्प्यते । नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः । यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ।" इत्यादि ।

अर्थात् उस परमात्मा श्रीनारायणसे आकाश उत्पन्न होताहै परमात्माधिष्ठित आकाशसे वायु, वायुसे तेज, तेजसे जल, जलसे पृथ्वी, पृथ्वीसे औषधि, औषधिओंसे अन्न, अन्नसे वीर्य, वीर्यसे यह शरीर उत्पन्न होताहै इसी शरीरका नाम अन्नमय कोश है यह शरीर अन्न और जलका बनाहै अर्थात् पार्थिव है । इससे परे प्राणमयकोश है उसके आगे मनोमय कोश है उसके भीतर विज्ञानमय कोश=जीवात्मा है उसके भी भीतर आनंदमयकोश=परमात्मा अंतर्यामी है ये जीव अणु है अनंत है । जीवात्मा न स्त्री है न पुरुष है न नपुंसक ही है किं तु जैसे शरीरको प्राप्त होताहै वैसा ही प्रतीत होताहै। वस्तुगत्या जीवात्मा भगवदंश है भगवद्दास है भगवत्का शरीरभूत है विभूति है नित्य है अनंत है अणु है ।

वेदांतसूत्रोंने भी इस विषयका अच्छीतरह प्रतिपादन किआहै—" नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः । ज्ञोत एव । नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् । तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् । कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् । परात्तु तच्छ्रुतेः । अंशो नानाव्यपदेशात् । तथा प्राणः । अणवश्च श्रेष्ठश्च । अणुश्च । " इत्यादि । अर्थात् यह जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता किं तु नित्य है । यह ज्ञानस्वरूप ही नहीं है किं तु ज्ञ=ज्ञानधर्मी भी है । अणु है । कर्ता है भगवान्के अधीन=परतन्त्र है स्वतन्त्र कुछ नहीं करसकता । भगवत्का अंश है । इंद्रियें जीवके तुल्य नित्य नहीं हैं किं तु उत्पन्न होतीहैं अणु हैं । प्राण भी अणु हैं । इत्यादि वेदांतसूत्रभाष्योंमें सविस्तर प्रतिपादन किआहै। मैंने भी इनविषयोंको स्वनिर्मित विशिष्टाद्वैताधिकरणमालामें साररूपसे निरूपण किआहै। सार यही है कि शरीर अनित्य है पार्थिव है संघातरूप है करचरणाद्यवयवसमूह है इंद्रियादिका आधार है । क्षेत्रज्ञ=जीवात्मा शरीरसे विलक्षण है=नित्य है अणु है भगवदंश है इत्यादि इसी विषयको अब आगे श्रीभगवान् कृपाकर स्वयं कहते हैं ॥ ३ ॥ ४ ॥

मू०—महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इंद्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतनाऽऽधृतिः ।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

दोहा—काय निदान अहङ्कृती भूत बुद्धि अव्यक्त ।
इंद्रिय सम अरु तिन विषय रहैं कायमे सक्त ॥ ५ ॥

सुख दुःख इच्छाऽऽधारता ज्ञान क्रोध तनुकार्य ।
भूतसंघ तनुरूप, तनु कह्यो सविस्तर आर्य ॥ ६ ॥

टी०–पृथ्वी जल तेज वायु तथा आकाश ये पंचमहाभूत अहंकार महत्तत्त्व और प्रकृति ये पदार्थ क्षेत्र=शरीरके आरंभक=उत्पादक है अर्थात् ये सभ शरीरके कारण द्रव्य हैं भगवान् सप्तमाध्यायमें भी कहचुके हैं–

"भूमिरापोऽनलोवायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ " इति ।

और श्रोत्र त्वक् चक्षु जिह्वा तथा घ्राण ये पंच ज्ञानेंद्रियें वाक् पाणि पाद पायु तथा उपस्थ ये पांच कर्मेंद्रियें मन अर्थात् ये एकादश इंद्रियें शब्द स्पर्श रूप रस गंध ये पांचों विषय ये सभ शरीरमें आश्रित हैं अर्थात् इन सभका शरीर आश्रय है ।

और इच्छा द्वेष सुख दुःख, संघात=शरीर, चेतना=ज्ञान, आधृति=भोगाधारता, ये सभ क्षेत्र=शरीरके विकार=कार्य हैं । यद्यपि इच्छा द्वेष सुख दुःख, ये आत्माके धर्म हैं शरीरमात्रके विकार नहीं किंतु इच्छादिक जो आत्मामें उत्पन्न होतेहैं वे शरीरसंबंधके कारण ही उत्पन्न होतेहैं इसहेतु इनको शरीरकार्य कहाहै एवं चेतनामें भी समझना चेतना यहां विषयज्ञानका नाम है सो विषयका ज्ञान भी शरीरसंबंधसे ही होताहै इस हेतु शरीरकार्य कहा है वस्तुगत्या ज्ञान आत्माका ही धर्म है ।

एतदिति–हे पार्थ प्रकृति महदंकार पंचभूत इनसे यह शरीर जन्य है अतएव जड है इंद्रियोंका आश्रय है इच्छाद्वेषादिविकारोंसे भरा है ऐसा यह शरीर है सो सविकार शरीरका स्वरूप मैंने तेरेको संक्षेपसे सुनादिया ॥ ५ ॥ ६ ॥

मू०–अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

दोहा—मान दंभ हिंसा कपट क्रोध तजै, मन लाय (मनोनिग्रह) ।
गुरुसेवा शुचिता धृति (स्थैर्य) ये गुण ज्ञान बनाय ॥ ७ ॥
जन्म जरा दुख व्याधि मृति दोष लखै भव जोय ।
विषय अहंकृति औ तजै ज्ञान लहै नर सोय ॥ ८ ॥
पुत्र दार गृह आदिमें तज आवेश सुसंग (कुसग)
सम हो इष्टाऽनिष्टमें चढै ज्ञानको रंग ॥ ९ ॥
अनन्य भक्ति मम योगसे अरु एकान्त निवास ! ।
संग तजैं नर नारिको, तब हि ज्ञानकी आस ॥ १० ॥
आत्मज्ञान लगै सदा, हरिपद प्रीति लगाय ।
ज्ञान हेतु ये, और सभ ज्ञानविरुद्ध मनाय ॥ ११ ॥

टी०=हे पार्थ अमानी होना = बड़ोंका तिरस्कार न करना, अदंभी होना = पाखंड छोड़ना, अहिंसा = किसीको पीड़ा न देना, क्षमा = अपराधको माफ करना, आर्जव = सूधापन = कपटहीन होना, आचार्यसेवा, शुचि = शुद्ध रहना, स्थैर्य = शास्त्रोक्तविषयोंमें श्रद्धासे निष्फल रहना, आत्मनिग्रह = विषयोंसे चित्तको रोकना ।

विषयोंसे वैराग्य, अहंकाररहित होना = अनात्मभूतदेहमें आत्माभिमान न करना, शरीरसंबंधमें तथा संसारमें जन्म मरण जरा = बुढापा व्याधि = रोगादिरूप दुःखोंको देखना अर्थात् संसारमें सभ दुःख ही हैं यह चिंतन करना, इस चिंतनसे संसारनिवृत्तिमें मन लगताहै योगसूत्र भी है—'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' ।

पुत्र कलत्र गृह धनादिविषयोंमें आसक्ति = प्रीति न होनी तथा अभिष्वंग = तदेकपरता (तदाग्रह) रहित होना । किं वा आत्मभिन्नपदार्थोंमें प्रीति न करना और पुत्र दारगृहादिकनमें अभिष्वंग=अतिसंग न करना । अनिष्ट और इष्ट विषयोंके प्राप्त होनपर भी समचित्त रहना अर्थात् इष्टविषयप्राप्तिसे हर्ष न हो अनिष्टविषयप्रा से उद्वेग न हो ।

मुझ सर्वेश्वरमें अनन्यमन होकर भक्ति करनी, एकांतमें रहना, जनमूहमें बैठनेकी रहनेकी प्रीति किं वा इच्छा भी न करनी ।

आत्मविषयक ज्ञानमें सदा तत्पर रहना अर्थात् सदा अपने जीवात्माके यथार्थरूपका साक्षात्कार करना कि मैं अणु हूं स्वयंप्रकाश हूं भगवदंश हूं भगवान्‌का दास हूं इत्यादि । तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् = तत्त्वज्ञानका प्रयोजनरूप जो तत्त्व (हरि) है उसका चिंतन करना।तत्त्वज्ञानका प्रयोजनरूप तत्त्व श्रीनारायण ही है सो सदा श्रीनारायणका चिंतन करना। हे पार्थ ये सभ ज्ञान = (ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्) ज्ञानसाधन हैं अर्थात् ये जो मैंने पांच श्लोकोंमें अमानित्वादि कहे हैं ये ज्ञानके साधन हैं इनसे ज्ञान प्राप्त होताहै जिसे ज्ञानकी इच्छा हो वह इन गुणोंका सेवन करे । जो इनसे विरुद्धहैं यथा मान दंभ हिंसा क्रोध कपट आचार्यत्याग इत्यादि वे सभ अज्ञान = ज्ञानके विरोधी हैं ।

आजकलहके लोग वडे प्रबल हैं वे मद मान. हिंसा प्रभृतिसे ही ज्ञानको संपादन करतेहैं और संपन्न ज्ञानको बढाते भी हैं । देखो शास्त्र क्या कहताहै-

" हरति परधनं निहन्ति जन्तून् वदति तथाऽनिशानिष्ठुराक्षराणि ।
अशुभजनितदुर्मदस्य पुंसः कलुषमतेर्हृदि तस्य नास्त्यनन्तः ॥ "

अर्थात् जो पुरुष परधनादिको हरताहै हिंसा करताहै कठोर बोलताहै उस पापी पुरुषके हृदयमें भगवान् हरि वास नहीं करते=प्रकट नहीं होते इत्यादि मान मदादिकी शास्त्रमें बहुतसी निंदा लिखीहै ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥

मू०-ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नाऽसदुच्यते ॥ १२ ॥

दोहा-जिसे जान हो मुक्ति तिस कहौं ज्ञेयको तोय ।
मम तनु बहुगुणयुक्त अज कारण कार्य न जोय ॥ १२ ॥

टी०-हे पार्थ अब मैं तेरेको उस ज्ञेयपदार्थको बताताहूं जिसे जानकर जन्ममरणादिप्राकृतधर्मरहित अमृतस्वरूप आत्माको प्राप्त होताहै अर्थात् जन्ममरणादिधर्मरहित जो जीवात्मा है उसके स्वरूपको बताताहूं । वह जीवात्मा अनादि है=आदि और अंतसे रहित है अर्थात् उत्पत्ति और विनाशसे रहित है । मत्पर=मैं हूं पर जिससे ऐसा है अर्थात् जीवसे मैं ही एक पर= उत्कृष्ट हूं और सब पदार्थ जीवसे अपर ही हैं क्यों कि जीवात्मा परमात्माका शरीरभूत है । ब्रह्म = जीवस्वरूपसे अणु होकर भी गुणोंसे बड़ा है क्यों कि नित्य है स्वयंप्रकाश है इत्यादि इसी हेतु जीव ब्रह्म कहाता है ब्रह्मशब्दसे जीवको व्यापक नहीं समझना क्यों कि प्रथम ही प्रतिपादन करदिआहै कि जीव अणु है । सत् नाम कार्यका है असत् नाम कारणका है सो जीव सत् = कार्य भी नहीं कार्यावस्थासे भी रहित है । असत् = कारण भी नहीं अर्थात् कारणावस्थासे भी रहितहै क्यों कि जीव न किसीका कार्य ही है न किसीका कारण ही है सांख्यवादीने भी कहा है "न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" इति । श्रुति भी कहतीहै "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" । अर्थात् जीव उत्पन्न भी नहीं होता और मरता भी नहीं ॥ १२ ॥

मू०-सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

दोहा-पाद हस्त मुख कान सिर नयन-समन इन काज ॥
सभी ओरसों करसके, जानत सब हि समाज ॥ १३ ॥

टी०-हे पार्थ जीवात्मा चारोंओरसे हस्तपादादिके जो कार्य उनको करसकताहै अर्थात् यथा शरीरमें प्रत्यवयव कार्य नियत हैं कि पैरसे ही शरीर चल सकताहै हाथ-

से ही लेदेसकताहै, ऐसा जीवात्मामें नियम नहीं किं तु जीव सकलस्वरूपसे समग्र कार्यमें समर्थ होनेके कारण अपने सभी ओरसे चलना लेना देना देखना बोलना सुनना इत्यादि-कार्योंको करसकताहै किं तु इस सामर्थ्यका संसारमें अज्ञानवश अनुभव नहीं होसकता किं तु मोक्षधाममें ही अनुभव होसकताहै । और यह जीवात्मा अपने धर्मभूतज्ञानसे सर्वत्र व्यापक है अर्थात् मुक्त जीव अपने ज्ञानसे समग्रपदार्थोंको जानसकताहै ।

अभिप्राय यह है कि "एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" "तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इत्यादि श्रुतिओंसे सिद्ध है कि जीवात्माका जो यथार्थ स्वरूप है वह श्रीवैकुंठमें ही पहुंचनेपर प्रकट होताहै संसारमें तो प्रकृतिके संबंधके कारण वह रूप ढँका रहताहै और वैकुंठमें जानेपर जीवात्माकी परमात्माके सदृश सामर्थ्य होजातीहै और परमात्माकेलिए तो श्रुतिकहती है-"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" अर्थात् परमात्मा विना ही हाथके ग्रहण भी करसकताहै विना पैरके दौड भी सकताहै नेत्रके विना भी देखसकताहै कानके विना भी सुन सकताहै । जब कि जीव भी परमात्माके सदृश होगया तब जीव भी विना ही हस्तपादादिकनके हस्तपादादिके चलन ग्रहणादि कार्योंको करसकताहै । भगवान्ने भी कहाहै—"इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः" इति ।

यदि कहो कि "अपाणिपादो" यह श्रुति तो परमात्माको निर्गुण प्रतिपादन करतीहुई परमात्माके हस्तपादादिका निषेध करतीहै तो यह इस श्रुतिका तात्पर्य नहीं कि परमात्माके हस्तपादादि नहीं हैं यदियही तात्पर्य होता तो आगे श्रुति "जवनो ग्रहीता" इत्यादि न कहती इससे उक्त श्रुतिका यही तात्पर्य है कि परमात्मा ऐसा अलौकिक समर्थ है कि वह इंद्रिओंके विना भी इंद्रिओंके कार्योंको करसकताहै । किंवा प्राकृत पाणिपादादिके ही निषेधमें तात्पर्य है यदि आप वाक्यके तात्पर्यको सर्वथा न समझकर अपना मनमाना हठ करेंगे कि उक्त श्रुति तो परमात्माके हस्तपादादिका निषेध ही करती है तो हम यह भी कहेंगे कि "जवनो ग्रहीता" इस आगेके भागसे यही सिद्ध हुआ कि परमात्मा दौडताहै ग्रहण करताहै तो भी धावन ग्रहणकर्तृत्वरूप तो परमात्मामें गुण रह ही गए तो भी आपकेलिए परमात्मा निर्गुण सिद्ध न हुआ जब उक्त कर्तृत्वरूप गुण रहगया तब हस्तपादादि रहनेमें भी आपकेलिए अधिक हानि नहीं । सो इसी विषयको भगवान् भी कहतेहैं कि श्रीवैकुंठमें पहुंचनेपर जीवके वास्तविक सर्वविध सामर्थ्य प्रकट होजातेहैं ॥ १३ ॥

मू०—सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

दोहा—सर्वेन्द्रियँसों काज ले, सर्वेन्द्रियँसों हीन।
तनुधारी, गुणभोगपटु, अरु तिन संगीवहिन ॥ १४ ॥

टी०—हे पार्थ यह जीवात्मा इंद्रियोंके विना भी यथा सब कार्यमें समर्थ है तथा इंद्रियोंकी वृत्तिओंसे भी बोलना देखना खाना सूंघना प्रभृति कार्योंको करताहै अर्थात् इंद्रियों द्वारा भी सब कामोंको करताहै । और स्वरूपसे समग्र इंद्रियोंसे रहितहै इंद्रियें आत्माकी उपकरण हैं कुछ स्वरूपांतर्गत नहीं । किं वा इंद्रियोंके विना भी सब प्रकारके ज्ञानको संपादन करसकताहै । असक्तं=जीव सबप्रकारके देहोंके संगसे रहित है अर्थात् देहसे पृथक् पदार्थ है और देहको धारण भी करताहै । निर्गुण=जीव स्वरूपसे सत्त्व रज तम इन गुणोंसे रहित है और इन गुणोंका भोक्ता भी है अर्थात् सत्वादिगुणोंके कार्य जो सुखदुःखादि हैं उनका भोक्ता भी है । यहांपर निर्गुणशब्दसे गुणमात्रराहित्य नहीं जानना किंतु उक्त सत्त्वादिगुणरहित ही जानना ॥ १४ ॥

मू०—बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥

दोहा—रहै सबनमें, सबनसों हीन, चराचर मान ।
अणुतावश अज्ञेय वह, सहज कठिन तिस ज्ञान ॥ १५ ॥

टी०—हे पार्थ वह जीवात्मा सबभूतोंसे=शरीरादिसे बाहिर है अर्थात् रहित भी है शरीरके भीतर भी रहताहै । अचर=उसकी गति पादादिके अधीन नहीं किं वा स्वभावसे अचर है । और पादादिकोंसे चलता भी है किं वा देहधारण करनेसे चर भी कहाताहै । जीवात्मा अत्यंतसूक्ष्म है इस हेतु उसका साक्षात्कार दुर्लभ है । और उक्त जो अमानित्वादि ज्ञानसाधन हैं उनके अनुष्ठान करनेवालेको जीवका ज्ञान सहज ही होजाताहै और जो पुरुष मान मदादिदोषोंसे युक्त है उनसे यह बहुत दूर है अर्थात् वे जीवके ज्ञानको पा नहीं सकते ॥ १५ ॥

मू०—अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

दोहा—एकरूप सब कायमें, तनुगम लखत अजान ।
वपुधारण भोजनकरन मलछोडन हु निदान ॥ १६ ॥

टी०—जीवात्मा समग्र भूत=शरीरादिमें रहकर तथा अनंत होकर भी अविभक्त=एव स्वरूप ही है अर्थात् देवादिशरीरमें होनेवाले जीवका कुछ और स्वरूप है और मनुष्यादिशरीरमें होनेवाले जीवका कुछ और स्वरूप है यह विभाग नहीं किं तु सभी

शरीरोंमें होनेवाले सभी जीवोंका वास्तवस्वरूप एकसा ही है यथा सभी अणु हैं सभी नित्य हैं इत्यादि तथापि जो देवमनुष्यादिका परस्पर भेद प्रतीत होताहै वह अपने अपने कर्मोंसे प्राप्त शरीरके ही भेदसे भेद प्रतीत होताहै। और यह जीव जिस शरीरको प्राप्त होताहै तदाकार भी कहाताहै यथा मनुष्यदेहमें मनुष्य, देवदेहमें देव, पशुदेहमें पशु कहाताहै। और भूत = शरीरादिको यह धारण करनेवाला है अतएव शरीरादिसे भिन्न भी है। ग्रसिष्णु = अन्नादिको खानेवाला है। तथापि प्रभविष्णु=खाएहुए अन्नादिको छोडनेवाला अर्थात् मलत्याग करनेवाला है। जीवरहित शरीर न खा सकता है न मल छोड सकता है। इसहेतु खानपानादिको यहांपर जीवधर्म कहाहै वस्तुगत्या ये सभ न केवल जीवके ही धर्म हैं न केवल देहके ही धर्म हैं किंतु देह इंद्रियें जीव इनके मिलेहुओंके धर्म हैं ॥ १६ ॥

मू०—ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥ १७ ॥

दोहा—ज्योतिनसों पर ज्योति अरु, प्रकृतीसों पर सोय ।
ज्ञानाकृति, हियमें बसे, ज्ञात ज्ञानसों होय ॥ १७ ॥

टी०—जीवात्मा दीपसूर्यप्रभृति ज्योतिओंकी भी ज्योति = प्रकाशकहै अर्थात्प्रकाशका प्रकाशभी जीवसे ही होताहै और घटादिप्रकाशक भी जीव ही है बाह्य सूर्य दीपादिका प्रकाश तो केवल घटादिको आवृतकरनेवाले अंधकारका नाश करसकताहै। तमसः= सूक्ष्मावस्थापन्नप्रकृतिसे भी जीव परेहै=प्रधान (उत्तम) है ज्ञानं ज्ञेयं=जीवात्मा ज्ञानाकाररूपेण ही ज्ञेय है अर्थात् जीवके ज्ञानरूपधर्म के ही पुरस्कारसे जीव ज्ञानरूपत्वेन ही जाना जासकताहै। अतएव वह ज्ञानगम्य है। और सभी लोगोंके हृदयमें जीव वास करताहै। क्यों कि वह अणु है हृदयमें भी रहकर वह दीपवत् समग्र देहमें प्रकाश करताहै ॥ १७ ॥

मू०—इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

दोहा—कहे ज्ञान साधन तथा, काय जीवको रूप ।
जो जानत मम भक्त इह तिस भव छूटत भूप ॥ १८ ॥

टी०—" महाभूतान्यहंकारः " यहांसे लेकर " संघातश्चेतना धृतिः " यहांतक संक्षेपसे क्षेत्र=शरीरके स्वरूपको कहदिआ। " अमानित्वम् यहां से लेकर तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् " यहां तक ज्ञान=ज्ञानके साधन कहदिए और " अनादि मत्परम् " यहांसे लेकर " हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् " यहां तक ज्ञेय=जीवात्माके स्वरूपको संक्षेपसे कहदिआ। हे पार्थ मेरा भक्त इन सभको जानकर अर्थात् अमानित्वादिज्ञानसाध-

नोंको अनुष्ठानसे जीवात्माके साक्षात्कारको संपादन करके मद्भाव = असंसारित्वको प्राप्त होताहै । यह दृष्ट ही फलहै क्यों कि जीवात्मा स्वरूपेण संसारवन्धसे रहित है उसका जो साक्षात्कार करलेगा वह अपनेको संसारवन्धसे रहित जान ही लेगा । परमफल तो मोक्षप्राप्ति ही है ॥ १८ ॥

मू०-प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ १९ ॥

दोहा--प्रकृति अरु यह जीव दउ तात अनादी जान ।
जो विकार अरु गुण कहे प्रकृतिजन्य तिन मान ॥ १९ ॥

टी०-प्रकृति और पुरुष ये दोनों ही भिन्न भिन्न स्वभावके भिन्न भिन्न पदार्थ हैं तथापि उनका संबंध अनादिकालसे चलाआताहै, उन दोनोंके संबंधका हेतु तथा परस्परसंबद्धोंके दोनोंके भिन्न भिन्न कार्य यह सभ कहतेहैं-प्रकृतिमित्यादिना ।

हे पार्थ प्रकृति और पुरुष = जीवात्मा ये दोनों अनादि हैं और अनादिकालसे लेकर परस्पर संबद्ध (मिलेहुए) हैं क्यों कि जीवकी जो संसारावस्था है इसमें प्रकृतिसंबंध ही हेतु है । और बंधहेतुभूत जो इच्छादिक विकार हैं तथा मोक्षहेतुभूत जो अमानित्वादिउक्तगुण हैं ये सभ प्रकृतिजन्य हैं । अर्थात् शरीररूपेण परिणत प्रकृति अपने इच्छाद्वेषादि विकारोंसे पुरुषको बांधतीहै । वही प्रकृति अमानित्वादि अपने गुणोंसे पुरुषमोक्षकी भी हेतु बन जाती है ॥

यहां पर मधुसूदनसरस्वतीजीने जो विकारशब्दका महदहंकारप्रभृति षोडशविकार अर्थ किआहै तथा गुणशब्दका सत्वादिगुण अर्थ किआहै सो कुछ संगत नहीं क्यों कि भगवान् पूर्व श्लोकमें " इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं " यह कह कर उक्त ज्ञानसाधनोंके तथा ज्ञानविरोधिओंके ही स्वरूपको कहते हैं कि ये सभ प्रकृतिजन्य हैं । और सत्त्वादिगुण प्रकृतिजन्य नहीं हैं किं तु प्रकृतिके गुणहैं वस्तुगत्या प्रकृतिस्वरूप हैं किं वा प्रकृति ही गुणस्वरूप है इस सिद्धांत विरोधकी ओर भी मधुसूदनजीने ध्यान नहीं दिआ ॥ १९ ॥

मू०-कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

दोहा-वपु इंद्रियकी जो क्रिया साधन तिन हि प्रधान ।
सुख दुख अनुभवको तथा जीव हि आश्रय मान ॥ २० ॥

टी०-यहांपर कार्य नाम शरीरका है । कारण नाम मनसहित ग्यारहों इंद्रियोंका है । शरीर ज्ञानेंद्रियें कर्मेंद्रियें तथा मन ये जो कुछ चलना फिरना हिलना लंघन

देखना इच्छा द्वेष मनोरथ इत्यादि क्रिया करतेहैं उनक्रियाओंमें प्रकृति ही हेतु है क्यों कि ये सभ क्रियाएं शरीरसंबंधके कारण ही होतीहैं और शरीर तो प्रकृतिका ही परिणामी एक स्वरूप है इस हेतु प्रकृति ही उक्त क्रियाओंमें हेतु है यह प्रकृतिके कार्य कहदिए। और सुखदुःखादिका जो अनुभव है उसका पुरुष ही हेतु=आश्रय है अर्थात् सुखदुःखादिका अनुभव करनेवाला जीव है। ये जीवके कार्य कहदिए ॥२०॥

मू०-पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसंगोस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

दोहा-प्रकृति युक्त ही जीव इह भोगत सुख दुख जात।
सुख दुख की आसक्तिसों भली बुरी तनु पात ॥ २१ ॥

टी०-यहांपर प्रकृतिशब्द प्रकृतिसंबंधका बोधक है और गुणशब्द सत्वादिगुणजन्य सुखदुःखादिका बोधक है। हे पार्थ प्रकृतिके साथ संबंध रखनेवाला ही संसारीजीवात्मा प्रकृतिसंबंधसे होनेवाले सत्त्वादिगुणजन्य सुखदुःखादिका भोग=अनुभव करता है। सुखादिक सभ सत्त्वादिगुणोंसे उत्पन्न होतेहैं और उनके अनुभवमें प्रकृतिसंबंध ही हेतु है इसलिए भगवान् कहतेहैं-"प्रकृतिजान् गुणान्" इति। और देवादि भली योनिप्राप्तिमें तथा पश्वादि बुरी योनिप्राप्तिमें गुणजन्य सुखदुःखादिका संग ही हेतुहै। अर्थात् सुखादिसंगके कारण ही जीव अनेक प्रकारके जन्मको प्राप्त होताहै यह प्रकृतिसंगका हेतु कहदिआ क्यों कि सदसद्योनि शरीररूप ही है शरीर तो प्रकृतिका परिणाम होनेसे प्रकृतिस्वरूप ही है। जैसे सुखदुःखमें जीव सक्त होताहै तदनुकूल ही कर्म करताहै कर्मानुकूल ही जन्म (शरीर) पाताहै फिर तदनुकूल ही कर्म करताहै जन्मताहै इसरीतिसे यह संसारचक्र अनादि है कहा भी है-

"कुर्वते कर्म भोगाय कर्म कर्तुं च भुञ्जते" इति।

व्यासदेवने भी कहाहै "सुखदुःखपुण्यापुण्यरागद्वेषा इति षडरं संसारचक्रम्" अर्थात् संसाररूपी चक्र (पहिया) के छै अर (डंडे) हैं-सुख दुःख पुण्यपाप राग द्वेष ये। सुखमें राग होताहै रागसे पुण्य करताहै। और दुःखसे द्वेष होता द्वेषसे पाप करताहै। श्रुति भी कहतीहै-"स यथा कामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते" इति ॥ २१ ॥

मू०-उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेस्मिन् पुरुष परः ॥ २२ ॥

दोहा-अनुमता द्रष्टा तथा भोक्ता कायमहेश।
देहादिक को जीव इह परमात्मा राजेश ॥ २२ ॥

टी०-हे पार्थ देहमें रहनेवाला जीवात्मा ही देहादिका उपद्रष्टा=साक्षात्कार करनेवाला है। शारीरिक क्रियादिकोंका संकल्पादिरूपसे अनुमंता=अनुमोदन करनेवालाहै भर्ता=

शरीरादिको धारण करनेवालाहै तथा सुखदुःखादिका भोक्ता=भोगनेवाला है । यही जीव देहका महेश्वर तथा परमात्मा भी है क्यों कि देहादिसे प्रधान है और देहादिका शेषी है । कुछ वस्तुगत्या जीव सभका परमात्मा और महेश्वर नहीं । सभका परमात्मा और महेश्वर तो एक श्रीनारायण ही है ॥ २२ ॥

मू०—य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

दोहा—उक्त रूपसों जीवको प्रकृतीको गुणसाथ ।
जान, पुरुष रह सभ हि विध जन्म न ले नरनाथ ॥ २३ ॥

टी०—हे पार्थ जो पुरुष जीवात्माके उक्त स्वरूपका साक्षात्कार करताहै तथा वक्ष्यमाणगुणोंसे युक्त प्रकृतिके ज्ञानका सपादन करताहै वह पुरुष संसारमें चाहे अनेकप्रकारके दुःख भी भोगे तोभी उक्तज्ञानके प्रभावसे जन्ममरणसे रहित होजाताहै । अर्थात् ज्ञानीपुरुषोंको यह नहीं जानना चाहिए कि जब हम संसारमें ही दुःख भोग रहे हैं तो हमको परलोकमें क्या सुख मिलना है । ज्ञानीपुरुष ज्ञानके प्रभावसे ही सांसारिक दुःखसे रहित होजाते हैं । भगवान्ने भी कहा है "यस्यानुग्रहमिच्छामि तस्य वित्तं हराम्यहम्" अर्थात् मैं जिसपर कृपा करतां हूं प्रथम उसके धनको हरलेता हूं । क्यों कि धन ही सभ प्रकारके पापोंका मूल है । धन न होनेसे जीव यदि पुण्य न करेगा तो पाप भी नहीं ही करता इत्यादि यथायोग्य जानना ॥ २३ ॥

मू०—ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ।
तेपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

दोहा—वपु मधि देखत जीवको भक्तियोगसों कोउ ।
ज्ञानयोगसों और नर कर्मयोगसों कोउ ॥ २४ ॥
उक्तयोग असमर्थ जन श्रवणमात्र कर तात ।
आत्मामें मन लाउते तिनहु जन्म मिट जात ॥ २५ ॥

टी०—यहांपर "आत्मनि" यह आत्मशब्द शरीरका बोधक है "आत्मना" यह आत्मशब्द मनका बोधक है और "आत्मानम्" यह आत्मशब्द जीवात्माका वाचक है । हे पार्थ कोई योगीपुरुष इस शरीरमें रहनेवाले जीवात्माको मनसे=ध्यानयोगसे देखतेहैं=साक्षात्कार करतेहैं । कोई लोग ज्ञानयोगसे देखतेहैं । जो

लोग योगमें और ज्ञानमें असमर्थ किं वा अपक्व हैं वे कर्मयोगका अनुष्ठान करतेहैं=निष्काम कर्म करतेहैं तब उनको कुछ कालमें ज्ञान तथा योग प्राप्त होताहै तब ज्ञानयोगसे किं वा ध्यानयोगसे आत्माका साक्षात्कार करतेहैं ॥

और जो लोग कर्मयोगमें भी समर्थ नहीं हैं वे ज्ञानी महानुभावोंसे जीवात्माके स्वरूपको सुनकर आत्मामें चित्तको लगाते हैं तब उनके श्रवण मननसे पाप क्षीण होजाते हैं तो कर्मयोगमें लगते हैं तदनंतर ज्ञान प्राप्त होनेसे आत्मसाक्षात्कारको प्राप्त होते हैं। सो श्रवणपरायण लोग भी उक्त क्रमसे आत्मसाक्षात्कार करके जन्ममरण संसारसे रहित (निवृत्त) होजाते हैं ॥

आजकल्ह तो कोई लोग तो अपनेको जीवन्मुक्त ही मानबैठते हैं कोईलोग गप्पयोगका अनुष्ठान करते हैं परंतु यह विदित नहीं कि उससे तरते हैं वा डूबते हैं ॥ २४ ॥ २५ ॥

मू०–यावत्संजायते किंचित् सत्त्वं स्थावरजंगमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

दोहा--जो प्रकटत जग चर अचर वस्तुजात सो मान ।
प्रकृतिजीव दउ संगसे प्रकटत सभ हि सुजान ॥ २६ ॥

टी०–हे पार्थ जो स्थावर=वृक्षादि तथा जङ्गम=शरीरादि पदार्थ प्रकट होताहै किं वा जन्म लेताहै वह सभ प्रकृति और जीवके संयोगसे ही प्रकट होताहै। अर्थात् केवल जडपदार्थमें तो प्रकट होनेकी सामर्थ्य ही नहीं क्यों कि प्रकटहोनारूप क्रियाको जड कर ही नहीं सकता। और केवल जीव तो अति ही सूक्ष्म है उसका दर्शन भी कठिन है और निर्लेप होनेके कारण भी केवल जीवका प्रकट होना संभव नहीं सो जिस जिस अंतर्हित पदार्थमें जी आकर घुसताहै वही वही पदार्थ प्रकट होताहै। यथा उदरसे शरीर पृथ्वीसे वृक्षादि प्रकट होते हैं ॥ २६ ॥

मू०–समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥
समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

दोहा–एकरूप सभकायमें जानत जीवहि जोय ।
जीव नित्य, वपु नष्ट हो, इह जानैं–बुध सोय ॥ २७ ॥

समहि देहमें एकसम एकहि रूप रहात ।

जान एक भव टूटतो तब निज रूपहि पात ॥ २८ ॥

टी०—हे पार्थ यह परमेश्वर = शरीरका नियंता जीवात्मा सभी शरीरोंमें एकसा है (एकरूप) जैसा ही जीवात्मा इंद्रके शरीरमें है तैसा ही उससे भिन्न जीवात्मा कुत्तेके शरीरमें भी है भेद केवल पापपुण्यसे प्राप्त शरीरका ही है। उसी शरीरके कारण ही ज्ञानादिकनमें भी भेद रहता है यथा इंद्रका ज्ञान अतिनिर्मल है और कुत्तेका ज्ञान अति मलिन है इत्यादि । और शरीरादिकोंके नष्ट होनेपर भी जीवात्मा नष्ट नहीं होता किंतु नित्य है इत्यादि जो आत्मस्वरूपको जानताहै वही विद्वान् = ज्ञानी है ॥

एवं रीतिसे जो ज्ञानी पुरुष समप्रदेहोंमें समान रूपसे रहनेवाले जीवको एक समान रूप ही जानताहै वह नष्ट नहीं होता = संसारमें डूबता नहीं किंतु यथाक्रम संसारसे मुक्त होना है । और समानरूपताज्ञानसे परगति = आत्माके यथार्थरूपको पाताहै । अर्थात् इस ज्ञानसे जीवात्माके यथार्थ स्वरूपका साक्षात्कार होजाता है. किं वा मोक्षको प्राप्त हो जाताहै ॥

जीवात्मा अणु है नित्य है कर्ता है भोक्ता है अनन्त है इत्यादि. जीवके बहुतसे धर्म प्रथम कहदिए हैं ॥ २७ ॥ ॥ २८ ॥

मू०—प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।

यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।

तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

दोहा—जीव न करतो कर्म कछु प्रकृति करे सम जानि ।

सुखदुखहेतु हु कर्म—इह जाने जो सो ज्ञानि ॥ २९ ॥

नर सुर आदिकभेदको प्रकृतीकृत हि मनात ।

प्रकृतीकृत विस्तार करु, तब निजरूप लहात ॥ ३० ॥

टी०—हे पार्थ कर्म = क्रिया मात्रको प्रकृति ही करती है और जीवात्मा करता नहीं अर्थात् कर्तृत्वधर्म जीवात्माके स्वरूपांतर्गत नहीं किंतु जीवात्मा ज्ञानैक निरूप्य है यह जो जानताहै वह ज्ञानी है । जीव सर्वात्मना अकर्ता नहीं किं तु इस जीवकी कर्तृता परमात्माके अधीन है तथा शरीर इंद्रियें प्राण इनके भी अधीन है इसी हेतु जीवको अकर्ता कहा जाताहै । कहा भी है—

"अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।

विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥" इति ।

इस विषयको द्वितीयाध्यायके १९ के श्लोक पर अच्छीतरह लिखा है॥ २९ ॥

और भूतोंके जो ह्रस्वत्व दीर्घत्व स्थूलत्व कृशत्व इत्यादि तथा देवत्व मनुष्यत्व पशुत्व इत्यादि भेद हैं वे सब एकतत्त्व जो प्रकृति है उसमें ही रहते हैं अर्थात् ये सब भेद प्रकृतिकृत ही हैं जीवकृत नहीं । और विस्तार जो पुत्रपौत्रादिरूप है वह भी प्रकृतिकृत ही है यह जब पुरुष जानता है तब ब्रह्म=जीवात्माके यथार्थस्वरूपके साक्षात्कारको प्राप्त होता है । किं वा मोक्षको प्राप्त होताहै यहांपर "एकस्थम्".ऐसा कहनेसे भगवान्का यही अभिप्राय है कि प्रकृतिरूप तत्त्व ही एक (एकत्वसंख्यावाला) है और जीवरूपी तत्त्व तो अनेकहै=जीव अनेकहैं । यदि जीव एक ही हो तो वह भी एकतत्त्व होनेसे उक्तभूतभेद जीवमें नहीं प्राप्त होगा यह तो सर्वथा अनुचित है इसहेतु यही स्वीकार करना चाहिए कि जीव अनेक हैं ॥ ३० ॥

मू०–अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

दोहा–जीव अनादि होनसे अव्ययरूप सुजान ।
निर्गुण है तासों नहीं करतो बँधतो मान ॥ ३१ ॥
गगन यथा सब सँग रम्यौ लिप्त न कोउ सुभाव ।
तथा कायमें बैठ हू जीव अलिप्त मनाव ॥ ३२ ॥

टी०–हे पार्थ यह जीवात्मा अनादि है अतएव अव्यय=विकार रहित है क्यों कि जो पदार्थ सादि होताहै वह उत्पन्न भी होताहै फिर जीर्ण होताहै फिर नष्ट भी होता है योगवार्तिकमें भी सादिपदार्थकी छे अवस्था कही हैं–"अस्ति जायते वर्धते परिणमते क्षीयते नश्यति" इति । अर्थात् सादिपदार्थ प्रथमकारणमें सत्ता रखता है फिर उत्पन्न होताहै फिर बढताहै फिर ह्रासको प्राप्त होताहै फिर क्षीण होताहै फिर नष्ट होजाताहै=कारणमें मिलजाताहै । सो उत्पत्ति विनाशादिरूप ही विकार हैं ये विकार तो सादि पदार्थमें ही रहते हैं और जीवात्मा तो अनादि है इससे वह विकाररहित है । और यह जीवात्मा निर्गुण=सत्त्वादिगुणोंसे रहित है अतएव यह स्वतंत्र होकर कुछ नहीं करसकता किं तु जीवकी कर्तृता उक्त गुणादिके ही अधीन है सत्त्वादिगुणोंसे रहित ही होनेके कारण यह जीव देहस्वभावोंसे बद्ध भी नहीं होता । करना और बंधजाना यह सत्त्वादिगुणवालेका ही धर्म है ।

हे पार्थ यथा आकाश सबपदार्थोंके साथ संयुक्त है तो भी सूक्ष्म होनेके कारण किसी भी पदार्थके स्वभावसे लिप्त नहीं होता यथा–जलके साथ लगकर भीगता भी नहीं सूर्यप्रकाश तथा अग्निके साथ लगा जलता भी नहीं एवं यह जीवात्मा भी सूक्ष्म-

रूप होनेके कारण देहधर्मोंसे लिप्त=संवद्ध नहीं होना, देहके कृश होनेसे जीव कृश नहीं होता देहके स्थूल होनेसे जीव स्थूल भी नहीं होता सदा एक स्वरूप रहता है इत्यादि। हां जीवके ज्ञानका देहभेदसे संकोच विकास अवश्य होता रहताहै यथा। दीप कुलेडेमें रक्खाहुआ थोडी दूर ही प्रकाश करताहै घटमें रक्खा हुआ उससे कुछ ज्यादा प्रकाश करताहै घर (कोठरी) में रक्खाहुआ और भी ज्यादा प्रकाश करता है। एवं जीवका भी स्थावरयोनिको प्राप्त होकर ज्ञान बहुत ही संकुचित हो जाताहै पशुयोनिमें उससे कुछ ज्यादा ज्ञानका विकास होता है मनुष्ययोनिमें उससे भी ज्यादा विकास होताहै देवयोनिमें उससे भी ज्यादा विकास होताहै और यथार्थ निरोधरहित ज्ञानका प्रकाश तो श्रीवैकुंठधाममें ही पहुंचनेसे होताहै इधर कभी नहीं होसकता ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

मू०-यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

दोहा-सकल भुवनको सूर्य जिमि दीपित करत सुजान।
जीव तथा सम कायको करत प्रकाशित मान ॥ ३३ ॥
काय जीवको उक्त विध भेद ज्ञानसों पाय।
साध अमानित्वादि गुण, रूप यथार्थ लहाय ॥ ३४ ॥

टी०-हे पार्थ यथा एक ही छोटासा सूर्य इस समग्र बडे भारी लोकको प्रकाशित करताहै तथा यह अणु भी जीव समग्र शरीरको प्रकाशित करताहै। इस उपमासे भी भगवान्‌का यही तात्पर्य प्रतीत होताहै कि जीवात्मा अणु ही है। और शरीर प्रकाश्य है जीव प्रकाशक है इससे शरीरापेक्षया जीव अत्यंत विलक्षण है॥ हे पार्थ जो पुरुष ज्ञानसे शरीरके और जीवात्माके उक्त भेदोंका साक्षात्कार करताहै कि जीव अणु है नित्य है विकाररहित है सत्त्वादिगुणरहित है प्रकाशक है इत्यादि। तथा शरीर मध्यमपरिमाणवाला है अनित्य है विकारी है सत्त्वादिगुणयुक्त है प्रकाश्य है इत्यादि साक्षात्कारकरताहै। तथा भूतप्रकृतिमोक्ष=भूतप्रकृतिसे मोक्षकरानेवाले जो अमानित्वादि गुण कहेहैं उनको सिद्धकरताहै=साधता है वह पुरुष जीवात्माके यथार्थ रूपको प्राप्तहोताहै ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

इति पंजाबी पंडितसुदर्शनाचार्यप्रणीत श्रीभगवद्गीतासतसई तथा तत्त्वार्थसुदर्शनी टीकासहित श्रीमद्भगवद्गीताका त्रयोदशाध्याय समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच—

मू०—परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

दोहा—कहौं गुणनके ज्ञानको जो उत्तम, मन धार ।
पाय जिसै मुनि सभ गए भवसागरसौं पार ॥ १ ॥
कहौं ज्ञान सो पाय जिस परमधाममें जाय ।
सर्ग समय ना जन्मते प्रलयखेद ना पाय ॥ २ ॥

टी०—त्रयोदशाध्यायमें प्रकृति और जीवात्माका यथार्थ स्वरूप कहदिया और भगवद्भक्तिसहित अमानित्वादिगुणोंसे संसारबंध निवृत्त होताहै यह भी कहा और "कारणं गुणसंगोस्य सदसद्योनिजन्मसु" इत्यादिसे बंधहेतु भी कहदिया कि सत्त्वादिगुणमय सुखादिकी आसक्ति ही बंधका हेतु है । अब जिसप्रकारसे गुण बांधते हैं तथा जिसरीतिसे बंध, निवृत्त होसक्ताहै उसे इस अध्यायमें कहनेको आरंभ करते हैं—परमिति ॥

हे पार्थ जो तेरेको ज्ञान सुनायाहै उससे भिन्न सत्त्वादिगुणविषयक ज्ञानको तुझे सुनाता हूं यह ज्ञान प्रकृति पुरुषके समग्रज्ञानोंमें उत्तम है । तथा इसी ज्ञानको पाकर मुनि—इस ज्ञानका मनन (विचार) करनेवाले ज्ञानीलोग संसारसागरसे पार होगएहैं ।

जिस ज्ञानको मैं तुझे सुनाना चाहताहूं इस ज्ञानको प्राप्त होकर इस ज्ञानके प्रभावसे ज्ञानी भक्तलोग श्रीवैकुंठधाममें पहुंच मेरी समताको प्राप्त होकर सर्गकालमें जन्मको प्राप्त नहीं होते और प्रलयकालमें संसारी जीवोंकेतुल्य संहार दुःखको भी प्राप्त नहीं होते अर्थात् वे फिर संसारको प्राप्त नहीं होते । श्रुति भी कहती है "स न पुनरावर्तते" "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इत्यादि ॥ १ ॥ २ ॥

मू०—मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

दोहा–लोकयोनिप्रकृति संग जीवसयोग कराउं ।
तब सम भूतनको सखे यथाकाल जन्माउ ॥ ३ ॥

टी०–यहांपर महद्ब्रह्म शब्द प्रकृतिका वाचक है क्यों कि महत्तत्त्वसे आदिलेकर जितने विकारहैं उन सभकी प्रकृति कारण है तथा उन सभसे वडी भी है इससे प्रकृतिको भी ब्रह्म कहतेहैं श्रुतिमें भी कहीं कहीं प्रकृतिको ब्रह्म कहाहै यथा " तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते " यहांपर ब्रह्मशब्दसे 'प्रकृतिको ही कहाहै । और "मम योनिर्महद्ब्रह्म " यहांपर ममशब्दवाच्य भगवान्के साथ महद्ब्रह्मशब्दवाच्य प्रकृतिका योनित्वेन अन्वय नहीं करना किं तु, प्रकृतिका और परमात्माका शेषशेषीभाव संबंध है अर्थात् परमात्मा प्रकृतिका प्रभु = स्वामी है और, प्रकृति उसका स्व = धनरूप शेष है । और प्रकृति जडवर्गकी ही योनि है सो 'जगत्की योनिभूत प्रकृति मेरी है ' यह भगवान्का अभिप्राय है ।

हे पार्थ मेरी शेषभूत तथा समग्र जडप्रपंचकी योनि = कारणभूत महद्ब्रह्म = प्रकृति है उसमें गर्भ = चेतन जीवात्माको रखताहूं अर्थात् जडभूत = प्रकृतिके साथ जीवात्माका संयोग = संबंध करदेताहूं तब ये समग्र भूत = शरीरादिक उत्पन्न होतेहैं । भगवान् प्रथम भी कहचुकहै–

" यावत्संजायते किंचित्सत्वं स्थावरजंगमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥" इति ।

अन्यत्र भी कहा है-

" गुणसाम्यात्ततस्तस्मात् क्षेत्रज्ञाधिष्ठितान्मुने ।
गुणव्यञ्जनसंभूतिः सर्गकाले द्विजोत्तम ॥" इति ।

अर्थात् गुणसाम्यावस्थारूप प्रकृतिके साथ जीवात्माका संयोग होनेसे गुणव्यक्तिस्वरूप महत्तत्त्व प्रथम उत्पन्न होताहै ॥ ३ ॥

मू०–सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

दोहा–जो जो तनु जन्मत सखे प्रकृती तिन हि निदान ।
तिन कायनसों जीवको हों जोडौं इह मान ॥ ४ ॥

टी०–हे पार्थ देव गंधर्व यक्ष राक्षस मनुष्य पशु मृग पक्षी तथा सरीसृप इत्यादि योनि = जातिओंमें जो जो शरीर उत्पन्न होताहै उनकी महद्ब्रह्म = प्रकृति ही कारणहै, अर्थात् शरीर जड हैं सो वे प्रकृतिके ही परिणाम हैं और उनशरीरोंमें बीजप्रद = नाम जीवात्माको संयुक्त करनेवाला मैं ही हूं अतएव सभका पिता हूं । कहा भी है– "त्वं माता सर्वभूतानां देवि देवो हरिः पिता" इति ।

यहांपर जो भगवान्‌ने प्रकृतिको कारण कहाहै सो अव्यवहितकारणताको कहाहै वस्तुगत्या सभका कारण भगवान् ही हैं किं तु भगवान् प्रथम प्रकृतिको प्रकट करके तब प्रकृतिद्वारा शरीरादिकी रचना करतेहैं इसी हेतु वेदांतमें समग्रप्रपंचको भगवान् श्रीनारायणका ही परिणाम कहा है । इस श्लोकके कहनेका भगवान्‌का यह तात्पर्य है कि व्यष्टिसृष्टि (स्थूलसृष्टि) का भी मैं ही कारण हूं चतुर्मुखादिक नहीं वेदांतका अधिकरण भी है-

व्यष्टिसृष्टिः क्रिया कस्य जीवस्यात्मभुवः श्रुतेः ।
त्रिवृत्करणसामानाधिकरण्यात्परात्मनः ॥ इति ॥ ४ ॥

मू०-सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

दोहा-सत्त्व तथा रज तम सखे प्रकृतीके गुण तीन ।
वपुमधि बैठे जीवको बाधत है कर दीन ॥ ५ ॥

टी०-हे पार्थ सत्त्व रज तथा तम ये तीन गुण प्रकृतिके हैं वस्तुगत्या इन तीन गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम ही प्रकृति है जब ये तीनों गुण विषम होतेहैं तो महत्तत्त्वादि विकार उत्पन्न होतेहैं देहमें रहनेवाले जीवात्माको ये ही गुण बांधतेहैं नाम सुख दुःखादिमें तथा तिनके उपायादिकनमें आसक्त करतेहैं । और वह जीव स्वयं तो अव्यय=गुणसंबंधके योग्य नहीं किं तु देहसंबंधके कारण ये सभ उपद्रव प्राप्त होतेहैं ॥ कहा भी है-

"त्रिगुणं तज्जगद्योनिरनादिप्रभवाप्ययम् ।"
"त्रिगुणं कर्मिणां क्षेत्रं प्रकृते रूपमुच्यते ।" इत्यादि ।
"निर्वाणमय एवात्मा ज्ञानानन्दमयोऽमलः ।
दुःखाऽज्ञानमला धर्माः प्रकृतेस्ते न चात्मनः ॥
जलस्येवाग्निसंसृष्टस्थालीसंगात्तथापि हि ।
शब्दोद्रेकादिकान् धर्मान् तत्करोति यथा मुने ॥
तथात्मा प्रकृतेः सङ्गादहंमानादिदूषितः ।
भजते प्राकृतान् धर्मानन्यस्तेभ्योपि सोऽव्ययः ॥ " इत्यादि ॥ ५ ॥

मू०-तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥ ६ ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

तमस्त्वऽज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

दोहा—सत्त्व विमलतावश करै प्रकाश अरोगनिदान ।
ज्ञानसंग सुखसंगसों बांधत जीवहिं मान ॥ ६ ॥
तृष्णा प्रेमऽऽसक्तिको हेतु रजोगुण जान ।
क्रियासंगसो बांधतो जीवहिं परम सुजान ॥ ७ ॥
तम अज्ञान बढावतो अज्ञान हि तमहेत ।
निद्राऽऽलस्यप्रमादसों बांधत जीवहि, चेत ॥ ८ ॥

टी०-सत्त्व गुण निर्मल है अतएव प्रकाशक=ज्ञानवर्धक है । अनामय=अरोगरहनेका भी हेतु है । सुख और ज्ञानके संग=आसक्तिसे जीवको बांधताहै । अर्थात् सत्त्वगुणके होनेसे जीवको सुखकी और ज्ञानकी इच्छा होतीहै तब जीव सुखकेलिए और ज्ञानके-लिए लौकिक तथा वैदिक कर्मोंमें प्रवृत्त होताहै यही जीवके लिए बंध है । उसमेंसे भी जो पुरुष सत्त्वके कारण आत्मा और परमात्माके ज्ञानकेलिए कर्ममें प्रवृत्त होताहै वह तो बंधकर भी कभी न कभी ज्ञानमाहात्म्यसे बंधसे छूट जाताहै । जो पुरुष सुख तथा लौकिकज्ञानकेलिए कर्ममें प्रवृत्त होताहै उसका बंध टूट नहीं सकता क्यों कि उस बंधका चक्र चलता ही रहताहै यथा सुखसे कर्म कर्मसे सुख फिर सुखसे कर्म इत्यादि ॥

रजोगुण राग=स्त्रीपुरुषोंका स्नेह, तृष्णा=विषयभोगेच्छाकी अनिवृत्ति, संग=पुत्र कलत्रादिकी आसक्ति, इन सभका समुद्भव=हेतु है=जनकहै । रजोगुण कर्मसंगसे जीवको बांधताहै अर्थात् रजोगुणके कारण रागादिक उत्पन्न होताहै और तब जीव रागादिके कारण अनेक प्रकारके कर्म=क्रियामें प्रवृत्त होताहै यही जीवकेलिए बंध है ॥

तमोगुण अज्ञानसे उत्पन्न होताहै और अज्ञानको ही बढाताहै । और निद्रा आलस्य प्रमादादिसे जीवको बांधताहै । अर्थात् अज्ञानसे निद्राप्रमादादिक बढतेहैं उनीमें जीव फँस जाताहै । कर्तव्यसे अन्यत्र अकर्तव्यमें प्रवृत्त होना ही प्रमाद है । आलस्य = आलस केसीकाममें प्रवृत्त होनेको न चाहना ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

मू०-सत्त्वं सुखे संजयति, रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

दोहा—सुखमें सत्त्व लगावतो, क्रियामाहँ रज जान।
जीवहिं लाय प्रमादमें ज्ञान रोक तम मान॥ ९॥
रज तम दोउ दबायके सत्त्व बढ कभु तात।
रज बढतो तम सत्त्वसे, कबहूं तम बढजात॥ १०॥

टी०—सत्त्वगुण जीवको सुखमें लगाता है अर्थात् सुखकी इच्छाको उत्पन्न करता है। रजोगुण क्रियामें प्रवृत्त करताहै। और तमोगुण ज्ञानको ढकके रोककर अर्थात् अज्ञानको बढाकर जीवको प्रमादमें लगाताहै॥

और कभी तो रज और तमको दबाकर सत्त्वगुण बढजाताहै कभी सत्त्वगुण तथा तमोगुणको दबाकर रजोगुण बढजाताहै। कभी सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुण बढताहै। अर्थात् जो गुण बढताहै वह दूसरे दोनो गुणोंको दबाकर ही बढताहै॥ ९॥ १०॥

मू०—सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥ ११॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥ १२॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥ १३॥

दोहा—ज्ञानेंद्रियमें होत जब विमल प्रकाश सुजान।
ज्ञान बढै, तब जान तू सत्त्व बढ्यौ सुखखान॥ ११॥
कर्मारंभ अशांति अरु लोभ चपलता राग।
ये जब बढते जान तब बढयो रजोगुणभाग॥ १२॥
प्रमाद मोह अज्ञान अरु त्याग कर्मको और।
ये जब बढते जान तब तम हि बढयो मतिचोर॥ १३॥

टी०—जब ज्ञानद्वार=ज्ञानेंद्रिय चक्षुप्रभृतिमें प्रकाश बढकर ज्ञान उत्पन्न होताहै=बढताहै तब जानना चाहिए कि सत्त्वगुण बढाहै। यहांपर 'प्रकाशे सति यदा ज्ञानमुपजायते' ऐसा सतिसप्तमीसे अन्वय करना।

जब लोभ प्रवृत्ति=चपलता कर्मारंभ विषयोंसे इंद्रियोंकी अनुपराति विषयभोगेच्छा ये बढें तब जानना चाहिए कि रजोगुण बढाहै॥

जब अप्रकाश=ज्ञानका अनुदय अप्रवृत्ति=आलस्य प्रमाद और अज्ञान इत्यादि बढ़े तब जानना चाहिए कि तमोगुण बढाहै॥ ११॥ १२॥ १३॥

मू०--यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

दोहा--सत्त्व बढै ते जो मरै सो नर सुभग सुजान ।
हरिभक्तनके विमल कुल जन्मत ज्ञाननिदान ॥ १४ ॥
रज हि बढै ते मर हि नर कर्मसंगिकुल जात ।
तम बढते नर मरहिंके जन्मत पशुकुल तात ॥ १५ ॥

टी०--सत्त्वगुण बढते जो पुरुष मरता है अर्थात् जिसकी वृद्धावस्थामें सत्त्वगुण बढजाताहै और मरण समय भी सत्त्वगुण ही बढा रहताहै वह पुरुष उत्तम जाननेवाले अर्थात् ज्ञानीलोगोंके कुलमें जन्मता है वहां वह आत्मज्ञानको प्राप्त होताहै ॥ १४ ॥
यदि वृद्धावस्थामें रजोगुण बढजाताहै और मरण समय भी रजोगुण ही बढा रहता है तो वह पुरुष मरकर कर्मसंगीलोगोंके कुलमें जन्मकर अच्छे फलोंकेलिए कर्म करताहै॥ यदि वृद्धावस्थामें तमोगुण बढजाय और तमोगुणवृद्धिमें ही मरजाय तो वह पुरुष अज्ञानप्रधान पशुयोनिको प्राप्त होताहै ॥ १५ ॥

मू०--कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

दोहा--सुखमय फल है सत्यको तिस हि पुण्यफल जान ।
दुखमय फल रजको तथा, तमको फल अज्ञान ॥ १६ ॥

टी०--सत्त्वगुणका फल निर्मल=सुखमय होताहै वही पुण्यका भी फल कहाताहै अर्थात् सत्त्व बढने पर मरकर जीव ज्ञानी लोगोंके कुलमें जन्मकर निष्काम कर्म करताहै उस कर्मयोगसे दुःखरहित सुखमय आत्मस्वरूपज्ञानरूप फल प्राप्त होताहै । रजोगुणका फल दुःख है अर्थात् रजोगुण बढते मरकर जीव कर्मसंगी लोगोंके कुलमें जन्मता है वहां फलकेलिए कर्म करताहै उससे विषयरूपी फलको पाता है वह सब दुःखमय है । तमोगुणका फल अज्ञान है अर्थात् तमोगुण बढते मरकर पशुकुलमें जन्मताहै वहां अज्ञान ही बढताहै । इत्यादि ॥ १६ ॥

मू०--सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

दोहा—ज्ञान बढै बहु सत्त्वमों रजसों लोभ बढात।
प्रमाद मोह अज्ञान अरु बढते तमसों तात॥ १७॥

टी०—जब अधिक सत्त्व बढताहै तो उससे आत्मज्ञान प्रकट होवाहै। और जब रजोगुण बढताहै तो उससे लोभ=स्वर्गादिफलकी इच्छा बढती है। और जब तमोगुण बढताहै तो उससे प्रमाद मोह=विपरीतज्ञान अज्ञान=ज्ञानाभाव ये फल उत्पन्न होते हैं। तमबढनेसे प्रमाद होताहै। और भी तमोगुण बढनेसे मोह उत्पन्न होता है। और भी तमोगुण बढनेसे अज्ञान होताहै किसीतरहका भी ज्ञान न होना यह तमोगुणकी सीमा है॥ १७॥

मू०—ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ १८॥

दोहा—सत्त्वगुणी क्रमशः सबे परमधामको जात।
रजोगुणी मध्य हिं रहै, तमसो अधम समात॥ १८॥

टी०—हे पार्थ सत्त्वगुणवाले लोग क्रमसे संसारबंधसे छूटकर परमधामको जाते हैं अर्थात् सत्त्वगुणसे आत्मज्ञान बढताहै फिर भगवद्भक्ति होती है तब जीव परमधामको जाताहै। और रजोगुणी लोग मध्यमें रहते हैं अर्थात् रजोगुणसे विषयाभिलाष होतीहै तब जीव सकामकर्म करताहै तब उन कर्मोंका यहां वा स्वर्गमें फल भोगकर फिर पृथ्वीपर ही आ जन्मताहै। तमोगुणवाले लोग तमोगुणमयीवृत्तिको पाकर दिनों दिन निकृष्ट योनिको प्राप्त होते हैं पशुयोनिसे पक्षियोनि पक्षियोनिसे कीटादियोनि, कीटादियोनिसे वृक्षयोनिको प्राप्त होते हैं॥ १८॥

मू०—नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति, मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ १९॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥ २०॥

दोहा—जीव अकर्ता, गुणनसों पर अरु भिन्न सुजान।
कर्म करैं गुण—जान इह होत मुक्त नर मान॥ १९॥
उक्त ज्ञानको साधकर गुणातीत अरु होय।
जरा जन्म मृति दुःखसों छूटत नरवर सोय॥ २०॥

टी०—जो ज्ञानी पुरुष यह जानताहै कि गुणोंसे भिन्न और कोई कर्ता नहीं किं तु समग्रक्रियाओंके करनेवाले सत्त्व रज तम ये तीन गुण ही हैं आत्मा भी जो कर्ता कहाताहै वह इन गुणोंके संगसे ही कर्ता कहाताहै। और जीव तो गुणोंसे भिन्न है पर है स्वरूपेण अकर्ता है, वह पुरुष संसारबंधसे छूटजाताहै।

गुणोंके और जीवात्माके भेदज्ञानसे जीव मद्भावको प्राप्त होताहै ऐसा भगवान्ने कहा उसमें मद्भाव क्या पदार्थ है यह कहते हैं गुणानिति । सत्त्व रज तम इन तीनों गुणोंसे अतीत होकर अर्थात् इनको ही कर्ता जानकर तथा जीवात्मको इन तीन गुणोंसे पर = उत्कृष्ट जानकर जन्म मृत्यु जरा इत्यादि दुःखोंसे जीव मुक्त होकर अमृतको प्राप्त होताहै अर्थात् अमृतस्वरूप जो जीवात्माका स्वरूप है उसके साक्षात्कारको प्राप्त होताहै । ये गुण देहसमुद्भव हैं अर्थात् देहरूपेण परिणत जो प्रकृति उसके हैं ॥ १९ ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच–

मू०–कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानऽतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

दोहा–किन चिह्ननसों ज्ञात हो गुणातीत नरराय ।
कौन उपायनसों तथा गुणगण जीत्यौ जाय ॥ २१ ॥

टी०–हे भगवन् गुणातीत पुरुष किन लक्षणोंसे जानाजाताहै = गुणातीत पुरुषका कैसा आचार होताहै जिससे वह पहचाना जाय । तथा किन साधनोंसे जीव इन सत्त्वादिगुणोंको जीत सकताहै ? यह सभ कृपाकरके कहिए ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच--

मू०–प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ २२ ॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥
समदुःखसुखः स्वस्थःसमलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाऽप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

दोहा–प्रकाश प्रवृत्ती मोह ये कार्य गुणोंके तात ।
इनसों द्वेष करै न अरु इनको जा न चहात ॥ २२ ॥
उदासीन हो रहत जो तिनसो चलित न होय ।
गुण निज कार्य करैं इह जान न फँसतो जोय ॥ २३ ॥

स्तुति निंदा मृत् कनक प्रिय अप्रिय सुख दुख तात ।
इनको सम समझै तथा ध्यानमाहँ हिय लात ॥ २४ ॥
मान मित्र अपमान अरि सम समझै इन जोय ।
जन व्यवहार उदास अरु गुणातीत नर सोय ॥ २५ ॥

टी०—हे पार्थ सत्त्वगुणका कार्य प्रकाश है, रजोगुणका कार्य प्रवृत्ति है तथा तमोगुणका कार्य मोह है ये प्रकाश प्रवृत्ति मोह आत्मामें तथा आत्मव्यतिरिक्त पदार्थोंमें भी प्रवृत्त होतेहैं । यथा घटका प्रकाश भी होताहै घटकेलिए प्रवृत्ति भी होतीहै घटके विषयमें मोह = अज्ञान भी होताहै तथा आत्माका प्रकाश भी होताहै आत्माकेलिए आत्मज्ञानसाधनोंमें प्रवृत्ति भी होतीहै आत्माका अज्ञान भी होताहै । सो आत्माके प्रकाशकी अवश्य इच्छा करनी चाहिए और आत्मप्रकाशकेलिए उसके साधनोंमें प्रवृत्त भी होना चाहिए और आत्माके अज्ञानकी ज्ञानसे निवृत्ति भी अवश्य करनी चाहिए ।

आत्मव्यतिरिक्त जो बाह्य घटपटादि विषय हैं उनके यदि उक्त प्रकाश प्रवृत्ति मोह ये प्रवृत्त हों तो उनके साथ द्वेष न करे-उनको रोके भी मत वे प्रकाश प्रवृत्ति मोह यदि प्रवृत्त न हों तो उनकी इच्छा भी न करे ऐसा पुरुष गुणातीत कहाताहै ॥

और जो पुरुष गुणोंके विषय उदास रहता है अर्थात् न गुणोंको इष्ट ही समझता है और अनिष्ट ही समझता है तथा गुणोंके वेगसे जो आत्मसाक्षात्कारसे विचलित नहीं होता । गुण अपने अपने प्रकाश प्रवृत्ति मोह इन कार्योंमें प्रवृत्त होतेहैं मुझे क्या यह समझकर जो चुप रहताहै कोई प्रकारके विषयमें फँसता नहीं तथा गुणोंके अनुकूल स्वयं कुछ चेष्टा नहीं करता वह पुरुष गुणातीत कहाताहै ॥

और जो पुरुष सुख दुःख मट्टी सोना प्रिय अप्रिय = इष्ट अनिष्ट निंदा और स्तुति इनको समान समझताहै अर्थात् इष्ट = सुखादिसे प्रेम भी नहीं करता तथा अनिष्ट = दुःखादिसे द्वेष भी नहीं करता । और धीर = प्रकृति और जीवके विवेक ज्ञानमें कुशल है तथा स्वस्थ = अपने आत्माके साक्षात्कारमें लगाहै वह पुरुष गुणातीत कहाताहै ॥

और जो पुरुष मान अपमान मित्र शत्रु इनको तुल्य समझताहै तथा व्यावहारिक समग्र आरंभोंका त्याग करताहै वह पुरुष गुणातीत कहाताहै । यहां पर चारों श्लोकोंमें जो लक्षण कहेहैं वे मिलकर गुणातीतके लक्षण हैं अर्थात् इन चारों श्लोकोंमें जो चिह्न कहे हैं वे सब जिसमें हों उसे ही पूर्ण गुणातीत जानना चाहिए यह भी जानलेना कि मट्टी और सुवर्णको एक समान समझे ऐसा पुरुष एक भी दृष्टिगोचर हुआ नहीं ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥

मू०- मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

दोहा--भक्तियोगसों करत है मम उपासना जोय ।
जीत गुणनको जात है परम धामको सोय ॥ २६ ॥

टी०-हे पार्थ गुणोंके और जीवात्माके भेदज्ञानसे तथा गुणोंका कर्ता और जीवको अकर्ता जानलेनेसे ही पुरुष गुणातीत नहीं होसकता किंतु जो पुरुष उक्त ज्ञानको संपादन करके अनन्यभक्तियोगमे मेरी उपासना करताहै वही पुरुष इनगुणोंको जीतकर ब्रह्मभावको प्राप्त होताहै, अर्थात् जीवात्माके यथार्थरूपके आविर्भावको प्राप्त होसकताहै ॥ २६ ॥

मू०-ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

दोहा--अव्यय अमृत हि जीवको धर्म सुखनको तात ॥
मैं आश्रय तासौं मम भक्त रूप निज पात ॥ २७ ॥

टी०-हे पार्थ अमृत=भोग्यभूत तथा अव्यय=विकाररहित ब्रह्मणः=जीवात्माका तथा शाश्वत=सदा रहनेवाले धर्म=ऐश्वर्यका, और ऐकांतिकस्य=अनन्यभक्तोंसे लभ्य सुख=परमानंदका, मैं ही प्रतिष्ठा=आश्रय हूं अर्थात् जीवात्माका निरतिशय ऐश्वर्यका (जो परधाममें प्राप्त होताहै उसका) तथा मोक्षलभ्य सुखका मैं ही आश्रय हूं ' हि ' इसहेतु उक्त जो आत्मस्वरूप है वह भी मेरे ही भक्तको प्राप्त होताहै ।

भगवान् पूर्वश्लोकमें कहचुकेहैं कि मेरा ही भक्त ब्रह्मभावको प्राप्त होताहै ! उसपर यह शंका हुई कि भगवान्का ही भक्त क्यों ब्रह्मभावको प्राप्त होताहै अभक्त क्यों नहीं ब्रह्मभावको प्राप्त होता इसपर भगवान्ने " ब्रह्मणो हि " यह श्लोक कहा भगवान् ही जब कि जीवात्माके आश्रय हैं तब उनकी भक्ति विना कैसे जीवात्माके यथार्थस्वरूपका लाभ होगा? ॥ २७ ॥

इति पंचनदीयपंडितसुदर्शनाचार्यशास्त्रिप्रणीत भगवद्गीतासतसई तथा तत्त्वार्थसुदर्शनी टीकासहित श्रीमद्भगवद्गीताका चतुर्दशाध्याय समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

॥ श्रीः ॥

अथ पञ्चदशाध्याय ।



श्रीभगवानुवाच-

मू०-ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

दोहा-जड ऊपर शाखा अधः वृक्ष=सँसार अछेद ।
वेद पत्र तिसके, तिसै जानत, जानै वेद ॥ १ ॥

टी०-त्रयोदशाध्यायमें क्षेत्रक्षेत्रज्ञभूत जो प्रकृति और पुरुष उनके स्वरूपको कहकर जीवात्मा (पुरुष) शुद्ध स्वरूप है और उसके साथ देवमनुष्याद्याकारेण परिणत प्रकृतिका संबंध अनादि है यह कहा। और चतुर्दशाध्यायमें जीवके साथ जो प्रकृति संबंध है उसका मूल गुणसंग ही है यह कहकर और गुणसंगप्रकारको तथा गुणस्वरूपको प्रतिपादन कर गुणसंगनिवृत्तिपूर्वक आत्मस्वरूपलाभ भगवद्भक्तिसे ही होताहै यह कहदिआ। अब-बद्ध और मुक्तजीव भगवान्की विभूति हैं और उपासनीय भगवान् श्रीनारायण बद्धमुक्तजीवोंसे अत्यंत विलक्षण है तथा अनंत कल्याणगुणगणोंका सागर है अतएव वही पुरुषोत्तम है इत्यादि प्रतिपादन करनेकेलिए बंधाकारेण वितत जो प्रकृति उसके परिणामभूत संसारको वृक्षत्वेन कल्पना करके प्रकृतिस्वरूपको कहतेहैं-"ऊर्ध्वम्" इत्यादि ॥

ऊर्ध्वमूलमिति-हे पार्थ प्रकृतिका परिणाम जो यह संसार है यह एकप्रकारका विलक्षण वृक्ष है इसका मूल ऊपर है इसकी शाखाएं नीचेको फैल रहीहैं तथा वेद ही इसके पत्ते हैं जो पुरुष इस संसारवृक्षके स्वरूपको जानताहै वही वेदके भी अभिप्रायको जानताहै।

अभिप्राय यह है कि भगवान्ने प्रथम ब्रह्माजीको उत्पन्न किआ तब भगवदाज्ञासे ब्रह्माजी सृष्टिकी रचना करतेहैं सो ब्रह्माजी ही इस संसारवृक्षके मूल हैं वे सांसारिक सप्तलोकोंसे ऊपरके लोकमें रहतेहैं इसहेतु यह संसारवृक्ष ऊर्ध्वमूल है ब्रह्मलोकसे नीचे पातालपर्यंत जितनी सृष्टि है येही सब इस संसारवृक्षकी शाखाएं हैं इसहेतु यह संसारवृक्ष अधःशाख है। और वेदोक्त अनेक प्रकारके कर्मोंको करके लोग अनेकप्रकारके पुत्र कलत्र धन आयु सुख स्वर्गादिफलोंको संपादन करतेहैं सो यही फलसंपत्ति ही संसारकी वृद्धि है उस फलसंपत्तिरूप वृद्धिका हेतु कर्म है कर्मोंके हेतु वेद हैं इसहेतु वेद ही इस संसारवृक्षके पत्र हैं। क्यों कि पत्रोंसे ही यथा वृक्ष पुष्ट होताहै तथा संसार

भी वेदोंसे ही बढरहाहै । और यह संसाररूपी वृक्ष जबतक भगवद्भक्तिसे श्रीवैकुंठ प्राप्त न हो तबतक किसी उपायसे भी कट नहीं सकता इसहेतु यह अव्यय भी है । शास्त्रोंमें इसका बहुतसा वर्णन है । ग्रंथ बहुत बढगया है सो विस्तरभयसे यहां कुछ विशेष नहीं लिखा ॥ १ ॥

मू०—अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

दोहा—तिस शाखा ऊपर अधः विषयपत्रयुत जाय (फैलरहीहै) ।
कर्मरूप जड भूमिमें फैलरही बहुताय ॥ २ ॥

टी०—संसारवृक्षके प्रधान मूल शाखा तथा पत्रोंको कहकर अब उसके अवांतर मूल शाखा और पत्रोंको श्रीभगवान् वासुदेव कहतेहैं—अधश्चेति । इस संसारवृक्षकी तत् तत्कर्मजन्य शाखाएं मनुष्यपशुपक्ष्यादिरूपसे नीचे फैलरहीहैं और गंधर्वयक्षदेवादिरूपसे ऊपरको भी फैलरहीहैं क्यों कि गंधर्वादिलोक ऊपर ही हैं । और ये सभ शाखाएं कर्मजन्य हैं तथा सत्त्वादिगुणरूप जलसे बढरही हैं । और शब्दस्पर्शादिरूप विषय ही इनके पत्ते हैं । और इस संसारवृक्षकी जो कर्मरूपी जड है वे मनुष्यलोकमें फैलरही है क्यों कि मनुष्यलोक ही कर्मभूमि है सो यहां ही पुण्यपापरूप कर्मको: करके उनके भोगके लिए लोग ऊपरके तथा नीचेके लोकोंमें घूमा करतेहैं ॥ २ ॥

मू०—न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

दोहा—रूप आदि आश्रय तिस अंत न जानत कोइ ।
असंगशस्त्रसे काट तो दृढ जड तरु इह जोइ ॥ ३ ॥
सोय खोजे पर धामको जाय न लौटत जासु ।
भवबंधन टूटनहित आदिहिं पुरुष उपासु ॥ ४ ॥

टी०—हे पार्थ इस संसारवृक्षका आदि ब्रह्मा है सत्त्वादिगुणोंके असंगसे - का अंत = विनाश (निवृत्ति) होताहै अतएव गुणोंसंग ही इसका अंत है तथा अनात्मा देहादिमें आत्माभिमानरूप अनित्यमें नित्यत्वाभिमानरूप अशुचिमें शुचित्वाभिमानरूप दुःखमें सुखाभिमानरूप अज्ञान ही इस संसारवृक्षका संप्रतिष्ठा=आश्रय है । यही इस

संसारवृक्षका यथार्थ स्वरूप है । परंतु इस संसारवृक्षके इस यथार्थरूपको संसारी अज्ञानीलोग नहीं जानते किं तु कोई ज्ञानी लोग ही जानतेहैं । जो संसारी यह भी नहीं जानते कि हमने किसीदिन मरना है वे इस वृक्षके इसरूपको क्या जानेंगे । संसाररूपी बंध अज्ञानकृत है और सत्य भी है भगवद्भक्तिसे ही निवृत्त होताहै इसहेतु अज्ञान ही इसका आश्रय है । और इस संसारवृक्षका मूल बडा दृढ है । और यह वृक्ष बडे दृढ असंगरूपी शस्त्रसे कटसकताहै सो सत्त्वादिगुणोंका संग तथा असंगका प्रकार जो कहाहै उस सत्त्वादिगुणोंके असंगरूपी दृढशस्त्रसे इस वृक्षको काटकर ॥

अब वह वृक्ष कटगया है अर्थात् संसारबंध=विषयसंग निवृत्त होगया है तो इस हेतुसे उसपदकी खोज करनी चाहिये जिसको प्राप्त होकर फिर जीव लौटता नहीं ॥ हे भगवन् अनादिकालसे प्रवृत्त यह गुणसंग ही प्रथम तो निवृत्त होना कठिन है संसारनिवृत्तिकी तो बात दूर रही ? इस शंकापर परम कृपालु भगवान् कहते हैं—तमेवेति, हे पार्थ गुणसंगकी निवृत्तिकेलिए उस आदिपुरुष श्रीमन्नारायणकी तू शरण ले उसकी शरणसे यह गुणसंग निवृत्त होसकेगा । क्यों कि यह गुणसंग उसीका बनाया है सो उसकी शरण लेनेसे वह प्रसन्न होकर तेरे गुणसंगको निवृत्त करदेगा । यहांपर ' प्रपद्येयतः ' ऐसा ही प्रायः पाठ है किं तु श्रीरामानुजस्वामीको 'प्रपद्येत यतः ' ऐसा भी पाठ अभीष्ट है यदि 'प्रपद्येयतः ' ऐसा ही पाठ है तो 'प्रपद्य इयतः' ऐसा पदच्छेद जानना, तब तो—(इयतः कृत्स्नस्य) अज्ञाननिवृत्त्यादिक जितने हैं उनकी साधनभूता प्राचीन प्रवृत्ति=मर्यादा प्रसृता=प्रख्यात है किं वा ज्ञानीलोगोंमें फैली ही है कि श्रीनारायणकी शरण लेनेसे यह गुणसंग तथा अज्ञानादिक दूर होसकते हैं । और प्राचीन महात्मा जो मोक्षपदको प्राप्त हुए हैं वे श्रीनारायणकी शरणसे ही मोक्षपदको प्राप्त हुए हैं । कहा भी है " मुक्तिमिच्छेज्जनार्दनात् " इति. । " तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते " इत्यादि ॥ श्रीभगवान्ने भी कहाहै—

" दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ " इति ।

श्रीयामुनाचार्यस्वामीने भी कहाहै—

" त्वदङ्घ्रिमुद्दिश्य कदापि केनचिद्यथा तथा वापि सकृत्कृतोऽञ्जलिः ।
तदैव मुष्णात्यशुभान्यशेषतः शुभानि पुष्णाति न जातु हीयते ॥" इति ।

अर्थात् हे भगवन् जो पुरुष आपके श्रीचरणपर एकवार भी प्रणाम करताहै वह उसी समय पापोंसे निवृत्त होकर अनेक पुण्योंको प्राप्त होजाताहै और वह हानिको प्राप्त

नहीं होता किंतु कभी न कभी इस संसारसे निवृत्त होकर श्रीवैकुंठमें पहुंच आपके दर्शनामृतको पान करता ही है ॥ ३ ॥ ४ ॥

मू०-निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञैर्गच्छन्त्यऽमूढाः पदमव्ययं तत्॥५॥

दोहा-मान मोह सँग कामते रहित आत्मरत तात।
द्वंद्वमुक्त अरु ज्ञानयुत पद अव्यय उहि पात ॥ ५ ॥

टी०-एवं भगवत्‌शरणको प्राप्त हुए हुए जो लोग मान और अज्ञानसे रहित हैं गुणसंगके दोषोंको जिनने जीतलिआहै अर्थात् गुणसंगरहित आत्माके ध्यानमें लगेरहनेवाले विषयवासनारहित सुखदुःख मानापमान शीतोष्णादि द्वंद्वोंसे जो चलायमान (अधीर) नहीं होते तथा अमूढ=आत्म और अनात्मपदार्थका विवेक रखते हैं वे लोग उस अव्ययपदको प्राप्त होतेहैं। अर्थात् भगवत्‌शरणसे सभ साधन सहज होजाते हैं तव जीव अपने यथार्थरूपको प्राप्त होताहै। वह श्रीवैकुंठदेशमें ही प्राप्त होताहै इत्यादि ऊपरसे जानलेना ॥ ५ ॥

मू०-न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

दोहा-चंद्र अग्नि रविहू तिसे ना दरसाय सकात।
हटत नहीं तासों पुनी सो ज्योती मम तात ॥ ६ ॥

टी०-हे पार्थ उस आत्मारूप ज्योतिको अग्नि चंद्र तथा सूर्य भी प्रकाशित नहीं करसकता किंतु वह स्वयंप्रकाश है उसका प्रकाशक योग ही है। और रविप्रकाशादिक तो बाह्यविषयके आवरणभूत अंधकारके ही निवर्तक हैं बाह्यविषयका भी प्रकाशक वस्तुगत्या ज्ञानसेही है। अंधकारकी निवृत्ति करनेसे ही रविप्रकाशादिक प्रकाशक कहाते हैं। आत्माका प्रकाशक योग है और आत्मप्रकाशका विरोधी अनादिकर्मबंध है उसकी निवृत्तिका उपाय कह ही दिआहै। और वह आत्मस्वरूप धाम=तेज परम=सभ तेजोंसे उत्कृष्ट है और वह मम=मेरा ही अंश है अर्थात् जीवात्मा मेरा ही अंश है। उस जीवात्माके यथार्थस्वरूपको गत्वा=प्राप्त होकर फिर जीव लौटता नहीं अर्थात् श्रीवैकुंठधाममें ही जीवात्माका यथार्थ स्वरूप प्रकट होताहै जब वह रूप प्राप्त होजाताहै तव फिर जीव संसारको प्राप्त नहीं होता। संसारमें तो अज्ञानबंधसे वह स्वरूप आच्छादित रहनेसे प्रकट नहीं होता ॥ ६ ॥

मू०-ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

दोहा–जीव सनातन लोकमें मोर अंश उह राय ।
कायस्थित इंद्रियगण हि लै घूमत बहुकाय ॥ ७ ॥
सूक्ष्मभूत अरु इन्द्रिएं संग लेकर परकाय ।
जाय जीव, जिमि गंधको लेकर चलतो वाय ॥ ८ ॥

टी०–हे पार्थ मनुष्यलोकमें जीवात्मा सनातन = अनादि अनंत पदार्थ है और यह जीव मेरा ही अंश है । श्रुति भी कहतीहै–"यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ति एवं सौम्यभावाः" इति । अर्थात् यथा अग्निसे कण निकलतेहैं एवं ये सब पदार्थ परमात्मासे प्रकट होते हैं सो अग्निकण अग्निके अंश हैं एवं सभी जड चेतन पदार्थ परमात्माके अंशभूत हैं । तथा "पादोस्य विश्वा भूतानि" अर्थात् सब भूत परमात्माके पाद = अंश हैं । और वेदांतोंमें कहीं जीवात्माका परमात्मा भेद कहाहै कहीं अभेद भी कहाहै सो भेदाभेद अंशके साथ ही होसकते हैं इस अर्थापत्तिसे भी यही सिद्ध होताहै कि जीवात्मा भगवान्का अंश है । वेदांतसूत्र भी है "अंशो नानाव्यपदेशात् " इत्यादि ।

हे पार्थ वह जीवात्मा शरीररूपेण परिणत जो प्रकृति (शरीर) है उसमें रहनेवाले जो पंच इंद्रियें तथा मन उनको लेकर अनेक प्रकारके शरीरोंको प्राप्त होताहै। यहां पर "मनःषष्ठानीन्द्रियाणि" यह लिंग (सूक्ष्म) शरीरका उपलक्षण है अर्थात् एक शरीरसे शरीरांतरमें जो जीव जाता है तो केवल पंच इंद्रियें मन इनीको ही नहीं लेकर जाता किं तु लिंगशरीको ही साथ लेकर आता जाता है । अर्थात् वेदांतके विचारसे यही सिद्ध होताहै कि जीव जब एक देहसे द्वितीय देहको किं वा स्वर्ग नरकादिको जाता है तो पंच ज्ञानेंद्रियें पंच कर्मेन्द्रियें पंच प्राण पंच सूक्ष्मभूत मन बुद्धि और अहंकार इनको साथ ही लेकर जाताहै । इसी वातको भगवान् आगेके श्लोकमें भी कहते हैं–शरीरमिति ॥

हे पार्थ यह जीवात्मा जो एक देहको त्यागकर द्वितीय देहको प्राप्त होताहै तो इन इंद्रियोंको तथा भूतमात्राओंको साथ लेकर ही जाता है यथा वायु गंधाश्रय पुष्पादिसे गंधको लेकर चलाजाताहै ॥ ७ ॥ ८ ॥

मू०–श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

दोहा—चख नासा रसना मन त्वचा कर्ण अरु राय ।
इनके द्वारा भोगतो विषयन जीव कुभाय ॥ ९ ॥

हे पार्थ श्रोत्र नेत्र त्वचा रसना नासा तथा मन इनका आश्रय लेकर ही जीव विषयोंको भोगताहै अर्थात् इनके द्वारा भोगताहै वे विषय कर्मसे यथाप्रारब्ध प्राप्त होते हैं। इंद्रियका विषयके साथ संबंध होताहै तब विषयसंबद्ध इंद्रियका मनके साथ संबंध होताहै मनका जीवके साथ संबंध होताहै यह परम्परा विषयभोगकी है । एवं मन और पंचकर्मेन्द्रियोंके द्वारा ही जीव सभ क्रियाओंको करता है इत्यादि भी जानलेना ॥ ९ ॥

मू०—उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥
यतंतो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यऽवस्थितम् ।
यतन्तोप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यऽचेतसः ॥ ११ ॥

दोहा—किसहु अवस्थामें नहीं जीवहिं जानत मूढ ।
जानत ज्ञानी एक—जो जीव सुरूप सुगूढ ॥ १० ॥
मोर भक्तिकर कायमें देखत योगी जीव [जीवात्माको] ।
मोर भक्तिविन पाय ना ठानहु यत्न अतीव ॥ ११ ॥

टी०—हे पार्थ गुणान्वित=सत्त्वादिगुणमय प्रकृतिपरिणामभूत जो शरीरवद्युक्त जीवको शरीरमें स्थितको किं वा शरीरसे निकलतेको किं वा विषयोंको भोगनेको मूढ=अज्ञानी लोग नहीं जानते अर्थात् जीवकी किसी भी अवस्थामें जीवके यथार्थरूपको अज्ञानी नहीं जानते कि यह जीवात्मा शरीरसे भिन्न है स्वप्रकाश है नित्य है अणु है भगवदंश है इत्यादि । और ज्ञानीलोग ही जीवके उक्त यथार्थ स्वरूपको जानते हैं ॥

हे पार्थ जो ज्ञानीलोग मेरी उपासना करते हैं वे ही शरीरमें रहनेवाले जीवात्माके यथार्थस्वरूपका अनुभव करसकते हैं । और अकृतात्मा=मेरी उपासनाको न करनेवाले अभिमानीलोग तो जीवात्माके साक्षात्कारकेलिए अनेक यत्न करनेपर भी उस साक्षात्कारको प्राप्त नहीं होसकते ॥

यह जीव ज्योतिओंकी भी ज्योति है तथा अनेक हैं उनके भी बद्ध तथा मुक्त दो भेद हैं वे सभ भगवान्‌की ही विभूति हैं उस जीवका साक्षात्कार भगवदुपासनासे ही प्राप्त होसकता है यही इसप्रकरणका अभिप्राय है ॥ १० ॥ ११ ॥

मू०–यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाःसोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणाऽपानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

दोहा–तेज अग्नि रवि चंद्रको जगत प्रकाशत जोय ।
सोउ तेज मम, तिनहिं हौं दीन भक्तिवश होय ॥ १२ ॥
भूको अतर्यामि बन सबहुन धारों होंहि ।
चंद्ररूपकर पोसतो हौ औषधि जग जोहि ॥ १३ ॥
देहिनके अरु देहमें जठरानल मैं तात ।
प्राणापानविभेदयुत खायो अन्न पचात ॥ १४ ॥

टी०–चेतनवर्ग सभ भगवान्की ही विभूति है यह कहकर अब अचेतनवर्ग भी सभ भगवान्की ही विभूति है यह कहते हैं–यदादित्यगतामिति ।
हे पार्थ समग्रलोकको प्रकाशित करनेवाला जो सूर्यका तेज है तथा चंद्रमा और अग्निका तेज है वह मेरा ही तेज है सूर्यादिकनने मेरी बहुतसी उपासना की है सो उस उनकी उपासनासे प्रसन्न होकर मैंने ही यह तेज उनको दिआहै ॥

और पृथ्वीमें जो धारणशक्ति है सो मेरी ही शक्ति है सो मैं ही अंतर्यामीरूपसे पृथ्वीके भीतर बैठकर अपने ओज=सामर्थ्यसे समग्रभूतोंको धारण करताहूं । और अंतर्यामीरूपसे चंद्रमंडलमें बैठकर सभ औषधिओंको पुष्ट करताहूं ॥

और जीवोंके उदरमें जठराग्नि भी मैं ही हूं सो प्राण अपान समान उदान व्यान इन पांचप्रकारके स्वकीयरूप प्राणवायुसे युक्त होकर खाद्य चोष्य लेह्य पेय इत्यादि प्रकारके खाये पीये पदार्थोंका पचन (हजम) करताहूं । रोटी भात प्रभृति खाद्य है, आमप्रभृति चोष्य हैं, चटनी रवडी प्रभृति लेह्य हैं तथा दुग्धादिक पेय पदार्थ हैं । इस प्रकारसे सभ अचेतन वर्ग भी भगवान्की विभूति ही है ॥ १२ ॥ १३ ॥ १३ ॥

मू०–सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

दोहा—ज्ञान तर्क स्मृति मोहते, हियमें हों हि रहात ।
फल दाता, वेदज्ञ हौं, वेद हु मोहि जतात ॥ १९ ॥

टी०—उक्त तीनश्लोकोंमें जो भगवान्ने अपनी अंतर्यामिता अस्पष्टरूपेण कही अब उसे स्पष्ट कहते हैं—सर्वस्येति ।

हे पार्थ देव यक्ष गंधर्व मनुष्य राक्षस पशु पक्षी इत्यादि समग्र भूतोंके हृदयमें मैं वास करताहूं और हृदयमें बैठ मैं ही सभ प्रकारकी प्रेरणाओंको करताहूं । और अनुभूतपदार्थकी स्मृति प्रत्यक्षानुमान आगमजन्य तथा योगज ये सभ ज्ञान तथा अपोहन=ज्ञाननिवृत्ति ये सभ भी मेरे ही प्रभावसे होते हैं । और समग्र वेद मेरेको ही प्रतिपादन करते हैं । वेदांतकृत्=वेदांतशब्द यहां फलका बोधक है क्यों कि समग्र वेदोंकी प्रवृत्ति किसी न किसी फलकेलिए ही है सो वेदका फलमें पर्यवसान होनेसे वेदांत नाम यहां वैदिकफल=स्वर्गमोक्षादिका है सो उन फलोंको भी भगवान् ही देते हैं । और हे पार्थ समग्र वेदोंको मैं ही जानताहूं ॥

प्रमाण यथा--श्रुति—" अंतःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा " " यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अंतरः " " य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरः " " अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम् " इत्यादि । स्मृति यथा—

" शास्ता विष्णुरशेषस्य जगतो यो जगन्मयः । "
" प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणीयसाम् । "
" यमो वैवस्वतो राजा यस्तवैष हृदि स्थितः । "
" ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । "

इत्यादि अनंत श्रुति स्मृतिएं प्रतिपादन करती हैं कि श्रीनारायण सभका अंतर्यामी है । ज्ञानादिक भी भगवत्प्रभावसे ही होते हैं इसमें प्रमाण यथा—

" जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि ॥ " इति ।

प्रवृत्ति तथा निवृत्ति ज्ञानादिके विना नहीं होती इससे ज्ञानादिक भी भगवत्प्रभावसे ही होते हैं यह जानना चाहिये । फलदाता भगवान् ही है इसे भगवान् प्रथम ही कहचुके हैं--

" लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् । "
" अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च । " इत्यादि ।

जब कि ' एष भूतपतिः ' इत्यादि श्रुतिओंसे सिद्ध है कि श्रीनारायण ही समग्र पदार्थमात्रका स्वामी है तब उसके विना उसके पदार्थको कौन दे सकताहै । जहां

जहां " वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता " इत्यादि श्रुतिओंमें वाय्वादि देवताओंको फलप्रद कहा है वहां वहां भी भगवान् अंतर्यामीको ही उद्देश करके कहा है । यथा एक ही राजा पुत्रको पिता बनकर पिताको पुत्र बनकर गुरुको शिष्य बनकर भृत्यको स्वामी बनकर प्रियाको मृदु बनकर अपराधीको क्रूर बनकर फल देताहै तथा भगवान् श्रीनारायण भी किसीको किसी रूपसे फल देताहै किसीको किसी रूपसे फल देताहै इत्यादि जानना । और " यस्य ज्ञानमयं तपः " इत्यादि श्रुतिओंसे यह भी सिद्ध होताहै कि भगवान् ही समग्र वेदोंको जाननेवाला है । और "अनन्ता वै वेदाः" यह श्रुति वेदको अनंत कहती है सो अनंत वेदको अनंत (हरि) ही जान सकताहै ।

यहांपर मधुसूदनसरस्वतीजीने " वेदान्तकृत् " इसपदकी 'वेदांत संप्रदायके प्रवर्तक वेदव्यासादि भी मैं ही हूं' ऐसी व्याख्या की है यह अशुद्ध है क्यों कि एक तो विशेषरूपोंको कहकर इस श्लोकमें भगवान् सामान्य रूपको कह रहेहैं इससे व्यासादि रूप विशेषरूपकी व्याख्या करनी असंगत है । और वेदांतसंप्रदाय अनादिकालसे लेकर श्रीनारायणसे प्रवृत्त है इससे श्रीवेदव्यास वेदांतसंप्रदायके प्रवर्तक नहीं किं तु अनुमोदक तथा मंडनकरनेवाले हैं । कहा भी है—

" लक्ष्मीनाथसमारम्भां नाथयामुनमध्यमाम् ।
अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरंपराम् ॥ " इति ।
" एवं संसृतिचक्रस्थे भ्राम्यमाणे स्वकर्मभिः ।
जीवे दुःखाकुले विष्णोः कृपा काप्युपजायते ॥ " इति ।

इससे " वेदान्तकृत् " इसपदका यही अर्थ संगत है कि भगवान् ही सभ फलोंके दाता हैं । श्रुति भी कहती है--"स वा एष महाजन आत्माऽन्नादो वसुदान एष ह्येवानन्दयति " " अथ वेशान्तान् पुष्करिण्यः स्रवन्त्यः सृजते स हि कर्ता" "य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः" इत्यादि। वेदांतसूत्र भी है-"फलमत उपपत्तेः" अर्थात् फलदाता परमात्मा ही है ॥ १५ ॥

मू०–द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

दोहा–दो प्रकारके जीव है क्षर अरु अक्षर तात ।
बद्धजीवको क्षर कहैं अक्षर मुक्त कहात ॥ १६ ॥

इन दोनों सो भिन्न हरि पुरुषोत्तम विख्यात ।
बद्ध मुक्त जडवर्गको धारत ईश कहात ॥ १७ ॥

टी०- हे पार्थ दो प्रकारके जीव हैं क्षरवर्ग और अक्षरवर्ग उनमेंसे संसारी बद्ध जीवोंको क्षर कहतेहैं यद्यपि जीवात्मा स्वरूपेण क्षरणस्वभाव नहीं तथापि क्षरणस्वभाव-शरीरादिरूपप्रकृतिके संबंधसे संसारी जीव क्षर कहातेहैं । और जो संसारबंधसे निवृत्त होकर श्रीवैकुंठमें पहुंचगएहैं अर्थात् मुक्तजीव हैं वे अक्षर कहातेहैं क्यों कि क्षरण-स्वभाववाली प्रकृतिका उनके साथ संबंध नहीं है ।

और परमात्मा जो पुरुषोत्तम कहाताहै वह उन क्षर तथा अक्षर (बद्ध तथा मुक्त) जीवोंसे भिन्न है । वह परमात्मा ईश्वर है अव्यय = विकाररहित तथा लोकत्रयमें अंतर्यामीरूपसे प्रवेशकरके लोकत्रयको धारण करताहै । यहांपर लोकत्रयशब्द भुवन-त्रयका बोधक नहीं किं तु बद्धजीववर्ग मुक्तजीववर्ग और जडवर्ग इन तीन समूहोंका बोधक है । इन तीनों समूहोंमें परमात्मा अंतर्यामी रूपसे रहताहै ।

यदि कहो कि चेतनवर्गको भी परमात्मा ही धारण करताहै तो चेतनवर्गकी चेतनता ही क्या रही ? सो मत कहो यथा बालकके पाद होते भी हैं तो भी बालक स्वयं नहीं चल सकता एवं चेतनवर्ग चेतन होकर भी परमात्माके विना नहीं रहसकता । और यथा बालक स्वयं नहीं चलसकता तो भी पादहीन नहीं कहाता एवं चेतनवर्ग भी परमात्मासे धारण कियागया भी जड नहीं कहासकता । इसबातको श्रुति भी कह-तीहै-" यो विश्वं भुवनमाविवेश " " तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् " " देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् " " तस्य भासा सर्वमिदं विभाति " " ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता " इत्यादि ।

जीवोंके दो समूह हैं एक बद्धजीवोंका द्वितीय मुक्तजीवोंका परमात्मा उन सभसे भिन्न है इसबातको श्रुति भी कहती है-"अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्त-भोगामजोन्यः " " द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याऽविद्ये निहिते यत्र गूढे । क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या, विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोन्यः " " जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम् " परमात्मा जीवोंसे भिन्न है यह प्रथम प्रतिपादन करदिआहै । मुक्तजीवोंकेलिए भगवान् स्वयं भी कहचुकेहैं--

" बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ।
सर्गेपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च " इति ।

यहांपर मधुसूदनजीने क्षराक्षरशब्दोंकी " तस्मात् क्षराक्षरशब्दाभ्यां कार्यकारणो-पाधी उभावपि जडावेवोच्येते इत्येव युक्तम् " ऐसी व्याख्या की है यह सभ अशुद्ध है । शोकका स्थान है कि लोकमें तथा वेदमें यह प्रसिद्ध है कि पुरुष-शब्द जीवात्माका वाचक है । भगवान्ने भी स्पष्ट " द्वाविमौ पुरुषौ लोके-"

ऐसा कहाहै। और मधुसूदनजी तो क्षर और अक्षरको जडपदार्थ लिखते हैं कि कार्य-स्वरूप जडका नाम क्षर है और कारणस्वरूप जडका नाम अक्षर है। और "सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः" इस वाक्यसे भगवान् यहांपर जीवात्माके अवांतर प्रकरणका आरंभ भी करचुकेहैं उसपर भी मधुसूदनजीने कुछ ध्यान नहीं दिआ। सो यहां क्षरशब्द बद्धजीवोंका तथा अक्षरशब्द मुक्तजीवोंका ही वाचक है यही अर्थ शास्त्ररीतिसे संगत है।

और "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" इसश्लोकको मधुसूदनजी निर्विशेषब्रह्मपर लगातेहैं सो भी संगत नहीं क्यों कि प्रथम ही प्रतिपादन करदिआ है कि निर्विशेष कोई पदार्थ ही नहीं। और यहां पर मधुसूदनजी—"क्षराक्षरोपाधिद्वयदोषेणास्पृष्टो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः" ऐसा लिखकर फिर "सर्वं जगदिति यावदाविश्य स्वकीयया मायाशक्त्याऽधिष्ठाय बिभर्ति सत्तास्फूर्तिप्रदानेन धारयति पोषयति च" ऐसा लिखते हैं सो यहांपर परस्परविरोध है क्यों कि अद्वैतीलोग जिस चेतनके साथ माया किं वा अविद्याका संबंध मानते हैं उसे शुद्ध मुक्त स्वभाव नहीं मानते क्यों कि उसके साथ तो माया किं वा अविद्या लगी है इससे वह शुद्ध मुक्त कहा नहीं सका और मधुसूदनजी तो यहांपर उसीको शुद्ध मुक्त भी लिखते हैं उसीको मायायुक्त भी लिखतेहैं सो परस्पर ही विरोध पडाहै। और यहांपर मधुसूदनजीने परमात्माको आनंदमयसे भी पृथक् कहा है यह भी अद्वैतमतसे विरुद्ध है क्यों कि "आनन्दमयोऽभ्यासात्" इस सूत्रपर अद्वैतके आदिपुरुष श्रीशंकराचार्यजीने भी "तस्मादानन्दमयः पर एवात्मा" ऐसा कहाहै अर्थात् "तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योन्तरात्माऽनन्दमयः" इस श्रुतिमें आनंदमयशब्दवाच्य परमात्मा ही है और यही सब वेदांतोंका सिद्धांत भी है सो मधुसूदनजी अपने आचार्य शंकरस्वामीके वचनोंपर भी ध्यान न देकर अपनी जुदी ही खिचडी पकाते हैं (इसमें कुछ संदेह नहीं कि मधुसूदनसरस्वतीने गीताका जैसा कुछ सत्यानाश किआहै वैसा और किसीने भी न किआहोगा॥ सो यह श्लोक अनंतकल्याणगुणगणार्णव श्रीनारायणको तथा जीवोंसे उसके भेदको प्रतिपादन करताहै इससे पूर्वोक्त ही अर्थ ठीक ठीक शास्त्ररीतिसे संगत है॥ १६॥ १७॥

मू०—यस्मात् क्षरमतीतोहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ १८॥

दोहा—क्षर अक्षर इन दोउसों हौं उत्तम हौ जासुँ।
स्मृति अरु वेद बखानते मोहि पुरुषोत्तम तासुँ॥ १८॥

टी०—हे पार्थ मैं क्षर=बद्धजीवोंसे तथा अक्षर=मुक्तजीवोंसे भी उत्तम हूं इससे मेरेको वेद और लोक=स्मृति पुरुषोत्तम कहतेहैं।

श्रुति यथा--"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्" "यस्मात् परं नापरमस्ति किंचित्" "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः" "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये," "तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतं, पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदेम देवं भुवनेशमीड्यम्" "न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके" "स वृक्षकालाकृतिभिः परोन्यो यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम्" "स उत्तमः पुरुषः" इत्यादि अनंत श्रुतिएं परमात्माकी सर्वोत्तमताको स्पष्ट प्रतिपादन करतीहैं । स्मृति यथा--

"ब्रह्माद्यवस्थाभिरशेषमूर्तिर्विष्णुर्वरिष्ठो वरदो वरेण्यः"

"ब्रह्मा दक्षादयः कालस्तथैवाखिलजन्तवः ।
विभूतयो हरेरेता जगतः सृष्टिहेतवः ॥"

"वैकुण्ठे तु परे लोके श्रिया सार्धं जगत्पतिः ।
उभाभ्यां भूमिनीलाभ्यां सेवितः परमेश्वरः ॥
सूर्यकोटिप्रतीकाशाः पूर्णेन्द्वऽयुतसंनिभाः ।
यस्मिन्पदे विराजन्ते मुक्ताः संसारबन्धनैः ॥
वैकुण्ठे तु परे लोके नित्यत्वेन व्यवस्थिताः ।
पश्यन्ति च सदा देवं नेत्रैर्ज्ञानेन चाऽमराः ॥"

महाभारतमें यथा--

"एष वेदनिधिः श्रीमानेष वै तपसां निधिः ।
एष योगश्च सांख्यं च ब्रह्म चाग्र्यं हरिर्विभुः ॥
नारायणपरं सत्यं ऋतं नारायणात्मकम् ।
नारायणपरो धर्मः पुनरावृत्तिदुर्लभः ॥
तत्त्वं जिज्ञासमानानां हेतुभिः सर्वतोमुखैः ।
तत्त्वमेको महायोगी हरिर्नारायणः प्रभुः ॥
सर्वेषामाश्रयो विष्णुरैश्वर्यं विधिमास्थितः ।
सर्वभूतकृतावासो वासुदेवेति चोच्यते ॥
यथेच्छति तथा राजन् क्रीडते पुरुषोऽव्ययः ॥"

"कृष्णं कमलपत्राक्षं नार्चयिष्यन्ति ये नराः ।
जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न संभाष्याः कदाचन ॥"

"स्फीतस्य वृष्णिराष्ट्रस्य भर्ता गोप्ता च माधवः ।
त्रयाणामपि लोकानां भगवान् प्रपितामहः ॥" इत्यादि ॥ १८ ॥

मू०-यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ १९॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥ २०॥

दोहा—जो ज्ञानी मोहि जानतो पुरुषोत्तम इसरीति।
मम उपासना करत सो सबविध अवस सप्रीति॥ १९॥
कह्यो शास्त्र इह गुह्य हौं प्रीतिविवश तेहि भूप।
जान इसै नर बुद्धियुत ह्वो कृतकृत्य सुरूप॥ २०॥

टी०—हे पार्थ जो बुद्धिमान् अज्ञानहीन पुरुष उक्तरीतिसे मुझे पुरुषोत्तम जानताहै अर्थात् बद्धजीववर्ग तथा मुक्तजीववर्गसे उत्तम तथा सकलप्रपंचका प्रभु फलदाता जानताहै वह मेरी प्राप्तिके समग्र उपायोंको जानकर सर्वभावसे=तन मन धनसे किंवा मेरी उपासनाके जो प्रकार हैं उन सबसे मेरी उपासना करताहै। कहा भी है—

"केचिन्निगृह्य करणानि विसृज्य भोगमास्थाय योगममलात्मधियो यतन्ते।
नारायणस्य महिमानमनन्तपारमास्वादयन्नमृतसारमहं तु मुक्तः॥"

"चिदानन्दाकारं जलदरुचिसारं श्रुतिगिरां
व्रजस्त्रीणां हारं भवजलधिपारं कृतधियाम्।
विहन्तुं भूभारं विदधदवतारं मुहुरहो
महो वारंवारं भजत कुशलारम्भकृतिनः॥" इत्यादि॥ १९॥

हे पार्थ यह पुरुषोत्तमतत्त्वका प्रतिपादक गुह्यसे भी गुह्यतम शास्त्र मैंने तेरी प्रीतिसे प्रसन्न होकर तेरेको सुनायाहै। इस गुह्यतत्त्वको जानकर बुद्धिमान् पुरुष कृतकृत्य होसकताहै अर्थात् जो बुद्धिमान् पुरुष होगा वह इस तत्त्वको जानकर अवश्य ही भगवदुपासना करेगा भगवदुपासनासे तो सभ कुछ सिद्ध होसकताहै॥ २०॥ इति श्रीमते बकुलाभरणायनमः॥

इति श्रीपंजाबी सुदर्शनाचार्यशास्त्रिप्रणीत भगवद्गीतासतसई तथा तत्त्वार्थसुदर्शनी टीकासहित श्रीमद्भगवद्गीताका पंचदशाध्याय समाप्त हुआ॥ १५॥

श्रीः ।

अथ षोडशाध्याय ।

श्रीभगवानुवाच-

मू०-अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वऽलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

दोहा-अभय शुद्धि हियकी तथा ज्ञानयोग दृढ भाव ।
दान यज्ञ श्रुतिपाठ तप दम इकनिष्ठ सुभाव ॥ १ ॥
शान्त्यऽक्रोध अपिशुनता सत्य अहिंसा त्याग ।
करुणा लाज अचपलता मृदुता और अराग ॥ २ ॥
धृति अद्रोह अमानिता क्षमा तेज शुचिभाव ।
दैवी सपद जन्म जिस तिस ये होयँ सुभाव ॥ ३ ॥

टी०--प्रकृति और पुरुषके यथार्थस्वरूपको तथा उसके संयोगस्वरूपको कहकर जड-वर्ग बद्धजीववर्ग तथा मुक्तजीववर्ग ये सभ भगवत्की विभूति हैं भगवान् श्रीनारायण ही इनका रक्षक है पालक है धारक है ईश है, और इन सभसे विलक्षण अनन्तकल्याण-सागर है पुरुषोत्तम है इत्यादि सभ पूर्वोक्त तीन अध्यायोंमें कहकर अब उन्हीं विषयोंको दृढकरनेकेलिए--जीवको शास्त्रमर्यादानुसार चलना चाहिए सो कौन लोग शास्त्रमर्यादापर चलते हैं कौन शास्त्रमर्यादापर नहीं चलते इसको प्रतिपादन करनेकेलिए आसुरीसंपत और दैवीसंपत तथा दैवसर्ग और आसुरसर्गका विवेचन करते हैं-" अभयम् " इत्यादिसे । अर्थात् कोई लोग जैसा कुछ भगवान्ने जीवादिका स्वरूप कहाहै तथा अपनी ईशताको कहाहै उसे नहीं मानते सो उनके न माननेसे किसी आस्तिकको भी उक्त तत्त्वमें संदेह होसकताहै सो उक्त तत्त्वमें संदेह नहीं करना क्यों कि उक्त तत्त्वरूपको जो लोग नहीं मानते वे नास्तिक हैं, नास्तिकके सिद्धांतको आस्तिकको मानना उचित नहीं इसलिए नास्तिकोंके सिद्धांतको कहनेकेलिए श्रीभगवान् इस अध्यायका आरंभ करते हैं ।

नास्तिकवर्गको ही यहां आसुरसर्ग नामसे वर्णन किआहै और आस्तिकवर्गको दैवसर्ग नामसे वर्णन किआहै ॥

हे पार्थ—अभय=इष्टनाश अनिष्टप्राप्तिसे जो दुःख होताहै वह भय है उस दुःखका अभाव ही अभय है, सत्त्वसंशुद्धि=अंतःकरणमें सत्त्वगुण प्रबल होना रज तम न होना ज्ञानयोगव्यवस्थिति=प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपविवेकमें दृढता. दान, दम=मनको विषयोंसे रोकना, यज्ञ=फलेच्छाको त्यागकर भगवदाराधनरूप महायागादिका अनुष्ठान, स्वाध्याय=वेदार्थ=ज्ञानपूर्वक वेदपाठ, तप=कृच्छ्रचांद्रायणादि तथा एकादशुपवासादि आर्जव=मन वाणी कर्म वृत्ति इत्यादिका एकनिष्ठ (भगवदेकपरायण) होना ॥

अहिंसा=किसीको पीडा न देना, सत्य=यथार्थवचन कथन, अक्रोध=क्रोध न होना, त्याग=आत्मज्ञानविरोधी पदार्थोंको छोडना, शांति=इंद्रियोंको विषयोंसे रोकना अपैशुन=चुगली न करना, सभपर दया करना, अलोलुप्त्व=विषयोंमें लोलुप (इच्छावान्) न होना, मार्दव=मृदु होना, साधुजनसत्संगयोग्य होना, अकार्यसे लज्जा, अचापल=इष्ट विषयकी प्राप्तिहोनेपर भी धीर रहना ॥

तेज=दुर्जनोंसे न दबना, क्षमा धैर्य, शौच=मन और शरीरकी शुद्धि, अद्रोह, नातिमानितां निरभिमान होना इत्यादि ये सभ गुण उस पुरुषमें होतेहैं जो दैवीसंपदमें जन्मलेताहै अर्थात् जो पुरुष भगवदाज्ञानरूपशास्त्रकी मर्यादापर चलतेहैं उन्हीमें ये उक्त गुण होतेहैं ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

मू०—दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ ४ ॥

दोहा—दंभ दर्प अभिमान अरु क्रोध परुषताऽज्ञान ।
आसुर संपद जन्म जिस तिस सुभाव इह जान ॥ ४ ॥

टी०—दैवी संपत्को कहकर अब भगवान् इस श्लोकसे आसुरीसंपत्को कहते हैं। हे पार्थ—दंभ=हम धार्मिक हैं इसख्यातिकेलिए धर्म करना, दर्प=कृत्याकृत्यके विवेकको नष्ट करनेवाला विषयानुभवहेतुक हर्ष, अभिमान क्रोध, पारुष्य=सत्पुरुषोंको उद्वेग देनाँ, अज्ञान=पर अपर तत्त्वको न जानना तथा कृत्याऽकृत्यको न समझना, ये सभ स्वभाव उस पुरुषके होतेहैं जो आसुरीसंपत्में जन्मलेताहै अर्थात्। जो पुरुष भगवदाज्ञारूप शास्त्रकी मर्यादापर नहीं चलता उसके ये ऐसे स्वभाव होतेहैं ॥ ४ ॥

मू०—दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायाऽऽसुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोसि पाण्डव ॥ ५ ॥

दोहा—दैवीसंपद मुक्तिहित असुरी (संपदा) बाँधत मान ।
शोक करो जिन—जन्म तव दैवी सपद जान (हुआहै) ॥ ५ ॥

टी०—हे पार्थ दैवी संपदासे संसारबंध निवृत्त होताहै अर्थात् जो पुरुष भगवदाज्ञारूपशास्त्रकी मर्यादापर चलताहै वह कभी न कभी संसारबंधसे मुक्त होता ही है और आसुरी संपदासे पुरुषका संसारबंध और भी दृढ होता जाताहै अर्थात् जो पुरुष भगवदाज्ञारूपशास्त्रकी मर्यादापर नहीं चलता वह कभी भी संसारबंधसे मुक्त नहीं होता । हे पांडव=अर्जुन तू शोक न कर क्यों कि तेरा जन्म दैवीसंपदामें हुआहै अर्थात् मेरी आज्ञारूपशास्त्रकी मर्यादापर चलनेवाले कुलमें तेरा जन्म हुआहै सो तू अवश्य ही संसारबंधसे मुक्त होगा । अर्जुनके पिता पांडु बडे श्रेष्ठ ज्ञानी: राजा थे जब उनको ऋषिने शाप देदिआ तो उनने समग्रराज्यको त्यागकर वनमें जाकर भगवदुपासनारूपतपका आरंभ करदिआ था । दैवीसंपदाकेलिए शास्त्रमें भी कहाहै—

"जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः ।
सात्त्विकः स तु विज्ञेयः स वै मोक्षार्थनिश्चयः ॥ "

अर्थात् जन्मते ही जिस पुरुषपर भगवत्कृपाकटाक्ष गिरतेहैं वह सात्त्विक तथा मोक्षपरायण होताहै ॥ ५ ॥

मू०—द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

दोहा—भूतसर्ग दो लोकमें आसुर दैव कहात ।
कह्यौ दैव भक्त्यादि सम, आसुर अब सुन तात ॥ ६ ॥

टी०—हे पार्थ इस कर्मलोकमें भूतसर्ग जीवसृष्टि दोप्रकारकी है एक दैवसर्ग द्वितीय आसुरसर्ग उनमेंसे दैवसर्ग तो विस्तरसे कहदिआहै अर्थात् भगवदाज्ञारूप शास्त्रकी मर्यादापर जो चलते हैं वे ही देव कहातेहैं उनका जो सर्ग वह दैवसर्ग कहाताहै सो दैवसर्गका जो कर्मयोग ज्ञानयोग तथा भक्तियोग रूप आचार है वह विस्तरसे पूर्व कहदिआहै । आसुरसर्गको अब सुन, अर्थात् जो लोग भगवदाज्ञारूपी शास्त्रकी मर्यादापर नहीं चलते उनके जो आचार हैं सिद्धांत हैं उनको अब सुनो ॥ श्रुति भी कहती है—"द्वयाह प्राजापत्या देवाश्चाऽसुराश्च " इति ॥ ६ ॥

मू०—प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत् कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

दोहा—स्वर्ग मोक्षके असुर जन जानत नाहिं उपाय ।
सत्य शौच आचार अरु असुरनमें न लखाय ॥ ७ ॥
असुर कहें जग असत् है ईश न आश्रय कोय ।
नरनारिनके सगसे कामहेतु जग होय ॥ ८ ॥

टी०—हे पार्थ असुरलोग स्वर्गादिसाधन यागादिका भी अनुष्ठान नहीं करते प्रवृत्ति नाम स्वर्गादिसाधनका है। निवृत्ति नाम मोक्षसाधनका है सो असुरलोग मोक्षसाधनोंका भी अनुष्ठान नहीं करते । असुरलोगोंमें शौच=शरीर तथा अंतःकरणकी शुद्धि भी नहीं होती , शौचको संपादन करनेवाला आचार भी नहीं होता तथा सत्य भी नहीं होता । आचार नाम यहां संध्यावंदनादिका है । असुरलोग जो यागादिक करते भी थे सो इसीलोकके विषयोंकेलिए करतेथे स्वर्गादिकेलिए नहीं करतेथे इससे कहा " प्रवृत्तिं च " इति ॥ ७ ॥

असुरलोक जगत्को असत् कहतेहैं, अप्रतिष्ठित कहतेहैं अर्थात् यथा आस्तिक लोग प्रपंचको परमात्मामें आश्रित मानतेहैं ऐसा नहीं मानते किं तु निराश्रय मानते हैं। और ईश्वरको भी नहीं मानते । और कामके कारणसे स्त्रीपुरुषके संगमात्रसे इसकी उत्पत्ति मानतेहैं । किमन्यत्=इस प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत्से भिन्न और स्वर्गनरकादिक भी कुछ नहीं ऐसा कहतेहैं । केवल विषयोपभोगको ही परमपुरुषार्थ मानतेहैं ॥ ८ ॥

मू०—एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

दोहा—दृढकर इस अज्ञानको असुर अल्पमति तात ।
कर्म करें बहु क्रूर वे जगछय करत मनात ॥ ९ ॥
दंभ मान मद युक्त हो इच्छा करत अपार ।
असत समग्रीसों करैं व्रत अशुद्ध आचार ॥ १० ॥

टी०—हे पार्थ नष्टात्मा=आत्मज्ञानसे हीन अतएव मंदमति असुरलोग उक्त सिद्धांत पर दृढ होकर अर्थात् जगत्को असत् और निरीश्वर मानकर जगत्के क्षयकेलिए बडे बडे उग्र=घोर कर्मोंमें प्रवृत्त होतेहैं ॥

तथा दंभ मानमदादि दोषोंसे युक्त होकर अपार मनोरथोंको करके और उन मनोरथोंकी सिद्धिके लिए असत्सामग्रीको इकट्ठा करके शौचरहित होकर घोर व्रतोंमें प्रवृत्त होतेहैं ॥ ९ ॥ १० ॥

मू०—चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

दोहा—सिद्ध न हो जो प्रलयतक तिसकी चिंता ठान ।
विषयभोगको जान पर तिसमें खचित महान ॥ ११ ॥
आस अनंत लगायके कामक्रोधवश होय ।
धन अनीतिसों भोगहित बहुत बटोरत सोय ॥ १२ ॥

टी०—हे पार्थ असुरलोग ऐसे पादार्थकी चिंतामें लगजातेहैं जो पदार्थ कभी प्रलय-तक भी सिद्ध न होसके । और कामभोगको ही परमपुरुषार्थ मानकर सदा काम (विषय) भोगमें ही खचित रहतेहैं ॥

और अनेकप्रकारकी आशाओंको बांधकर बैठ जातेहैं अर्थात् शेखचिल्लीके तुल्य अनेक असीम मनोरथ करते रहतेहैं । कामक्रोधके वश होकर विषयोपभोगकेलिए अनीतिसे धनसंग्रह करनेको प्रवृत्त होतेहैं ॥ ११ ॥ १२ ॥

मू०—इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चाऽपरानपि ।
ईश्वरोहमहं भोगी सिद्धोहं बलवान् सुखी ॥ १४ ॥

दोहा—लीनों इह सामर्थ्यसों प्रापत होगो और ।
इह सब मेरे पास है करौ और इकठौर ॥ १३ ॥

१ शेखचिल्ली एक मूर्ख पुरुष था उसको दैववशसे दो पैसेकी मजूरी मिली कि घृतपात्रको अमुकस्थानपर पहुंचादो तो तेरेको दो पैसे देंगे सो घृतपात्र उठाकर उन दो पैसोंपर शेखचिल्लीने अनेक मनोरथ किए कि इन दो पैसोकी मुरगी लेंगे उसके बच्चे होंगे उन्हें बेचकर बकरी लेंगे उसके बच्चे बेच गैया लेंगे उसके बच्चे बेच भैस लेंगे एवं हस्तीतकपहुंच लाखोंके धनतक पहुंचते ही वह घृतपात्र विस्मय हर्षसे गिरगया एवं अज्ञानी लोग भी आगा पीछा न देख अनेक प्रकारके मनोरथ किआ करतेहैं उनका सिद्ध होना तो दूररहा प्रत्युत वे इतने कालमें किसी न किसी विपत्तिमें फँस जातेहैं । इन्ही मिथ्या मनोरथोंको संस्कृतमें आशामोदक कहतेहैं । कहा भी है—

" द्रविणं मे च दारा मे बन्धुवर्गश्च मे धनम् ।
इति मे मे प्रकुर्वाणं कालो हन्ति च पूरुषम् ॥ "इति ।

इह मारयौ निजवैरि हौं और हि मारू आज ।
भोगी सिध वलवान् सुखी हौं स्वतंत्रसरताज ॥ १४ ॥

टी०-हे पार्थ असुर लोग सदा यही मनोरथ किआ करते हैं कि-अमुक पदार्थ हमने अपनी सामर्थ्यसे संपादन किआहै और अमुक मनोरथको मैं अपनी सामर्थ्यसे सिद्ध करूंगा। यह कुछ मेरे पास है और यह कुछ मुझे मेरी सामर्थ्यसे प्राप्त होगा ॥ मैंने अपने अमुकशत्रुको मार डालाहै और भी अपने शत्रुओंको मारूंगा। मैं स्वतंत्र=स्वाधीन हूं मैं ही सभका नियंता हूं भोगी हूं सिद्ध हूं वलवान् हूं सुखी हूं अर्थात् सुख दुःख जो प्राप्त होतेहैं वे प्रारब्धसे प्राप्त होतेहैं और कर्ता कारयिता दाता श्रीनारायण है सो इनवातोंको असुरलोग नहीं मानते अपनेको ही कर्ता कारयिता मानते हैं ॥ १३ ॥ १४ ॥

मू०-आढ्योऽभिजनवानस्मि कोन्योस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

दोहा-धनी कुलीन हौ सदृश मम जगमें कोऊ नांहि ।
याग करोंगो दउंगो चिनत इह मन मांहि ॥ १५ ॥
करत मनोरथ विविध अरु मोहजालयुत होय ।
काममोगरत नरकमें पडत प्राणतज सोय ॥ १६ ॥

टी०-मैं धनवान् हूं मैं कुलीन हूं मेरे तुल्य और कोई भी नहीं मैं याग करूंगा दान देऊंगा वडे आनंद भोगूंगा ऐसे ऐसे अज्ञानसे मोहितहुए असुरलोग सोचा करतेहैं तथा कहा करतेहैं ॥

तथा असुरलोग मोहजालमें लिपटेहुए तथा विषयोपभोगमात्रमें खचित हुए हुए अनेक प्रकारके मनोरथ किआकरतेहैं उनका चित्त किसी भी वातपर दृढ नहीं होता। जवतक वे मनोरथ सिद्ध भी नहीं होते कि मृत्युको प्राप्त होकर अशुद्ध नरकोंमें जा पडतेहैं ॥

नरक भी दो प्रकारके हैं एक तो ऐसे हैं जहां पीडा ही होतीहै कोई अशुद्धि नहीं होती यथा तप्तभूमिनरक। कोई नरक ऐसे भी है जहां पीडा भी होतीहै और अशुद्ध भी हैं यथा मलनदी नरक। सो असुरलोग अशुद्धनरकोंमें जाकर गिरते हैं ॥ १५ ॥ १६ ॥

मू०-आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाऽविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

दोहा-आप कहैं अपनो यश धनमद मान प्रवीन ।
यशहित याग करैं कभी दम साथ विधिहीन ॥ १७ ॥
अहंकार बल दर्प अरु काम क्रोधमें लीन ।
मोसें द्वेष बढाय के नास्तिकता मति कीन ॥ १८ ॥

टी०-हे पार्थ-असुरलोग अपने यशको आप ही गाया करतेहैं तथा दूसरा कोई उन्हे चाहे प्रशस्त न भी कहै तो भी वे अपने आपको स्वयं ही प्रशस्त मान बैठतेहैं धनमदसे तथा मानमदसे मत्त होतेहैं । और जो वे लोग यज्ञादिक करते हैं वह भी दंभसे करतेहैं और यशकेलिए करतेहैं कुछ देवताराधनकी बुद्धिसे नहीं करते उसपर भी विधिसे नहीं करते इसीलिए उनको परलोकमें कुछ लाभ नहीं होता ॥ १७ ॥

और बडे अहंकारी अभिमानी बली क्रोधी तथा कामी होते हैं । और मैं जो उनके देहमें तथा और सभके देहमें अंतर्यामीरूपसे रहताहूं इसबातका कुयुक्तिओंसे खंडन कर सदा मुझसे द्वेष रखतेहैं ॥ १८ ॥

मू०-तानऽहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानाऽऽसुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

दोहा-असुर नराधम मोहिसों द्वेष करत जे तात ।
हौं तिन आसुरयोनिमें जनि (जन्म) हित सतत गिरात ॥ १९ ॥
आसुरकुलमहँ जन्मते कर मम वैर सदाहिं ।
मोहि प्रापत ना होयँ वे जायँ अधोगति माहि ॥ २० ॥

टी०-हे पार्थ वे जो असुर नराधम महाक्रूरमति क्रूर कर्मवाले मेरे साथ द्वेष करतेहैं मैं उनको सदा सांसारिक आसुरी योनिमें ही जन्म देताहूं ॥

वे असुरलोग जो जन्म पातेहैं सो आसुरीयोनिमें ही जन्मपातेहैं अतएव वे मुझे प्राप्त नहीं होसकते प्रत्युत और भी अधोगतिको प्राप्त होतेजातेहैं यथा कूकरयोनिसे शूकरयोनि आदिमें जन्म लेतेहुए अधोगतिको ही प्राप्त होतेहैं ॥ १९ ॥ २० ॥

मू०—त्रिविधं नरकस्यैतद्द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

दोहा—तीन नरक के द्वार है नाशक अपने जान ।
काम क्रोध अरु लोभ, इन तासुँ तजे सुज्ञान ॥ २१ ॥
मतिनाशक कामादिसों रहित होय नर तात ।
लग अपने हित ज्ञानमें परमगतीको पात ॥ २२ ॥

टी०—हे पार्थ असुरलोगोंमें काम क्रोध और लोभ यही तीन प्रधान होते हैं और ये तीनों नरकके द्वार हैं अर्थात् असाधारण कारण हैं । और जीवको नष्ट करदेनेवाले हैं अर्थात् काम क्रोध और लोभ इनको सेवन करनेवाला पुरुष सदा अधोगतिको ही प्राप्त होताहै पारलौकिक उपकारको प्राप्त नहीं होता इसहेतु इन तीनोंको अवश्य ही त्यागदेना चाहिए ।

काम क्रोध लोभ ये तीनों अज्ञानके जनक तथा बढानेवाले हैं जो पुरुष इनको त्यागदेताहै वह अपना श्रेय ज्ञानमार्ग है उसमें लगकर कभी न कभी परमगतिको प्राप्त होता हीहै ॥ कहा भी है—

" पुलाका इव धान्येषु पुत्तिका इव पक्षिषु ।
तादृशास्ते मनुष्येषु येषां धर्मो न कारणम् ॥ "
" इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं यत्स्वर्गनरकावुभौ ।
निगृहीतविसृष्टानि स्वर्गाय नरकाय वा ॥ "
" परदारा न गन्तव्याः सर्ववर्णेषु कर्हिचित् ।
न हीदृशमनायुष्यं त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ "
" कामक्रोधग्राहवतीं पञ्चेन्द्रियजलां नदीम् ।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर ॥
किं कुम्भीपाक एवायं क्रोधरूपेण देहिनाम् ।
त्रैलोक्येपि विपत्त्यर्थमवतीर्णा भवार्णवे ॥ "

श्रीभगवान्‌ने जो कुछ यहां आसुरसर्गके लक्षण लिखे हैं इनके अनुसार देखाजाय तो अब वह समय बीतरहाहै कि हजारमेंसे दो चार ही ऐसे पुरुष निकलेंगे जिनमें ये लक्षण न घटेंगे तथा जो आसुर सर्गके न कहासकेंगे । एक वह भी समय था जो आसुरसर्गके लोग कुछ गिनतीके ही होतेथे, अब भी एक समय है जो दैवसर्गके लोग गिनतीके ही दिखाई देते हैं । यह सब भगवदिच्छाकी लीला है ॥ २१ ॥ २२ ॥

मू०-यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

दोहा-वेदाज्ञाको त्यागकर जो स्वतंत्र होजात ॥
सो सिद्धी सुखको तथा परगतिको नहि पात ॥ २३ ॥
कर्तव्याऽकर्तव्यमें शास्त्रहि मान प्रमान ।
शास्त्र कहे कु विचार कर करहु कर्म हितजान ॥ २४ ॥

टी०-हे पार्थ जो पुरुष मेरी आज्ञास्वरूप वेदकी मर्यादाको त्यागकर स्वतन्त्र होकर जैसा जी चाहताहै वैसा अधर्मानुकूल आचार करताहै उसे कुछ भी भला फल प्राप्त नहीं होता न सुख ही प्राप्त होताहै परगतिकी तो कौन कहे अर्थात् वह उत्तमगतिको भी प्राप्त नहीं होता ।

हे पार्थ शास्त्रमार्गका परित्याग उचित नहीं इसहेतु क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है इस विषयमें तेरेको शास्त्रको ही प्रमाण मानना चाहिए । सो शास्त्रको विचार कर शास्त्रने जो कर्मयोगको कहाहै उसीका अनुष्ठान तुझे प्रथम करनाचाहिए क्यों कि कर्मयोगसे आत्मज्ञानकी वृद्धि होकर जो मैंने पुरुषोत्तमतत्त्व कहाहै उसमें तेरी भक्ति होजायगी ॥ कहा भी है-

" सतां मतमतिक्रम्य योऽसतां वर्तते मते ।
अचिरात्स च्युतः स्थानात् पतति द्विषतां वशे ॥ " इत्यादि ॥ २३ ॥ २४ ॥

इति पंचनदीयसुदर्शनाचार्यशास्त्रिप्रणीत श्रीमद्भगवद्गीतासतसई तथा तत्त्वार्थसुदर्शनी टीकासहित श्रीमद्भगवद्गीताका षोडशाध्याय समाप्त हुआ ॥ १६ ॥



॥ श्रीः ॥

अथ सप्तदशोऽध्याय

अर्जुन उवाच-

मू०-ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

दोहा-श्रद्धाकर जे यागको करत हीनाविधि तात ।
सात्त्विक राजस तामस इनमें कौन कहात ॥ १ ॥

टी०-श्रीभगवानने कृपाकर देवसर्ग तथा आसुरसर्गका विभाग कहा और संपादनीयतत्त्वज्ञान तथा उसके उपायोंका एक वेद ही मूल है यह भी कहा और अर्जुनने सावधान सुनभी लिआ । किं तु अर्जुन यह नहीं जानते कि शास्त्रीयविधिसे रहित कर्म फलप्रद होताहै वा नहीं सो शास्त्रीयविधिसे रहित और श्रद्धापूर्वक किएहुए कर्मके फलमें सत्त्वादिगुणोंके भेदसे क्या कुछ भेद होताहै यह जाननेकेलिए भगवान्से प्रश्न करतेहैं-ये इति ।

हे भगवन् शास्त्रीयविधिको त्यागकर अर्थात् जिस कर्मकी जो रीति शास्त्रमें करनेकी लिखी है उसको त्यागकर (उसका निर्वाह न करके) जो पुरुष श्रद्धासे कर्मको करताहै उनकी निष्ठा कैसी है अर्थात् वे सात्त्विक कहातेहैं कि वा राजस कहातेहैं कि वा तामस कहातेहैं । यह कृपाकर कहिए ॥ चाहे अर्जुन यह जानते भी हों कि शास्त्रीयविधिसे हीन कर्म निष्फल होताहै तथापि उसको दृढ करनेकेलिए भगवान्से प्रश्न किआहै ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच-

मू०-त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

दोहा-सहज हि श्रद्धा जीव की तीनरूपकी ख्यात ।
सत्वमयी अरु राजसी तमोगुणी अरु तात ॥ २ ॥

मन जाको जिसरूपको श्रद्धा तिस विध ताहि ।
निजश्रद्धा अनुरूप ही फल मिलतो समझाहि ॥ ३ ॥

टी०-शास्त्रमर्यादासे रहित श्रद्धा तथा उस श्रद्धासे किएहुए कर्म निष्फलहोते हैं इस अभिप्रायको जतानेकेलिए शास्त्रीय विधिसे ही किएहुए कर्म फलप्रद होतेहैं और सत्त्व रज तम इनगुणोंके भेदसे तीन प्रकारके होतेहैं यह प्रतिपादन करनेकेलिए प्रथम शास्त्रमर्यादावाली श्रद्धा भी सत्त्वादिगुणभेदसे तीनप्रकारकी होतीहै यह श्रीभगवान् कहते हैं त्रिविधेति ।

हे पार्थ जीवका श्रद्धारूपी धर्म स्वाभाविक है क्यों कि प्राचीन वासनानुसार जिसकी जिसमें रुचि होतीहै उसकी उसमें श्रद्धा होती ही है । वह श्रद्धा तीनप्रकारकी है सात्त्विकी राजसी और तामसी । उस श्रद्धाका जो स्वरूप है उसे तू अब सुन इस श्रवणसे तेरा संदेह निवृत्त होजायगा ॥

श्रद्धा वासना रुचि इत्यादिक सब जीवात्माके धर्म हैं गुणोंके संबंधसे प्रकट होतेहैं इनोंके आदिकारण धर्माधर्म हैं ।

हे पार्थ जिसपुरुषका जैसा अंतःकरण होताहै वैसी ही उसकी श्रद्धा भी होतीहै अर्थात् जिसका अंतःकरण सात्त्विक है उसकी श्रद्धा सात्त्विक होतीहै जिसका अंतःकरण राजस है उसकी श्रद्धा भी राजस होतीहै और जिसका अंतःकरण तामस होताहै उसकी श्रद्धा भी तामस=तमो गुणमयी होतीहै । यहांपर "सत्त्वानुरूपा" इस सत्त्वशब्दसे अंतःकरणके साथ देह इंद्रियादिका भी ग्रहण करना सो जिसके देह इंद्रियें तथा अंतःकरण यद्गुणप्रधान होतेहैं उसकी श्रद्धा भी तद्गुणप्रधान ही होतीहै । और जिस जीवकी जैसी श्रद्धा होतीहै वह जीव वैसे ही फलको पाताहै अर्थात् जिसकी धर्ममें श्रद्धा होतीहै वह धर्म करताहै और उत्तमफलको पाताहै । जिस जीवकी अधर्ममें श्रद्धा होतीहै वह अधर्म करताहै और बुरेफलको पाता है सोई कहा- "यो यच्छ्रद्धः स एव सः" इति ॥ २ ॥ ३ ॥

मू०-यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

दोहा--सात्त्विकलोग उपासना करत देवकी तात ।
यक्ष रक्षकी राजस, तामस भूतमनात ॥ ४ ॥

टी०-सात्त्विकलोग देवताओंकी उपासना करते हैं राजस लोग यक्ष गंधर्व रक्षोगण आदिकी उपासना करतेहैं, और तामस लोग भूत प्रेत पिशाचोंकी उपासना करतेहैं । अर्थात् दुःखरहितसुखदेनेवाले देवताओंकी उपासनामें जो श्रद्धाहै वह सात्त्विकी श्रद्धा है । दुःखमिश्रितसुखप्रद यक्षादिकी उपासनामें जो श्रद्धा है वह राजसी श्रद्धा है । दुःखबहुलफलप्रद भूतप्रेतादिकी उपासनामें जो श्रद्धा है वह तामसी श्रद्धा है ॥ ४ ॥

मू०—अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाऽहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्याऽऽसुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

दोहा—काम राग बल दंभ अरु अहंकार युत होय ।
वेदरीतिसों हीन तप घोर करत नर जोय ॥ ५ ॥
शरीरस्थित भूतादिको जीवहिं और सुजान ।
वृथा कष्ट देवें, तिन आसुरपथी मान ॥ ६ ॥

टी०—हे पार्थ जो पुरुष दंभ अहंकार काम राग तथा बल इनसे युक्त होकर शरीरस्थित भूतसमूहको तथा जीवात्माको कष्ट देते हुए शास्त्रमर्यादाको त्यागकर घोर तप करते हैं वे लोग आसुरनिश्चयवाले हैं अर्थात् असुरमतानुयायी हैं। अभिप्राय यह है कि शास्त्रमर्यादासे तपकरनेसे अच्छे फल प्राप्त होते हैं सो शास्त्रीयमर्यादापूर्वक तप करते हुए शरीरको तथा आत्माको कष्टदेना दोष नहीं प्रत्युत अच्छा ही है और शास्त्र-मर्यादाको त्यागकर तपकरनेसे कुछ फल तो प्राप्त होता नहीं सो शास्त्रमर्यादारहित घोर तप करते हुए जो शरीर तथा आत्माको कष्ट देना है वह पाप ही है ।

यहांपर शरीरस्थ भूतग्रामसे शरीरका ही अभिप्राय है क्यों कि भूतग्रामका ही परि-णाम शरीर है कार्यकारणका अभेद मानकर अभेदेन व्यपदेश किआहै । और "मां चै-वान्तःशरीरस्थम्" इस वाक्यसे भगवदात्मकजीवात्माका ही ग्रहण करना । भगवान् सबका अंतर्यामी है और पदार्थमात्र भगवान्का शरीर है सो जीवात्मा भी भगवान्का शरीरभूत ही है सो भगवान्ने स्वशरीरभूत जीवात्माको ही उद्देश्य करके "मां चैवान्तः-शरीरस्थम्" ऐसा कहा है । यथा "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि" यहांपर कहा था वैसा ही यहां भी समझना इसविषयपर जो कुछ अद्वैतवादका खंडन लिखने योग्य है सो यथायोग्य यथासंभव "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि" इसी श्लोकपर लिखदिआहै इससे अब फिर यहां अद्वैतवादकी संभावना नहीं करनी ॥ ५ ॥ ६ ॥

मू०—आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

दोहा-यज्ञ दान आहार तप एहू त्रिविध कहात ।
तीन गुणनके भेदसे, भेद सुनो तिन तात ॥ ७ ॥

टी०-हे पार्थ यथा सत्त्वादिगुणोंके भेदसे श्रद्धा तीन प्रकारकी होतीहै तथा आहार (भोजन) यज्ञ तप तथा दान ये भी सब सात्त्विक राजस तथा तामसभेदसे तीन तीन प्रकारके होते हैं सो इनको भेदोंको सुन ॥ ७ ॥

मू०-आयुस्सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

दोहा-आयू सुख आरोग्य मति बल अरु प्रीति बढात ।
स्निग्ध मधुर थिर स्वादु, सो सात्त्विक भोजन तात ॥ ८ ॥
कटु खट्टा रूखा गरम दाहक तीक्षण तात ।
दुःखशोक अरु रोगकर राजस भोज कहात ॥ ९ ॥
बासी विरस बुसा तथा बुरे गंध रस जासु ।
जूठा अशुचि तथा, कहै भोजन तामस तासु ॥ १० ॥

टी०-रस्य=मधुर, स्निग्ध = घृतयुक्त, स्थिर = देरतक विकृत न होनेवाला, तथा हृद्य = प्रिय, ऐसा भोजन सात्त्विक कहाता है, यह सात्त्विक भोजन आयु ज्ञान बल आरोग्य सुख तथा प्रीतिको बढाता है । सत्त्वशब्द शुद्ध अंतःकरणका वाचक है सो यहां सत्त्वशब्दसे अंतःकरणके कार्यरूप ज्ञानका ग्रहण करना ॥ ८ ॥

कटु खट्टा अधिकलवणवाला बहुतगरम तीक्ष्ण (तेज) काटकरनेवाला रूक्ष = घृतहीन, तथा दाहकरनेवाला = पित्तबढानेवाला भोजन राजस कहाताहै ऐसे राजस भोजनोंसे रोग उत्पन्न होतेहैं अतएव राजस भोजन दुःख तथा शोकको पर्यवसानमें देताहै (उत्पन्न करताहै) ॥ ९ ॥

यातयाम = बासी, गतरस = जिसका बासी होनेके कारण स्वाभाविकरस नष्ट होगयाहै पूति = दुर्गंधवाला, पर्युषित = बासीहोनेके कारण जिसमें रसांतर (स्वादांतर) उत्पन्न होगयाहै, जूठा, तथा अमेध्य = अपवित्र यथा मांस लशुनादि ऐसा भोजन तामस कहाताहै । ऐसे भोजनसे रोगादिक भी बढते हैं और ज्ञान नष्ट होकर अज्ञान भी बढताहै ॥ सो सात्त्विक आहार ही सबसे श्रेष्ठ है सेव्य है तथा ज्ञानवर्धक है ॥ १० ॥

मू०—अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥
अभिसंधाय तु फलं दंभार्थमपि चैव यः ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

दोहा—फल इच्छाको त्याग कर भगवत् आज्ञा जान ।
करत मान कर्तव्य, तिस सात्त्विक याग बखान ॥ ११ ॥
फलप्राप्तिके हेतु अरु यशके हेतु सुजान ।
याग करत जन जो हि तिस राजस याग बखान ॥ १२ ॥
ब्राह्मणआज्ञाबिन किओ नीतिहीन धनलाय ।
मन्त्रदक्षिणा भाव बिन तामस याग कहाय ॥ १३ ॥

टी०—फलकी इच्छाको त्यागकर तथा यज्ञको भगवदाज्ञासे कर्तव्य मानकर वेदोक्त विधिपूर्वक तथा श्रद्धा मंत्र उचितद्रव्यादिसे युक्त जो यज्ञ किआजाताहै वह सात्त्विक यज्ञ कहाताहै । उसका अनंत फल होताहै ॥ ११ ॥

फलप्राप्तिकी इच्छासे किं वा दंभसे अर्थात् लोकमें यश फैलनेकेलिए जो विधिपूर्वक याग किआजाताहै वह राजस यज्ञ कहाता है । उसका फल परमित ही होताहै ॥ १२ ॥

ब्राह्मण (गुरु आदि) की आज्ञालिएबिना विधिरहित तथा मंत्र दक्षिणा और श्रद्धासे रहित, असृष्टान्न=अनीतिसे धनोपार्जन करके जो किआजाताहै किं वा जिसमें अवैदिक द्रव्य लगाएजाते हैं वे सभ तामस यज्ञ कहातेहैं । शास्त्रमें लिखा है कि यदि कोई श्रेष्ठ कर्म करना हो तो प्रथम अपने पूज्य गुरु आदिकी आज्ञा लेकर करना चाहिए इस तामस यज्ञका फल कुछ भी प्राप्त नहीं होता क्यों कि विधिसे हीन होताहै ॥ १३ ॥

मू०—देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

दोहा—देव द्विज गुरु ज्ञानिकी पूजन ऋजुता मान ।
ब्रह्मचर्य शुचिताऽहिंसा शारीरिक तप जान ॥ १४ ॥
प्रिय हित कोमल सत्य अरु वचन नीतिको तात ।
वेदपाठ अरु, वाङ्मय तप सम एह कहात ॥ १५ ॥
भलो चाहतो सम हिको शम दम मौन सुजान ।
हरिपद मनकी लगन अरु, इन तप मानस मान ॥ १६ ॥

टी०—देवता द्विज गुरु ज्ञानी=विद्वान् इत्यादिकी पूजा, शौच=तीर्थस्नानादिक, आर्जव=जैसा भाव मनमें है वैसा ही शरीरसे अनुष्ठान करना अर्थात् ढंग न करना, ब्रह्मचर्य, अहिंसा=किसीको पीडा न देनी ये सम शारीरक तप कहतेहैं ॥ सात्त्विक राजस तामस भेदसे तपको भी तीनप्रकारका कहनेकेलिए भगवान् कृपाकर शारीरक मानस तथा वाचिक भेदसे तीनप्रकारके तपको प्रथम तीन श्लोकोंसे कहरहे हैं—देव द्विजेति ॥ १४ ॥

प्रिय हित सत्य तथा जिससे सुननेवालेको खेद न हो ऐसा वाक्य और वेदपाठाभ्यास ये सम वाङ्मय=वाचिक तप कहाते हैं ॥ १५ ॥

मनःप्रसाद=मनमें क्रोधादिका न होना, सौम्यत्व=सभका भला चाहना, मौन=मनसे वचनव्यवहारको रोकना अर्थात् वहुत बोलना न चाहना, आत्मविनिग्रह=मनको ध्येय विषयमें स्थिर करना, भावसंशुद्धि=वाह्यविषयोंका ध्यान न करना, ये सभ मानसिक तप कहातेहैं ॥ १६ ॥

मू०—श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥
मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

दोहा—हरिकी सेवा जान अरु अतिश्रद्धासों जोय ।
फल इच्छाको त्याग, तप कीनो, सात्त्विक सोय ॥ १७ ॥
आदर पूजा मान धन—फलहित दंभ लगाय ।
कीनो भयसो अल्प फल सो तप राजस भाय ॥ १८ ॥

मूढ तुल्य आग्रह कर, आपन जीव सताय ।
परहानीहित अरु किओ, तामस तप सुकहाय ॥ १९ ॥

टी०-भगवदाज्ञा तथा भगवदाराधन जान परमश्रद्धासे तथा फलकी इच्छाको त्यागकर जो तप कियाजाताहै वह सात्त्विक कहाताहै। यहां उक्त शारीरक मानसिक तथा वाचिक तीनों प्रकारके तप सात्त्विक जानने ॥ १७ ॥

अपने सत्कार मान तथा पूजा इत्यादिकेलिए तथा दंभसे किआहुआ तप राजस कहाताहै। राजस तप फलइच्छापूर्वक होताहै और स्वर्गादिफल तो विनाशी ही होतेहैं इससे राजस तप चल कहाताहै। अतएव फलभोगानंतर तप स्वयं भी नष्ट होजाताहै इससे राजस तप अध्रुव कहाताहै। यहां शारीरक मानस वाचिक तपके भेदसे राजस तपके तीन प्रकार जानने ॥ १८ ॥

मूढपुरुषोंके आग्रहकेतुल्य आग्रहसे अर्थात् अपनी सामर्थ्य न होते भी जो अपने जीवात्माको पीडा देकर किआजाताहै किं वा परकी हानिकेलिए किआ जाताहै वह तप तामस कहाताहै। इसका कुछ भी फल प्राप्त नहीं होता। तामस तप भी शारीरक मानस वाचिक भेदसे तीन प्रकारका जानना ॥ १९ ॥

मू०-दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २१ ॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

दोहा-फलइच्छाको त्याग, शुभ देशकालमें जोय ।
देऽनुपकारी सुजनको दान इ सात्त्विक सोय ॥ २० ॥
प्रत्युपकारालिए तथा फल इच्छासों तात ।
बुरे द्रव्यको अरु दिओ, राजस दान कहात ॥ २१ ॥
देश काल विन, नीचको अरु जो दीनो दान ।
पूजन आदर विन तथा, तिन सम तामस मान ॥ २२ ॥

टी०-फलइच्छाको त्यागकर भगवदाज्ञासे अपना कर्तव्य जानकर जो शुभ देशकालमें (यथा तीर्थ देशमें पर्वकालमें) जिसने अपना कोई उपकार नहीं किआ ऐसे सत्पुरुषको तथा पात्र=गुरु विद्वान् श्रोत्रिय आदिको दिआहुआ दान सात्त्विक दान कहाताहै ॥ २० ॥

जिसने अपना कुछ उपकार किआहै उसे उस उपकारके पलटेमें जो दिआ जाताहै, फलप्राप्तिकेलिए जो दिआजाताहै, बुरे द्रव्योंका जो दान दिआजाताहै वे सभ राजस दान कहाते हैं ॥ २१ ॥

जो दान सामान्य देशकालमें तथा असत्पुरुषको दिआजाताहै, तथा पादप्रक्षालनादिसत्कारके विना किं वा अवज्ञापूर्वक दिआजाताहै ये सभ दान तामसदान कहातेहैं। इनका फल कुछ प्राप्त नहीं होता ॥ २२ ॥

मू०—ओंतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

दोहा—ओं तत् सत् इह तीन पद वैदिक कर्मलगाय ।
यज्ञ वेद द्विज और, है तिन युत प्रथम वनाय ॥ २३ ॥

टी०—भगवान्ने यज्ञ दान तथा तपके सत्त्वादिगुणोंके भेदसे तीन तीन प्रकार कहदिए अव वैदिक यज्ञादिमें जो ओंकार तथा तत् सत् शब्दका उच्चारण किआ जाताहै उसके मूलको कहतेहैं—ओं तत्सदिति । यहांपर "ब्रह्मणः" इस ब्रह्मशब्दसे परमात्माका ग्रहण नहीं करना किं तु वैदिक कर्मका ग्रहण करना । ब्रह्मनाम वेदका भी है सो वेदमें कहे यज्ञादिकर्म ही यहांपर ब्रह्मशब्दसे समझने ।

हे पार्थ 'ओं तत् सत्' ये तीनों शब्द वैदिककर्मके वोधक हैं सो आदिकालमें ब्राह्मण = ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य, यज्ञ तथा वेद इनको मैंने ओं तत् सत् इनशब्दोंसे युक्तोंको ही रचाहै । इसहेतु 'ओं तत् सत्' ये तीनों शब्द वैदिककर्मके साथ अन्वित होतेहैं उनमेंसे ओंकार तो वैदिक कर्मका अंगभूत ही है इसहेतु वैदिककर्मके आदिमें, ओंकारका उच्चारण किआजाता है । और वैदिककर्मके सर्वोत्तमहोनेसे तत् सत् ये शब्द वैदिककर्मके वोधक हैं । इसवातको आगे भगवान् स्वयं ही कहेंगे ॥

कोई लोग यहां ऐसी भी व्याख्या करतेहैं कि 'ओं तत् सत्' ये तीनों शब्द परमात्माके वाचक हैं और आदिकालमें ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य वेद और यज्ञ इनको इनीशब्दोंको उच्चारण कर ब्रह्माने वनाया है सो उसका तत् सत् ये शब्द उच्चारणकर कर्म करनेसे कर्ममें जो त्रुटि रहजाती है उसका दोष नहीं लगता इति ।

यद्यपि यह अर्थ कुछ वुरा नहीं तथापि यहांके प्रकरणको देखनेसे पूर्वोक्त अर्थ कुछ अधिक संगत प्रतीत होताहै । इसश्लोकका ऐसा अर्थ है जो भाषामें संक्षेपसे लिखना कठिन है तथापि संक्षेपसे ही लिखदिआहै यदि इतने लेखसे उक्त अर्थ हृदयारूढ न हो तो इस श्लोकका श्रीरामानुजभाष्य देखना चाहिए ॥ २३ ॥

मू०—तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

दोहा—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य सब ओम् उचार हि तात ।
यज्ञ दान तप कर्मको आरँभ करत करात ॥ २४ ॥

टी०—हे पार्थ ओंकार वैदिककर्मोंका साधारण अंग है इसहेतु ब्रह्मवादी=ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्यलोग जिस यज्ञ दान तप प्रभृति वैदिककर्मको आरंभ करतेहैं उस ओंकारको उच्चारणकरके ही आरंभ करतेहैं । एवं वेदपाठको भी ओंकारका उच्चारण करके ही आरंभ करतेहैं । ओंकारका जो वेद यज्ञ तथा द्विजातिके साथ अन्वय (संबंध) है वह यही है कि वेद तथा वैदिककर्मोंको ओंकारका उच्चारण करके आरंभ करना ॥ २४ ॥

मू०—तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ २५ ॥

दोहा—'तत्' इति बोल द्विजाति सब फल इच्छाको त्याग ।
यज्ञ दान तप कर्मको करत मोक्षमें लाग ॥ २५ ॥

टी०—हे पार्थ तत् शब्द परमात्माका वाचक है इसहेतु मोक्षकी चाहना रखनेवाले ज्ञानी पुरुष फलइच्छाको त्यागकर जो वैदिक यज्ञ दान तप प्रभृति कर्मको करतेहैं वे तत् इस शब्दको उच्चारण करके करतेहैं क्यों कि तत्शब्द परमात्माका वाचक है उसे कर्मपर प्रयोग करनेसे उसकर्मका और परमात्माका अभेद बोधन द्वारा वह कर्म परमात्माके अर्पण होजाताहै अर्थात् यह कर्म तत् नाम परमात्मासे अभिन्न है अर्थात् परमात्मा श्रीनारायणके अर्पण है । अतएव फलेच्छासे रहित होकर ज्ञानीपुरुष भगवत्प्रीत्यर्थ जिसकर्मको करतेहैं उसे विद्वानलोग ' तत् ' होकर एवं वेदपाठको भी तत्शब्दको उच्चारणकर ही आरंभ करतेहैं यही तत शब्दका वेद वैदिककर्म तथा द्विजातिपुरुषोंके साथ संबध है ॥ २५ ॥

मू०—सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

दोहा—सत्ता और भलाइ इह सत्पदवाच्य सुजान ।
कर्म प्रशस्त कहात अरु सबसों सत् इति मान ॥ २६ ॥

यज्ञ दान तपकी तथा निष्ठा तासौं तात ।
द्विजके वैदिक कर्म अरु सत् इति वो० जात ॥ २७ ॥

टी०—हे पार्थ लोकमें भी सत्ता भलाई तथा प्रशस्तकर्म इनकेलिये सत् शब्दका प्रयोग किआजाताहै अर्थात् ये सभ सत्पदार्थ कहातेहैं । यथा 'घटपटादि समग्रप्रपंच सत् है' यहां सत्शब्द सत्ताका बोधक है । 'अमुकपुरुष सत् है अर्थात् भला है' यहां सत्शब्द साधुभाव=भलाईका बोधक है । 'देवदत्त सत्कार करताहै तथा सत्कर्म करताहै' यहांपर सत् शब्द प्रशस्तताका बोधक है 'देवदत्त सन्मार्गमें लगाहै अर्थात् अच्छा कर्म करताहै' यहांपर सत्शब्द सत्कर्मका बोधक है । यह लोकव्यवहारकी मर्यादा है २६॥

हे पार्थ यथा लोकमें सत्ता सद्भाव तथा प्रशस्तकर्म ये सभ सत् कहातेहैं एवं वेदमें भी ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इनकी जो वैदिक कर्म=यज्ञ दान तप प्रभृतिमें निष्ठा है वह सत् कहाती है और वैदिककर्म यज्ञ दान तप आदि भी सत् कहातेहैं क्यों कि वैदिककर्म तथा उनकी निष्ठा साधु (भले) पदार्थ हैं और सत्शब्द भी साधुका ही वाचक है, एवं वेदपाठ भी सत् कहाताहै यही सत्शब्दका वेद यज्ञ तथा द्विजातिके साथ संबंध है अर्थात् इनसभके साथ सत्शब्दका वाच्यवाचकभाव संबंध है । ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य भी वेदाधिकारके कारणसे सत्शब्दवाच्य हैं यज्ञ दान तप इत्यादि वैदिककर्मोंका ओंकार तो अङ्गभूत ही है इससे ओंकारका इनके साथ संबंध है । और ये सभ भले पदार्थ हैं और सत् शब्द भी भलेका ही वाचक है सो यज्ञादिक सत्शब्दके वाच्य हैं, यही सत्शब्दका इनके साथ संबंध है और तत्शब्द परमात्माका वाचक है और ज्ञानी पुरुष परमात्माको अर्पण करनेकेलिये ही यागादिकनको करतेहैं इसहेतु कर्मारंभके समय तत्शब्दको भी उच्चारण करतेहैं यही इनके साथ तत्शब्दका संबंध है ॥

यहांपर भगवान्ने ओं तत् सत् इनशब्दोंके संबंधको क्यों कहा इसका यह अभिप्राय है कि जो वैदिककर्म है उनके साथ तो इनका संबन्ध है और जो अवैदिक मन माने यज्ञदानादि कर्म हैं उनके साथ इन ओं तत् सत् शब्दोंका संबन्ध नहीं है सो यह भी वैदिक और अवैदिक कर्मोंके भेदके ज्ञानका एक उपाय है इससे यहां कहाहै ।

और सात्त्विक जो वैदिक कर्म है उनके साथ इन तीनों ही शब्दोंका संबंध है क्यों कि ओंकार उनका अंग ही है और वे स्वरूपेण भले हैं इससे सत्शब्दका भी संबंध है और फलइच्छाको त्यागकर भगवदर्पण करनेको ही जो कर्म किआजाताहै वही सात्त्विक कहाताहै इससे सात्त्विक कर्मके साथ तत् शब्दका भी संबंध है और राजस कर्मके साथ उक्तरीतिसे ओंकारका तथा सत्शब्दका तो संबंध है किंतु तत्शब्दका संबंध नहीं क्यों कि राजस कर्म वही कहाताहै जो भगवदर्पण न करके फलके-

लिए किआजाय। और तामस कर्मके साथ ओंकार तत् सत् इनतीनोंका ही संबंध नहीं क्यों कि तामस कर्म वही कहाताहै जो वेदविधिसे हीन हो और इनका संबंध तो वैदिकविधिसंपन्न ही कर्मके साथ होताहै यह जनानेकेलिए भी भगवान्ने यहांपर ओं तत् सत् इनके संबंधकी वात कही है इसीसे आगे कहतेहैं-" अश्रद्धया " इति। यद्यपि कर्ममें वहुत त्रुटिएं होजातीहैं और उनकी पूर्ति--

" प्रमादात्कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत्।
स्मरणादेव तद्विष्णोः संपूर्णं स्यादिति श्रुतिः" ॥

इत्यादि प्रमाणोंसे भगवन्नाम ओंकारादिके उच्चारणसे ही होतीहै तथापि भगवन्नामसे भी तामसकर्मका जो वैदिकविधिहीनतारूप दोष है वह नहीं मिटसकता इसहेतु मधुसूदनजीने जो यहां अभिप्राय लिखाहै वह संगत नहीं। और वस्तुगत्या सात्त्विक कर्मकी भी त्रुटि ओं तत् सत् इन शब्दोंसे पूर्ण नहीं होती इसीलिए कर्म समाप्त होनेपर भगवान् विष्णुका स्मरण किआजाताहै और "प्रमादात्कुर्वतां कर्म" यह श्लोक पढा जाता है सो कर्म समाप्त होनेपर किएहुए श्रीविष्णुस्मरणसे ही कर्म संपूर्ण होकर कर्मत्रुटिका दोष निवृत्त होताहै इस हेतु जिसरीतिसे श्रीरामानुजस्वामीने वेद यज्ञ तथा द्विजातिके साथ ओं तत् सत् इनशब्दोंके संबंधका प्रतिपादन किआहै वही रीति उत्तम है और प्रकरणसंगत तथा प्रामाणिक है ॥ उसे ही मैंने भी यहांपर यथामति वर्णन किआहै ॥ २७ ॥

**मू०--अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥**

दोहा--यज्ञ दान तप कर्म जो श्रद्धा रहित वनात।
सो सब असत् कहात अरु तिस फल कछु न लभंत ॥ २८ ॥

टी०--हे पार्थ जो यज्ञ दान तप कर्म प्रभृति अश्रद्धाके=श्रद्धासे विना किए जाते हैं वे असत् कहातेहैं और वे श्रद्धाके विना किएहुए कर्म न तो ज्ञानादिवृद्धिद्वारा कुछ मोक्षपक्षमें ही उपकार करसकते हैं न संसार पक्षमें ही कुछ उपकार करसकतेहैं अर्थात् सर्वथा निष्फल होते हैं। श्रुति भी कहतीहै 'श्रद्धया देयम्' इति ॥ २८ ॥

श्रीमते रामानुजाचार्यस्वामिने नमः ॥

इति पंचनदीयपंडितसुदर्शनाचार्यशास्त्रिप्रणीत श्रीभगवद्गीतासतसई तथा तत्त्वार्थसुदर्शनी टीकासहित श्रीमद्भगवद्गीताका सप्तदशाध्याय समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

॥ श्रीः ॥

अथ अष्टादशाध्याय।



अर्जुन उवाच-

मू०-संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

दोहा-त्याग और संन्यासको कौन रूप (लक्षण) है तात।
दोनों भिन्न कहायँ वा दोनों एक कहात ॥ १ ॥

टी०-लौकिक जो पुत्र कलत्र स्वर्गादि पदार्थ हैं उनका साधन वैदिक कर्म ही है और मोक्षका भी परंपरया साधन किं वा आदिसाधन वैदिककर्म ही है क्यों कि निष्काम कर्मसे चित्त शुद्ध होगा तव ज्ञान बढेगा तव भगवद्भक्ति होगी तब मोक्ष होगा सो मोक्षका भी आदि साधन निष्कामकर्म ही है। और वैदिककर्मके साथ ही ओंकारका संबंध होताहै। यह सभ भगवान्ने कहदिआ। और यज्ञ दान तप इनके साथ भोजन भी तीन प्रकारका कहाहै इससे भगवान्का यह भी अभिप्राय है कि सात्त्विक भोजनसे भी चित्त शुद्ध रहकर ज्ञान वढताहै अर्थात् राजस तामस भोजनसे चित्त अशुद्ध होताहै और ज्ञानका अभिभव तथा नाश होताहै कहा भी है-

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः" अर्थात् आहारकी शुद्धिसे चित्त शुद्ध होताहै चित्त शुद्ध होनेसे ध्यान दृढ होताहै। यह सभ भी भगवान्ने कहदिआ।

अब मोक्षसाधनभूत जो संन्यास तथा त्याग है वे दोनों एक ही पदार्थ हैं। और कर्मको भगवान् श्रीनारायणके अर्पण करदेना उसके फलकी इच्छा न करनी और कर्मका कर्ता कारयिता श्रीनारायण ही को समझना यही त्याग तथा संन्यासका स्वरूप है। सत्त्वगुण अवश्य उपादेय है। स्ववर्णाश्रमोचित कर्मोंसे भगवत्प्राप्ति किस प्रकार होतीहै। तथा समग्र गीताका सार भक्तियोग है। इन सभ पदार्थोंको भगवान् कृपाकरके कहेंगे। इनी पदार्थोंके ज्ञानकेलिए अर्जुनजी प्रश्न करतेहैं-संन्यासस्येति।

हे भगवन् संन्यास और त्याग क्या पदार्थ हैं? अर्थात् इनका स्वरूप क्या है और ये दोनों पृथक् हैं किं वा एक ही पदार्थ हैं यह जानना चाहताहूं सो आप संन्यास और त्यागका कृपाकर वर्णन करो।

श्रुति भी त्याग और संन्यासको मोक्षसाधन कहती है—" न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः " " वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः " इति ॥

मधुसूदनसरस्वतीजी यहांपर लिखते हैं कि चतुर्दशाध्यायमें " गुणानेतानतीत्य त्रीन् " इत्यादिसे जो कर्मसंन्यास कहाहै और तत्त्वज्ञानसंपादनकेलिए जो कर्मपरित्याग किआजाताहै वे दोनों सत्त्वादिभेदसे तीन तीन प्रकारके नहीं होते इत्यादि यह सब असंगत है एक तो जब कर्म गुणभेदसे तीन प्रकारके हैं तो उनका संन्यासभी तीन प्रकारका क्यों न होगा इसमें कुछ हेतु नहीं और " गुणानेतानतीत्य त्रीन् " इत्यादि श्लोकोंमें संन्यासकी गंध भी नहीं जो इन श्लोकोंको संन्यासपर लगायाजाय । किं तु चतुर्दशाध्यायमें गुणोंके स्वरूपको तथा गुणोंसे भिन्न आत्मस्वरूपको ही कहाहै संन्यासको नहीं कहा । यदि संन्यासको कहा होता तो यहांपर फिर अर्जुन संन्यासज्ञानकेलिए प्रश्न न करते । यदि कहो कि षष्ठाध्यायोक्त " स संन्यासी च योगी च " यह जो संन्यास कहाहै उसके. गुणभेदसे तीन भेद होसकते हैं उसके लिए अर्जुन प्रश्न करते हैं तो यदि अर्जुनको इतना ज्ञान होगया है कि गुणातीतका जो संन्यास है उसके भेद नहीं होते और " स संन्यासी च योगी च " इस संन्यासके भेद होते हैं तो भी आपके मतसे अर्जुनको प्रश्न करना उचित नहीं ।

और जो कहते हैं कि तत्त्वज्ञानसंपादनकेलिए कर्मपरित्याग किआजाताहै यह भी अशुद्ध है कर्मपरित्याग करनेसे तो अंतःकरणकी अशुद्धिद्वारा अज्ञान ही बढेगा ज्ञान नहीं बढसकता । श्रुति भी कहती हैं कि " तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" अर्थात् ब्रह्मनिष्ठलोग यज्ञ दान तप व्रत प्रभृति कर्मोंसे ब्रह्मज्ञानको संपादन करते हैं । यदि कहो कि यहांपर प्रत्ययार्थ इच्छा ही प्रधान है सो यज्ञादिकनका ब्रह्मज्ञानेच्छाके साथ संबंध होनेसे ब्राह्मणलोग यज्ञादिसे ब्रह्मज्ञानेच्छाको संपादन करतेहैं कुछ ज्ञानको यज्ञादिसे संपादन नहीं करते यह उक्तश्रुतिका अर्थ है । तो यह आपका कहना ठीक नहीं क्यों कि इच्छा बनानेसे नहीं बनती किं तु इच्छा तो वस्तुकी निकाई (भलाई) के अधीन है जो वस्तु भली होती है उसकेलिए स्वयं ही इच्छा होजाती है यथा धन सुख विद्या आदिकेलिए एवं ब्रह्मज्ञान भी मोक्षप्रद होनेसे सर्वोत्तम पदार्थ है उसकेलिए इच्छा तो स्वयं ही होजाती है इसहेतु ब्रह्मज्ञानेच्छाकेलिए यज्ञादिकी कुछ अपेक्षा नहीं किं तु ब्रह्मज्ञानकेलिए ही यज्ञादिकनकी अपेक्षाहै । और यथा—' असिना जिघांसति=तलवारसे मारना चाहताहै ' यहां पर तलवारका घातेच्छामें अन्वय नहीं होता किं तु घातमें ही अन्वय होताहै एवं उक्त श्रुतिमें भी प्रत्ययार्थत्वेन प्रधानीभूत भी इच्छाको त्यागकर यज्ञादिकनका प्रकृत्यर्थ ज्ञानपदार्थके ही साथ अन्वय

होताहै। सो जब कि श्रुति भी कर्मसे ज्ञानकी उत्पत्तिको कहरही है फिर ज्ञानकेलिए जो लोग कर्मपरित्याग करनेको कहते हैं उनका वचन ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि जीनेकेलिए विष खाना चाहिए। यथा विषखानेसे जीनेके स्थानपर उलटा वह मरेगा ही एवं ज्ञानवृद्धिकेलिए जो कर्मका परित्याग करेगा उसे ज्ञानके स्थानपर अज्ञान ही बढेगा। इत्यादि ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच-

मू०--काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

दोहा--काम्यकर्मका त्याग जो सो संन्यास कहात ।
सकलकर्मफलत्याग को त्याग कहत है तात ॥ २ ॥

टी०-हे पार्थ काम्यकर्म जो ज्योतिष्टोमादि यागादि हैं उनके त्यागको ही कोई लोग संन्यास कहते हैं कोईलोग समग्रकर्मोंके फलत्यागको ही त्याग कहते हैं। यह भगवान्ने और विद्वानोंके सिद्धांतानुसार ही कहाहै। आगेके श्लोकोंसे भगवान्का तात्पर्य तो यही निकलताहै कि संन्यास और त्याग एक ही पदार्थ है भिन्न भिन्न नहीं सो भी कर्मफलत्यागको ही संन्यास तथा त्याग कहते हैं। और कर्मका स्वरूपेण त्याग भगवान्को अभिप्रेत नहीं हां नित्य और नैमित्तिक कर्मकी जैसी कुछ आवश्यकता है उतनी काम्यकर्मकी आवश्यकता नहीं क्यों कि नित्यनैमित्तिक कर्मके विना तो वर्ण और आश्रममें ही हानि पहुंच जाती है। काम्यकर्म भी जहांतक बने करना ही चाहिए किंतु फलेच्छाको त्यागकर ही करना चाहिए ऐसे करनेसे वह कर्म ज्ञानवृद्धिद्वारा मोक्षोपयोगी होजाताहै ॥ २ ॥

मू०--त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

दोहा—कोउ कहैं बहु दोषसों भलो कर्मको त्याग ।
कोउ कहैं नहिं कर्मको भलो त्याग मति लाग ॥ ३ ॥

टी०—कोई कपिलदेव आदि ज्ञानीलोग कहते हैं कि यथा रागद्वेषादिक संसारबंधको दृढ करते हैं एवं कर्म भी संसारबन्धको दृढ करताहै तथा किसी किसी कर्ममें जीवहिंसा भी है जिसमें जीवहिंसा नहीं भी वह भी कर्म धनसाध्य ही होगा और उसकर्म करनेकेलिए जिससे धन लिआजायगा उसे अवश्य ही कुछ न कुछ क्लेश धनदेनेमें होगा तो दूसरेको कर्मकेलिए क्लेश देना पडा इत्यादिदोष कर्म में अनेक हैं इसहेतु कर्मका स्वरूपेण ही त्यागकरदेना भला है अर्थात् कर्मकरना ही नहीं। कोईलोग कहते हैं कि यज्ञ दान तप इत्यादिक कर्मोंका व भी

त्याग नहीं करना चाहिए क्यों कि कर्मत्यागसे अंतःकरण मलिन होजायगा तब ज्ञान नष्ट होकर अज्ञान बढेगा सो अच्छा नहीं इसहेतु कर्म करना ही चाहिए । यही पक्ष ठीकहै ॥ ३ ॥

मू०-निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः परिकीर्तितः ॥ ४ ॥

दोहा-फल ममता अरु कर्तृता इनको त्याग भलाइ ।
त्याग कर्मको एहविध त्रिविध सुनो मनलाइ ॥ ४ ॥

टी०-हे पार्थ उक्तरीतिसे कोई कुछ कहताहै कोई कुछ कहताहै । त्यागका जो यथार्थ स्वरूप है उसको तू मुझसे सुन। वह त्याग तीन प्रकारका है । अर्थात् फलत्याग ममतात्याग और कर्तृतात्याग । फलप्राप्तिकी इच्छाको छोडकर कर्मको भगवदर्पण करदेना=भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करना यही फलत्याग है । किए कर्ममें ममता न करनी उसे अपना न समझ भगवत्का समझना यह ममतात्याग है । कर्मका अपनेको कर्ता न समझना किं तु भगवान्को ही कर्ता कारयिता समझना यह कर्तृतात्याग है सो इसप्रकार फल ममता तथा कर्तृताका ही त्याग करना चाहिये तथा यही त्यागपदार्थ है कर्मका स्वरूपेण त्याग नहीं करना चाहिए ।

यहांपर मधुसूदनसरस्वतीने त्रिविधशब्दका ऐसा अर्थ किआ है कि एक तो केवल फलेच्छाका त्याग, द्वितीय केवल कर्मका त्याग, तृतीय फलेच्छा और कर्म इनदोनोंका त्याग । सो यह व्याख्या सर्वथा असंगत है क्यों कि आगेके श्लोकोंमें भगवान् स्पष्ट कह रहे हैं कि कर्मका त्याग नहीं करना कर्म अवश्य करना चाहिए। और जिसपुरुषको फलकी इच्छा है वह कर्मका त्याग ही क्यों करेगा इससे केवल कर्मत्यागवाला द्वितीय पक्ष तो स्वरूपेण ही अनुपपन्न है और यदि वह हठात् कर्मका त्याग कर भी देगा तो जब कि उसके हृदयमें तो फलप्राप्तिकी इच्छा बनी है तो उस बाह्य कर्मत्यागसे बनेगा भी क्या ? ।

और मधुसूदनजी यहांपर यह भी लिखते हैं कि ब्रह्मज्ञानेच्छा उत्पन्न हो जानेसे जो कर्मका स्वरूपेण त्याग किआजाताहै वह उक्त तृतीयत्यागका एक भेद है । सो यह भी संगत नहीं क्यों कि यदि किसी भी अवस्थामें भगवान्को कर्मका स्वरूपेण त्याग इष्ट होता तो आगे "यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्" ऐसा न कहते । और यदि ब्रह्मज्ञानेच्छा छोड ब्रह्मज्ञान हो जानेपर भी कर्मका स्वरूपेण त्याग इष्ट होता तो जनकादिक क्यों कर्म करते । और साक्षात् परब्रह्म गीताके वक्ता श्रीकृष्णभगवान् स्वयं भी क्यों कर्म करते । इससे जबतक पुरुषको देहानुसंधान तथा शौच है तबतक अवश्य ही फलेच्छाका त्याग कर्म करना ही चाहिये । और त्रिविध-

शब्दका प्रथमलिखा ही अर्थ ठीक है कि फलत्याग ममतात्याग तथा कर्तृत्याग ये ही तीनप्रकारका कर्मत्याग शास्त्रीय है ॥ ४ ॥

मू०-यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

दोहा-यज्ञ दान तप कर्म ये कर, इन त्यागन साधु ।
यज्ञ दान तप कर्म इन मिटते पाप असाधु ॥ ५ ॥
फलइच्छा ममता तथा त्याग ज्ञानहित तेहु ।
अवस हि करने कर्म ये निश्चित मम मत एहु ॥ ६ ॥

टी०-हे पार्थ यज्ञ दान तप प्रभृति वैदिक कर्मोंका कभी त्याग नहीं करना क्यों कि यज्ञादिक वैदिक कर्म ज्ञानी जनोंको भी पवित्रकरनेवालेहैं अर्थात् इनसे अंतःकरण शुद्ध होजाताहै और ज्ञान बढताजाताहै । अंतःकरण शुद्ध होकर परमात्माके ज्ञान भक्ति होजानेनेसे भी इनका त्याग नहीं करना । क्यों कि इनके त्याग करदेनेसे फिर अंतः-करण मलिन होजाताहै ॥ ५ ॥

यज्ञादिक कर्म पुरुषको पवित्र करनेवाले हैं इसहेतु उपासनाके तुल्य यज्ञादिकनको भी सदा करना ही चाहिए किंतु फलेच्छाको ममताको तथा कर्तृत्वाभिमानको त्याग-कर करने चाहिये अर्थात् कर्म अवश्य करना किंतु उसके फलकी चाह नहीं करनी उस कर्ममें ममताबुद्धि नहीं करनी किंतु उसे भगवान्का समझना चाहिए और कर्तृ-त्वाभिमान नहीं करना किंतु उस कर्मका कर्ता कारयिता भगवान् श्रीहरिको समझना चाहिये अपनेको नहीं समझना इस रीतिसे यज्ञादिकर्मोंको अवश्य ही करना-चाहिये ॥ ६ ॥

मू०-नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

दोहा-नित नैमित्तिक कर्मको त्याग न नीको तात ।
जो तिस त्याग अज्ञानसो सो तामस हि कहात ॥ ७ ॥

टी०-हे पार्थ नित्य तथा नैमित्तिक कर्मका त्याग शास्त्रसंगत नहीं तो भी जो लोग अज्ञानवश कर्मको भी रागद्वेषादिवत् बंधक जानकर कर्मका त्याग करदेते हैं वह त्याग तामस है=अज्ञान (तमो) मूलक है ।

अर्थात् ज्ञानी पुरुषकोभी शरीरका तो निर्वाह अवश्य कर्तव्य ही है शरीरनिर्वाह तो भोजनादिके विना नहीं होसकता, भोजनकरनेवालाभी यदि पंचमहायज्ञ किए विना भोजन करेगा तो उसे अवश्य ही पाप लगेगा भगवान् कह भी चुकेहैं–"ते त्वघं भुंजते पापाः" इत्यादि । उस पापसे अंतःकरण मलिन होकर ज्ञान भी नष्टहोगा इसहेतु शरीर निर्वाहके लिए भी नित्य नैमित्तिक कर्म अवश्य ही करने चाहिए इसीहेतु नित्यनैमित्तिककर्मका त्याग संगत (उपपन्न) नीका नहीं ।

और ज्ञानको बढानेवाले जो कर्म हैं उनको ज्ञानविरोध जानना और बंधनरूप जानना यह अज्ञान=मोह ही है और मोहसे किएहुए ही काम तामसकहातेहैं सो इस मोहसे जो कर्मका स्वरूपेण त्याग करतेहैं वह तामसत्याग कहाताहै । सात्त्विक त्याग तो यही है कि कर्मको करके उसके फल ममता तथा कर्तृताको त्याग देना । यथा नवनीत (मक्खन) में घृत भी है और कुछ दधि भी है लोग घृतका त्याग नहीं करते किं तु दधिको निकाल देतेहैं एवं कर्मके स्वरूपका संपादन करके फल-ममता और कर्तृताको त्याग देना यही मार्ग शास्त्रीय है ।

यहांपर कोईलोग कहतेहैं कि भगवान्ने नित्यनैमित्तिक कर्मके त्यागका ही निषेध किआहै इसहेतु काम्यकर्मका त्यागकरना ही चाहिए सो यह मत ठीक नहीं काम्य-कर्मका भी करनेमें दोष नहीं किं तु उसके भी फलका ही त्याग करना चाहिए । हां नित्य नैमित्तिक कर्मके त्यागसे तो वर्णाश्रममें भी हानि पहुंचेगी । काम्यकर्मके त्यागसे वर्णाश्रममें हानि नहीं पहुँचती इतनाही काम्यकर्मका और नित्यनैमित्तिककर्मका और उनके त्यागका भेद है ॥ ७ ॥

मू०–दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

दोहा–देहदुःखकी भीतिसों कर्म हिं छोडत जोय ।
पाय त्यागफल सो न, तिस त्यागहु राजस सोय ॥ ८ ॥
निजकर्तव्य मनाय जो करतो कर्म वनाय ।
फल अरु ममता त्याग, तिस सात्त्विक त्याग कहाय ॥ ९ ॥

टी०–हे पार्थ जो पुरुष ऐसा जानताहै कि यद्यपि चित्तशुद्धिद्वारा कर्म मोक्षके साधन हैं तथापि कर्मकेलिए धनादिक चाहिए सो कर्म बहुत श्रमसे सिद्ध होताहै और कर्म करनेमें शरीरको भारी क्लेश उठाना पडताहै इसहेतु कर्मको त्यागकर मोक्षकेलिए योगज्ञानादिका ही अभ्यास करनाचाहिए ऐसा जानकर जो पुरुष कर्मका त्याग करताहै

उसका त्याग राजस है और उसत्यागसे जो वह ज्ञानवृद्धिरूपफलकी संभावना करताहै वह फल भी उसको प्राप्त नहीं होता क्यों कि कर्मत्यागसे चित्त मलिन होकर अज्ञान ही बढताहै ॥

और जो पुरुष कर्मको अपनाकर्तव्य समझकर अवश्य करताहै किंतु फलेच्छाको ममताको तथा कर्तृत्वाभिमानको त्यागदेताहै वह त्याग सात्त्विक त्याग कहाताहै । सो स्वरूपसे कर्मका त्याग नहीं करनाचाहिए ॥

अभिप्राय यह है कि कर्मत्याग भी सत्त्वादिगुणभेदसे तीन प्रकारका है जो पुरुष कर्म करताहै किंतु उसके फल ममता तथा कर्तृताका त्यागकरताहै वह सात्त्विक त्याग है । जो पुरुष कर्मको मोक्षसाधन तो मानताहै तथा कर्मको बुरा भी नहीं मानता किंतु कायक्लेशके भयसे कर्मका त्याग करदेताहै वह त्याग राजस है । और जो पुरुष रागद्वेषादिवत् कर्मको उलटा बंधनमानकर त्याग देताहै वह त्याग तामस है ।

यहांपर कोई लोग शंका करतेहैं कि प्रथम भगवान्ने "त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः परिकीर्तितः" यह तीनप्रकारका त्याग कहा फिर "मोहात्तस्य परित्यागः" यह एक त्याग कहा फिर "स कृत्वा राजसं त्यागम्" यह दूसरा त्याग कहा, फिर तीसरा त्याग कहनेके स्थानपर भगवान्ने उलटा "कार्यमित्येव यत् कर्म" यह कर्मका करना ही कहा त्याग नहीं कहा इससे भगवान्की त्यागत्रैविध्यकी प्रतिज्ञामें फरकपडा । इसका उत्तर मधुसूदन सरस्वतीजी ऐसा लिखतेहैं कि यहांपर त्यागका त्रैविध्य गुणभेदसे नहीं कहा किंतु विशिष्टरूपसे कहा है कि एक तो केवल फलेच्छाका त्याग द्वितीय केवल कर्मका त्याग तृतीय फलेच्छा और कर्म इनदोनोंका त्याग इसप्रकार त्यागके तीन भेद हैं । सो उक्त शंका भी असंगत है और मधुसूदनजीका यह समाधान भी असंगत है मधुसूदनजीके इस समाधानका मैंने प्रथम ही खंडन लिखदिआहै उसे चतुर्थश्लोकपर देखो ।

मधुसूदनजीने जो "त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः परिकीर्तितः"यह त्रिविधशब्दका केवल फलेच्छा त्याग केवल कर्मत्याग फलेच्छा कर्म दोनोंका त्याग इसस्वरूपसे विशिष्टाभाव मानकर जो द्राविडप्राणायाम किआहै यह व्यर्थ है क्यों कि यहांपर जो भगवान्ने त्यागके तीन भेद कहेहैं सो ग्राह्य त्यागके ही तीन भेद कहेहैं कुछ अग्राह्य जो राजस तामस त्याग है उनको लेकर कर्मत्यागके तीन भेद नहीं कहे । और ग्राह्यत्याग तो सात्त्विक ही है सो सात्त्विक ही त्यागको भगवान्ने यहांपर त्रिविध कहाहै वे भेद ये ही हैं कि एक तो फलेच्छात्याग, द्वितीय ममताका त्याग, तृतीय कर्तृताभिमानत्याग, इसी अभिप्रायसे भगवान् यहांपर "संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः" ऐसा कहतेहैं कि एक फलत्याग, द्वितीय संगत्याग । इस संगके भी दो भेद हैं कि एक तो कृतकर्ममें ममताबुद्धि होनी, द्वितीय कृतकर्मको अपनाकिआ समझना

यह कर्तृता संग है सो इन दोनों संगोंका त्याग और फलका त्याग ये मिलकर तीन प्रकारके त्याग हुए इनी तीनत्यागोंके अभिप्रायसे वहांपर भगवान्ने "त्रिविधः" ऐसा कहाहै । और यही अर्थ ठीक है ॥

उक्त शंका करनेवाले महाशयने भी आगा पीछा कुछ नहीं सोचा " त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः परिकीर्तितः" यहांपर त्रिविधशब्दका अर्थ तो यही है कि कर्मके फल ममता और कर्तृताके त्यागके भेदसे कर्मत्याग तीन प्रकारका है । यदि यहांपर सत्त्वादिगुणभेदसे ही त्यागको तीन प्रकारका मानकर भगवान्ने " त्रिविधः " ऐसा कहा हो तो भी यहांपर भगवान्ने कर्मके स्वरूपेण त्यागको तो त्रिविध नहीं कहा ? केवल कर्मत्यागको त्रिविध कहाहै । वह त्याग चाहे स्वरूपेण हो चाहे प्रकारांतरसे हो सो राजस तामस त्याग तो कर्मके स्वरूपेण दो त्याग हैं तृतीय सात्त्विक त्याग स्वरूपेण नहीं किंतु कर्मके फल और संगके त्यागसे ही कर्मका त्याग कहाताहै उस तृतीय सात्त्विक त्यागको भी भगवान्ने इस नवम श्लोकमें कह ही दिआहै इससे शंका करनेवालेकी यह शंका व्यर्थ ही है कि भगवान्ने त्रिविध कहकर फिर कर्मत्यागके दो ही प्रकार कहे ॥ और उक्त इस शंकाका निवारण इस प्रकार सहज ही होसकता था यह मधुसूदनजीको नहीं सूझा किंतु विशिष्टाभावस्वीकाररूपी द्राविडप्राणायामकी ही सूझी इनबातोंसे मधुसूदनजीकी तत्त्वज्ञता भली तरह झलक रही है ॥ ८ ॥ ९ ॥

मू०—न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

दोहा—त्यागी संशयहीन बुध सत्त्वगुणी जो तात ।
द्वेष पापसों, पुण्यसों प्रीति हु सो न लगात ॥ १० ॥

टी०—अकुशल कर्म पापका नाम है कुशलकर्म पुण्यका नाम है । त्यागी=कर्मके फल ममता और कर्तृताभिमानको त्यागकरनेवाला, सत्त्वसमाविष्ट=सत्त्वगुणी. मेधावी=तत्त्वज्ञानवाला, तथा छिन्नसंशय=जिसके संशय मिटगएहैं अर्थात् जो प्रपंचको हेय तथा अनित्य समझताहै आत्मज्ञानको ही उपादेय समझताहै ऐसा पुरुष पुण्यकर्ममें आसक्त नहीं होता अर्थात् पुण्यकर्मको करके भी उसके फलकी इच्छा नहीं करता । और पापकर्मसे द्वेष भी नहीं करता ॥

यहांपर पुण्यकर्मके स्वरूपेण त्यागसे भगवान्का अभिप्राय नहीं किंतु फलेच्छा ममता और कर्तृत्वाभिमान इनीके त्यागसे अभिप्राय है इसीसे आगेके श्लोकमें भगवान् कर्मके स्वरूपेण सर्वथा त्यागको असंभव कहेंगे । और यहांपर भी "कुशले नानुषज्जते" इसका पुण्यमें अनुषंग नहीं करता यही अर्थ कहना पडेगा तो जब पुरुष कर्मको ही नहीं करेगा तब कर्मविषयक अनुषंगका त्याग भी कैसे करेगा ? क्यों कि त्याग भी प्राप्त-

का होसकताहै सो जब पुरुष कर्म करेगा तो उसमें अनुषंग प्राप्त होगा तब उसका त्याग भी संगत होसकताहै इसहेतु पुण्यकर्मके स्वरूपेण परित्यागसे भगवान्का तात्पर्य नहीं किं तु फलादिसंगके त्यागसे ही तात्पर्य है ।

और "न द्वेष्ट्यऽकुशलं कर्म" इसवाक्यका यह अर्थ नहीं कि पापकर्मसे द्वेष न करके भले ही पापका अनुष्ठान करो । किं तु जो पुरुष पाप करताहै उसके साथ द्वेष नहीं करना किं तु उसकी उपेक्षा करदेनी और उसके पापके साथ भी द्वेष नहीं करना अर्थात् उसको पापसे निवृत्तकरनेकेलिए भी बहुत यत्न नहीं करना इसी बातको पतंजलिने कहाहै-"मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातः चित्तप्रसादनम् " इति । उसीके और यदि अपनेसे भी कोई सामान्यसा पाप भूल चूककर होजाय तो उसीके पश्चात्तापमें सब समय नहीं खोना किं तु उसका यथोचितप्रायश्चित्त करके फिर अपने ज्ञानसंपादनादि कर्त्तव्यमें लगजाना चाहिये । यही भगवान्का अभिप्राय है । यदि जानबूझकर पाप करेगा तो वह मेधावी ही नहीं कहासकेगा और उस पापके साथ द्वेष भी करना चाहिए जानबूझकर पापकरनेवाला तो नरकमें ही जायगा उसे ज्ञानका दर्शन भी प्राप्त नहीं होसकता कहा भी है—

" नाऽविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नाऽसमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ " इति ॥ १० ॥

मू०-न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

दोहा-समकर्मनके त्यागको करसकतो नाहिं कोउ ।
त्यागै जो समकर्मफल त्यागी नरवर सोउ ॥ ११ ॥

टी०-हे पार्थ देहधारी जीव समग्र कर्मोंको कोईप्रकार भी त्याग नहीं सकता क्यों कि शरीरयात्रा तो अवश्य निवाहनी होगी शरीरयात्रा तो विना भोजनके निभ नहीं सकती भोजन तो पंचमहायज्ञोंके विना निकृष्ट है सो पंचमहायज्ञ तो करने ही पडेंगे तब फिर ज्योतिष्टोमादि पुण्यकर्म करनेमें भी क्या हानि तथा लज्जा है सो कर्म करने ही चाहिये सर्वथा कर्मका त्याग हो भी नहीं सकता और कर्मका स्वरूपेण त्यागकरनेवाला त्यागी भी नहीं कहासकता किं तु जो पुरुष कर्मको करके उसे भगवदर्पण कर फलका त्याग करताहै वही त्यागी कहाताहै ॥ जो स्वरूपेण कर्मका त्याग करताहै वह तो नपुंसक कहाताहै । श्रुति भी कहतीहै—

" कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ "

" विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ "

"सत्यं वद धर्मं चर।सत्यान्न प्रमदितव्यं धर्मान्न प्रमदितव्यम्" इत्यादि अर्थात् जबतक जीव जीताहै तबतक पुण्यकर्म करने ही चाहिए ॥ वेदांतसूत्रकारश्रीव्यासदेवने भी कहाहै कि ज्ञानकेलिए कर्मकी अपेक्षा है मुमुक्षुको भी पुण्यकर्म करनेचाहिए और ज्ञानोत्पत्तिके अनंतर भी पुण्यकर्म करने ही चाहिए जो वह ज्ञाननष्ट किं वा हानिको प्राप्त न हो, सूत्र यथा-"सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" " विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि" " अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् " ॥ इत्यादि ॥ ११ ॥

मू०--अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणःफलम्
भवत्यऽत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२ ॥

दोहा--इष्ट अनिष्ट तथा मिल्यौ त्रिविध कर्मफल पात ।
त्यागहीन, अरु त्यागिको सो फलहोत न तात ॥ १२ ॥

टी०-हे भगवन् यथा बीज बोनेसे अंकुर अवश्य ही आताहै एवं कर्म करनेसे उसका इष्टानिष्टरूप फल तो अवश्य ही प्राप्त होगा फल तो संसारबंधको दृढ ही करनेवाले हैं इसहेतु कर्मफल मोक्षसे विरोधी ही हैं इसहेतु मुमुक्षुको तो कर्मका त्याग ही करना चाहिए । इस शंकापर कृपासमुद्र भगवान् वासुदेव कहते हैं—अनिष्टमिति ।

हे पार्थ कर्मके तीन प्रकारके फल हैं—इष्ट अनिष्ट और मिश्र मिला केवल पुण्यकर्मका फल इष्ट (भला) होताहै केवल पापका फल अनिष्ट (बुरा) होताहै जिस कर्ममें पाप पुण्य दोनों मिले रहते हैं उसका फल मिश्र=कुछ भला कुछ बुरा होताहै । और कर्म भी पाप पुण्य मिश्र ये तीन ही प्रकारके हैं सो जो पुरुष फलेच्छा ममता और कर्तृताभिमानको नहीं छोडते उन्हीको किए कर्मका *यथायोग्य* फल प्राप्त होताहै और वह फल बंधनस्वरूप भी है ही । और जो पुरुष संन्यासी हैं अर्थात् फलेच्छा ममता कर्तृत्वाभिमान इन तीनोंको छोड देते हैं—कर्मका कर्त्ता कारयिता तथा स्वामी अपनेको न समझ श्रीनारायणको समझते हैं और फलकी इच्छा न कर कृतकर्मको भगदर्पण करदेते हैं उन ज्ञानीपुरुषोंको कर्मका फल प्राप्त ही नहीं होता जो संसारबंध दृढ हो प्रत्युत उस कर्मसे चित्त शुद्ध होकर ज्ञान बढताहै उससे तो संसारबंध जीर्ण ही होताजाताहै सो संन्यासीका त्यागपूर्वक किआहुआ कर्म मोक्षोपकारी ही होताहै इससे मुमुक्षुको भी कर्म करने ही चाहिए ।

श्रुति भी कहती है-" तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" मुमुक्षुकेलिए कर्म करनेको सूत्रकारने भी कहाहै-

" विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि " पुण्यकर्मका भी फल ज्ञानीको प्राप्त नहीं होता किं तु ज्ञानसे पुण्यका नाश होजाताहै यह भी सूत्रकारने कहा ही है-

" इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु " इति । श्रुति भी कहती है-" क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" इति । सो मोक्षविरोधसे डरकर पुण्यकर्मका त्याग कभी नहीं करना चाहिये पुण्यकर्म तो परंपरया मोक्षका सहकारी ही है ॥

यहांपर मधुसूदनसरस्वतीजीने बहुतसी मनमानी खिचडी पकाई है और तीन प्रकारके संन्यासिओंकी कल्पना करके कहते हैं कि गौणसंन्यासिओंकेलिए यहां भगवान्ने फलप्राप्ति कही है और "न तु संन्यासिनां क्वचित्" यह मुख्यसंन्यासिओंकेलिए विदेहकैवल्य कहाहै । सो सभ असंगत है । यह सभकोई जानसकताहै कि यहांपर विदेहकैवल्यकी गंध भी नहीं और विदेहकैवल्य जीवन्मुक्तिका नाम है जीवन्मुक्ति कुछ पदार्थ ही नहीं न संभव ही होसकती है यह सभ मैं प्रथम ही लिखचुकाहूं। और यहां तो केवल फलकी प्राप्ति और अप्राप्तिकी बात है कि फलेच्छवालेको कर्मफल प्राप्त होताहै फलेच्छा रहितको कर्मफल प्राप्त नहीं होता और उसका वह कर्म मोक्षका सहकारी होताहै । मधुसूदनजी दूसरेको खूब फटकारते हैं किं तु अपनी अज्ञताकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते । वेदांतसूत्रकारने " तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् " यह सूत्र ज्ञानीको पापका संबंध नहीं होता केवल इतने विषयपर ही बनायाहै सूत्रमें पापवाचक अघशब्द भी है कुछ कर्ममात्रके असंबंधकेलिए यह सूत्र नहीं बनाया अत एव पुण्यकर्मके असंबंधकेलिए इससूत्रसे आगे " इतरस्याप्यमेवमसंश्लेषः" यह सूत्र बनायाहै, तो भी मधुसूदनसरस्वतीजी ज्ञानीके साथ पुण्यपापरूप कर्ममात्रके असंबंधकेलिए " तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ " इस सूत्रको प्रमाण लिखते हैं जिन मधुसूदनजी महाराजको यह भी प्रतीत न हुआ कि इस सूत्रमें अघशब्द पडा है इससे यह सूत्र केवल पापके असंबंधको प्रतिपादन करताहै,उन मधुसूदनजीको गीताके तात्पर्य प्रतीत होंगे यह कौन विश्वास करेगा । और मधुसूदनजी अपनी अद्वैतसिद्धिमें ' आजतक किसीकी भी मोक्ष नहीं हुई ' यह लिखकर यहांपर मुख्यसंन्यासीके जन्मप्राप्तिका निषेध करके मोक्षको जतारहे हैं यह भी पूर्वापरका भारी विरोध है जिनको अपने ही वाक्योंपर ध्यान नहीं वे दूसरेके वाक्योंपर क्या ध्यान देंगे । विस्तरभयसे अधिक नहीं खंडन किआ। तस्मात्—

" मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः ।
नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया ॥" यही सिद्धांत है ॥१२॥

मू०—पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

दोहा—सकलकर्मकी सिद्धिके कारण पांच कहात ।
जो वेदांत कहै, तुनो सो मोसों अब तात ॥ १३ ॥
१ काय, २ जीव, ३ कर्मेंद्रियें मनके सहित हि जांच ।
४ अंतर्यामी हरि तथा, ५ पञ्च प्राण, इह पाच ॥ १४ ॥
मन वाणी अरु कायसों—पाप पुण्य वा तात ।
कर्म करत, तिसके इह कारण (कर्ता) पांच कहात ॥ १५ ॥

टी०—हे भगवन् जव कि जीवात्मा ही कर्मका कर्ताहै तब: जीव स्वकृतकर्मसंबंधी ममता और कर्तृत्वाभिमानको कैसे त्यागसकेगा ? अर्जुनकी इस शंकाको मिटानेकेलिए कर्मके जितने पदार्थ मिलकर कर्ता हैं उनको भगवान् कहतेहैं—'पञ्चैतानि' इत्यादि अभिप्राय यह है कि जीवात्मा भी परमात्माका शरीरभूत ही है सो स्वशरीरभूतजीवात्माके किएहुए भी कर्मोंका कर्ता कारयिता तथा फलभोक्ता श्रीनारायण अंतर्यामी ही हैं इस हेतु कर्मसंबंधी ममता और कर्तृताभिमानको छोडदेना ज्ञानीकेलिए कुछ कठिन नहीं क्यों कि जो जीवके यथार्थ स्वरूपको जानताहै वही ज्ञानी कहाताहै कर्मके विषयमें जीवका यथार्थस्वरूप यही है कि जैसे परमात्मा श्रीहरि प्रेरणा करताहै वैसा ही जीव कर्म करताहै और जीव परमात्माका शरीरभूत है सो यथा अज्ञानीलोग शरीरके किएहुए भी कर्मको जीवका किआ मानतेहैं तथा ज्ञानीलोग परमात्मशरीरभूत जीवसे भी किए कर्मको परमात्माका किआ मानते हैं इस हेतु ज्ञानीको कर्मसंबंधी ममता और कर्तृताभिमान छोडदेना कुछ कठिन नहीं ॥

हे पार्थ—सांख्ये कृतांते=वेदांतशास्त्रमें जो नाम कर्म है उसके पांच कारण=सिद्धिहेतु कहेहैं अर्थात् जीवात्मा एकला ही कर्ता नहीं किं तु प्रत्येक कर्मको पांचपदार्थ

मिलकरके सिद्ध करतेहैं । वेदांत=उपनिषदें यही कहरहीहैं कि शरीर इंद्रिय प्राण तथा जीवात्मा इस सामग्रीको लेकर परमात्मा ही सम कर्मको करताहै=परमात्मा ही सभका कर्ता है इसी अभिप्रायसे श्रुति परमात्माको सभका अंतर्यामी कहरहीहै-"य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्" "यस्य प्राणः शरीरम्" "यस्य वाक् शरीरम्" "यस्य चक्षुः शरीरम्" "यस्य मनः शरीरम्" "यस्य रेतः शरीरम्" "नान्योऽतोस्ति द्रष्टा नान्योऽतोस्ति श्रोता" इत्यादि ॥ कर्मके हेतु पांच जो हैं अब उनको कहतेहैं-'अधिष्ठानम्' इति ।

अधिष्ठान=शरीर, कर्ता=जीवात्मा, करण=पंचकर्मेंद्रियें और मन, चेष्टा=पंच प्राण, दैव=अंतर्यामी श्रीनारायण, ये पांच कर्मके हेतु हैं ॥

हे पार्थ, पुरुष शरीर वाणी तथा मन इनसे जिन पुण्य किंवा पापोंको करताहै उनके ये पांच हेतु हैं अर्थात् अंतर्यामी भगवान् जीवको कर्मकेलिए ,जीवप्रारब्धानुसार प्रेरणा करताहै तब जीवात्माको कर्मकी इच्छा होतीहै जीवात्मा मनको प्रेरणा करताहै मन कर्मेंद्रियोंको और शरीरको कर्ममें प्रवृत्त करताहै तब कर्म सिद्ध होताहै और विना प्राणके शरीर प्रवृत्त नहीं होसकता इससे प्राणकी भी कर्मसिद्धकेलिए अपेक्षा है । यथा एक बोझको दस पुरुष उठातेहैं तो उसके उठानेके दस ही पुरुष हेतु कहाते हैं एवं इनपांचोंसे मिलकर प्रत्येक कर्म सिद्ध होताहै इससे ये पांचों ही कर्मके हेतु कहाते हैं उनमेंसे करण शरीर और प्राण ये जड हैं जीवकी इच्छानुसार प्रवृत्त होतेहैं इससे कर्मका फल इनको न मिलकर जीवको ही मिलताहै और अंतर्यामी चेतन है किंतु वह तो जीवकी प्रारब्धके अनुसार जीवको प्रेरणा करनेवाला है इससे अंतर्यामीको भी फल नहीं मिलता किंतु चेतन जीवको ही फल मिलताहै यह सिद्धांत लोकदृष्टिसे है । जब ज्ञानी पुरुष यह समझता है कि भगवान् कर्ता कारयिता भोक्ता है तब उसके कर्मोंका बाह्य फल न मिलकर चित्तशुद्धिद्वारा वह कर्म मोक्षका सहकारी (सहायक) होजाताहै ।

यहांपर मधुसूदनसरस्वतीजी लिखतेहैं-"तत्रात्मज्ञानरहितस्य संसारित्वे हेतुः कर्मत्यागासंभवउक्तः--न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः इति" अर्थात् आत्मज्ञानहीन पुरुषके संसारित्वमें (संसारप्राप्तिमें) कर्मत्यागका असंभव (अभाव) ही हेतु है इससे यह प्राप्त हुआ कि यदि अज्ञानी भी पुरुष कर्मका त्याग करदेवे तो मुक्त होजायगा । वाह वाह । मधुसूदनजीने क्या अच्छा वेदांतका सार निकालाहै कि संसारप्राप्तिमें अज्ञान हेतु नहीं किंतु कर्म ही हेतु है इससे स्पष्ट प्रतीत होताहै कि मधुसूदनजी शास्त्रीयमर्यादाको तिलांजलि देकर केवल कर्मके ऊपर द्वेष रखकर

कर्मकी निंदा कररहेहैं क्यों कि अद्वैतवादका भी यही सिद्धांत है कि केवल अज्ञान ही संसारका हेतु है।

और मधुसूदनजी करणशब्दसे यहां पंचज्ञानेंद्रियें पंच कर्मेंद्रियें मन और बुद्धि इन बारह पदार्थोंको ग्रहण करते हैं यह भी अशुद्ध है क्यों कि ज्ञानेंद्रियें ज्ञानकेप्रति ही हेतु हैं कर्मके प्रति हेतु नहीं यदि ज्ञानेंद्रियें भी कर्मके प्रति हेतु होती तो वे ज्ञानेंद्रियें ही क्यों कहातीं हां मन साधारण है। एवं ज्ञानेंद्रियें भी कर्म और ज्ञानकी साधारण करण कहातीं। यदि कहो कि कर्मकेलिए देखने सुननेकी अपेक्षा है इस हेतु ज्ञानेंद्रियें भी कर्मकी हेतु हैं तो घटके लिए आकाशकी भी तो अवश्य अपेक्षा है फिर घटके प्रति आकाशादिको कारण न मानकर अन्यथासिद्ध क्यों मानते हो। यदि कहो कि कर्मकेलिए ज्ञानेंद्रियोंकी आवश्यक अपेक्षा है इससे अन्यथासिद्ध नहीं तो जब पुरुष घटके पास जायगा तब नेत्रसे घटको देखसकेगा सो ज्ञानके प्रति कर्मेंद्रियोंको भी कारणता प्राप्त होगी, इससे करणशब्दसे यहां पांच कर्मेंद्रियें और मन इनीका ग्रहण करना।

और मधुसूदनजी यहां कर्ता इसपदसे अंतःकरणका ग्रहण करतेहैं आप लिखतेहैं—"कर्ता—यथाधिष्ठानमनात्मा भौतिकं मायाकल्पितं स्वाप्नगृहरथादिवत् तथा कर्ताऽहं करोमीत्याद्यभिमानवान् ज्ञानशक्तिप्रधानापंचीकृतपंचमहाभूतकार्योऽहंकरो-न्तःकरणं बुद्धिर्विज्ञानमित्यादिपर्यायशब्दवाच्यः" इति। अर्थात् यथा अधिष्ठान भौतिक शरीर है तथा कर्ता भी भौतिक है वह अहंकार अंतःकरण बुद्धि विज्ञान इत्यादि शब्दोंसे बोलाजाताहै—ये शब्द उसके वाचक हैं यह सब अशुद्ध है। क्यों कि "कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्" "विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च" इत्यादि सूत्र और श्रुतिएं स्पष्ट प्रतिपादन करती हैं कि जीवात्मा ही कर्ता है। और यहां आप कर्ता-शब्दसे बुद्ध्यादिशब्दवाच्य अंतःकरणका ग्रहण करके आगे करणशब्दकी व्याख्यामें भी आप बुद्धिका ग्रहण करतेहैं यह भी भारी परस्परका विरोध है क्यों कि जब कि करणशब्दसे ही ज्ञानेंद्रियें कर्मेंद्रियें मन और बुद्धि इतने पदार्थोंके ग्रहणसे बुद्धिका भी ग्रहण करलिआ तब फिर भगवान्ने "कर्ता" यह शब्द, पृथक् क्यों कहा और करण-शब्दसे ही बुद्धिका ग्रहण करके फिर कर्ताशब्दसे भी बुद्धिका ग्रहण करना यह असंगत तथा व्यर्थ है इसहेतु यहां कर्ताशब्दसे जीवात्माका ही ग्रहण करना चाहिए ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

मू०—तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

दोहा--कर्महेतु ये पांच हैं तोऊ मानत जोय ।
कर्ता केवल जीवको जन अज्ञानी सोय ॥ १६ ॥

टी०--उक्तरीतिसे शरीर जीव करण पंचप्राण तथा अंतर्यामी श्रीहरि ये पांच कर्मके हेतु (साधक) हैं तो भी जो पुरुष केवल जीवात्माको ही कर्ता मानताहै वह मूर्ख है । वस्तुगत्या देखाजाय तो प्रधानकर्ता अंतर्यामी ही है क्यों कि जीवकी कर्तृता भी उसके ही अधीन है कहा भी है--

"परात्तु तच्छ्रुतेः" "अंतः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" "एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषति" "सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च"

" ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥"
" तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥" इत्यादि ॥

"अधिष्ठानं तथा कर्ता" यहां मधुसूदनजी जो कर्ता शब्दसे बुद्धिका ग्रहण करतेहैं सो यदि भगवान्का भी ऐसा ही अभिप्राय होता तो उक्त कर्तृशब्दवाच्य जीवात्मामात्रमें कर्तृत्वनिषेध करनेकेलिए इस श्लोकमें आत्मशब्दका प्रयोग न करते । आत्मशब्द तो जीवात्माका ही वाचक है इसहेतु चतुर्दशश्लोकमें भी कर्ताशब्दसे जीवात्माका ही ग्रहण करना संगत है । यहां पर भी सर्वात्मना जीवके कर्तृत्वका निषेध नहीं किं तु स्वतंत्रकर्तृत्वका ही निषेध है ।

मधुसूदनसरस्वतीने यहांपर केवल शब्दका असंगोदासीन अर्थ करके सर्वात्मना जीवके कर्तृत्वका निषेध किआहै यह अशुद्ध है मधुसूदनजी शब्दव्यवहारमर्यादाकी ओर भी ध्यान नहीं देते । यथा यज्ञदत्त देवदत्त विष्णुदत्त इन तीनोंने यह काय किआहै यह कहकर फिर केवल यज्ञदत्तने यह काम नहीं किआ इसवाक्यमें केवलशब्दका शुद्ध अर्थ नहीं होसकता किं तु एक अर्थ होगा कि एक यज्ञदत्तने नहीं किआ. एवं प्रथम पांच पदार्थोंको कर्मका हेतु कहनेसे इसवाक्यमें केवलशब्दका भी शुद्ध किं वा, असंग' यह अर्थ नहीं होसकता । किं तु 'एक' यही अर्थ होसकताहै कि जो पुरुष एकले जीवात्माको कर्ता मानताहै वह मूर्ख है यही अर्थ प्रकरणसे संगत है मधुसूदनी अर्थ प्रकरणसे विरुद्ध है ॥ १६ ॥

मू०--यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबद्ध्यते ॥ १७ ॥

दोहा—अहंकार अरु कर्तृता गर्व अरु ममता त्याग ।
सम जग मारहु सो नहीं बँधतो हिंसामाग ॥ १७ ॥

टी०—जो पुरुष कृतकर्मका अहंकार नहीं करता और फलको भी नहीं चाहता वह समग्र जगत्को मारदेनेपर भी मारनेवाला नहीं कहाता और वह कर्म उसके लिए बंधन भी नहीं बनता । अर्थात् जो पुरुष अपनेको कर्ता भोक्ता न समझकर श्रीनारायणको ही कर्ता कारयिता तथा फलका स्वामी समझता है वह कर्मबंधमें नहीं फँसता । यहां पर यह भी ध्यान करलेना कि भगवान् अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त करनेकेलिए ज्ञानोपदेश कररहेहैं उसी अर्जुनके प्रति "हत्वापि स इमॉल्लोकान्" ऐसा कहाहै युद्धका प्रकरण है और युद्ध करना तथा युद्धमें शत्रुका वध करना यह क्षत्रियका धर्म है इसहेतु यहांपर "हत्वापि" इस हिंसाका पापरूप हिंसामें तात्पर्य नहीं किं तु धर्मरूप हिंसामें तात्पर्य है । युद्धमें मरना और मारना क्षत्रियका धर्म है इससे वह हिंसा धर्मस्वरूप है उसीकेलिए भगवान्ने कहाहै । "हत्वापि" इसपद्का परमतात्पर्य धर्ममात्रपर है कि जो पुरुष फलेच्छा और अहंकारसे कर्म करताहै वही कर्मबंधनमें फँसताहै जो पुरुष फलेच्छा ममता कर्तृताभिमानको त्यागकर श्रीनारायणको ही कर्ता कारयिता तथा भोक्ता जानकर कर्म करताहै वह कर्मबंधनमें नहीं फँसता प्रत्युत वह कर्म उसके मोक्षमें सहकारी होजाताहै ॥

यहांपर मधुसूदनसरस्वतीजी लिखते हैं " बुद्धिरन्तःकरणं यस्य न लिप्यते नानुशयिनी भवति, इदमहमकार्षमेतत्फलं भोक्ष्य इत्यनुसंधानं कर्तृत्ववासनानिमित्त-लेपोऽनुशयः स च पुण्ये कर्मणि हर्षरूपः पापे पश्चात्तापरूपः ईदृशेन द्विविधेनापि लेपेन बुद्धिर्न युज्यते कर्तृत्वाभिमानबाधात् " इति । अर्थात् जिस पुरुषकी बुद्धि कर्म करके भी हर्ष किं वा शोकको प्राप्त नहीं होती वह कर्मबंधको प्राप्त नहीं होता. यह सभ अशुद्ध है । क्यों कि एक तो हर्ष शोक जड बुद्धिके धर्म नहीं किं तु चेतन जीवके धर्म हैं । और जब कि सरस्वतीजी चतुर्दशश्लोकमें कर्ताशब्दसे बुद्धिका ग्रहण करके बुद्धिको ही कर्ता बतातेहैं तब वह बुद्धि कर्मको करके उसके हर्ष-शोकरूपी फलसे लिप्त भी क्यों न होगी? और बुद्धिके साथ कर्मफल हर्षशोकादिके लेपा-भावकेलिए जो जोर लगातेहैं इसका फल क्या, यदि बुद्धिलिप्त भी होगी तो अद्वैतीको क्या दोष होगा ? यदि बुद्धि लिप्त न भी होगी तो अद्वैतीको लाभ ही क्या । अर्थात् अद्वैतमतमें बुद्धि जडपदार्थ है जीवात्मासे भिन्न है मिथ्यास्वरूप है बंधस्वरूप है मोक्ष फल भी बुद्धिको प्राप्त नहीं होता तब बुद्धिके लिप्त होनेमें भी कोई दोष नहीं और अलिप्त होनेसे कुछ लाभ भी हो नहीं सकता । हमसे पूछो तो हम तो " बुद्धिर्यस्य लिप्यते " इसका ममता और फलेच्छाका त्याग अर्थ करतेहैं । ममता और फले-

च्छाके त्यागके विना जीव कर्मबंधनमें बँधता है इत्यादि पूर्व कह ही चुकेहैं सो हमारे मतसे तो यहांपर तनिक भी अनुपपत्ति नहीं । अद्वैतमतसे देखाजाय तो अद्वैतीकेलिए तो "ब्रह्माहमस्मि" इस आवश्यकवचनका उच्चारण भी अनुपपन्न असंगत है । यथा नैयायिक लोग शास्त्रार्थकी नीति बनाकर उसमें स्वयं बंधकर पराजित होतेहैं एवं अद्वैतीलोग भी नित्यमुक्त कहानेकेलिए स्वयं सिद्धांत बनाकर आप ही उनमें फँसगए न नित्यमुक्त ही बनसके न तो द्वैतवादिओंको जीत ही सके प्रत्युत स्वयं पराजित होबैठे ।

और प्राप्तका ही प्रतिषेध होता है सो "न हन्ति" यह हननप्रतिषेध विना हननक्रियाप्राप्तिके अनुपपन्न है इसहेतु आत्माको कर्ता मानना ही पडेगा । यदि हमको कहो जब जीव कर्ता ही है तब "न हन्ति " यह प्रतिषेध कैसा. तो हम कुछ परमात्माधीन जीवके कर्तृत्वका "न हन्ति " इससे निषेध नहीं करते किं तु जीवको हननकर्ता मान कर भी उसके फलका निषेध मानतेहैं । यथा कोई भृत्य राजाकी बहुतसी सेवा भी करताहै किं तु फलको नहीं चाहता अतएव राजाके सन्मुख भी नहीं होता परोक्षमें ही सब सेवा करताहै तो वह भृत्य सेवाकरनेपर भी फलको प्राप्त नहीं होता पुत्रकलत्रादि अपराध करनेपर भी दंडको प्राप्त नहीं होते एवं जीव भी फलेच्छा ममता कर्तृत्वाभिमानको छोडकर कर्म करनेसे कर्मबंधनमें बँधता नहीं सो हमारे मतमें कुछ भी अनुपपत्ति तथा असंगति नहीं ॥

कहा भी है-" हेयोपादेयविज्ञानमूलं ज्ञातृत्वमात्मनः ।
तत्तत्प्रहाणोपादानचिकीर्षाः कर्तृताश्रयाः ॥ " इति ॥

अर्थात् जीवात्मामें कर्तृताधर्म है अतएव उस कर्तृताको आश्रय लेकर हानोपादानचिकीर्षा ये भी आत्मामें रहतेहैं । सो जीवात्मा कर्ता है ॥ १७ ॥

मू०-ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥
ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

दोहा-ज्ञान ज्ञेय ज्ञाता इह कर्म विधीके अंश ।
करण कर्म कर्ता इह तीन कर्मके अंश ॥ १८ ॥
ज्ञान कर्म कर्ता इन तीन तीन हैं भेद ।
सत्त्वादिकगुणभेदते, सुन हटाय मन खेद ॥ १९ ॥

टी०-हे पार्थ कर्म विधिके ज्ञान ज्ञेय=कर्म और ज्ञाता ये तीन अंश हैं । यथा एक ही यागमें याग कर्म है ज्ञाता उसके जाननेवाला है जिस बुद्धिसे उस कर्मके स्वरूप-

को जानाहै वह ज्ञान है ये तीन अंश हैं । इनमेंसे भी कर्मरूपी अंशके फिर तीन अंश हैं--करण कर्म और कर्ता, अर्थात् कर्मकरनेवाला कर्ता है यागादिक कर्म हैं कर्मसाधनीभूत द्रव्य ही करण कहाताहै ॥

सो कर्मविधिके और कर्मके जो तीन तीन अंश हैं वे मिलकर चार पदार्थ हैं ज्ञान कर्म कर्ता और करण । क्योंकि ज्ञाता और कर्ता यह एक ही पदार्थ है जो जीवात्मा कहाताहै । ज्ञेय और कर्म यह भी एक ही पदार्थ है । इन चारोंमेंसे ज्ञान कर्म और कर्ता ये तीनपदार्थ भी सत्त्वादि गुणभेदसे (सात्त्विक राजस तामस इस भेदसे) तीन तीन प्रकारके कहातेहैं । हे पार्थ मैंने बहुतसे पदार्थोंके सत्त्वादिगुणभेदसे भेद कहेहैं सो इस गुणभेदकृत भेदप्रकरणमें ज्ञान कर्म और कर्ता इनके भी सत्त्वादिगुणभेदसे भेदको सुनले ॥ १८ ॥ १९ ॥

मू०-सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

दोहा--एकरूप सम देहमे अव्यय जीव रहात ।
तिसको जानत जोहि तिस सात्त्विक ज्ञान कहात ॥ २० ॥
जीवोंके जो रूपको भिन भिन जानत तात ।
काय तुल्य जानै तिस राजस ज्ञान कहात ॥ २१ ॥
अल्पफलद कृतिमें जुटे विन कारण, जो अल्प ।
भिन्नरूप लहे जीवको तिसको (तिसज्ञानको) तामस कल्प ॥ २२ ॥

टी०--हे पार्थ जो पुरुष सब भूतोंमें एकस्वरूप अव्यय जीवात्माको जानताहै उसका वह ज्ञान सात्त्विक है अर्थात् ब्रह्माके शरीरसे लेकर कीटके शरीरपर्यंत सभी शरीरोंमें जीवात्मा भिन्न भिन्न होकर भी एकतुल्य रूपवाला है यथा सभी जीव अणु हैं नित्य हैं भगवदंश हैं ज्ञानधर्मी हैं इत्यादि सो समग्र शरीरोंमें जो पुरुष जीवको एक स्वरूप जानताहै । और शरीर परस्परमें भिन्नाकार हैं कोईका स्थूल है कोईका कृश है कोईका पीला है कोईका कालाहै इत्यादि ये शरीरधर्म भी शरीरमें ही रहते हैं

आत्मामें नहीं रहते आत्मा सर्वत्र एकस्वरूप तथा ज्ञानैकनिरूप्य है यह जो जानता है इसपुरुषका यह ज्ञान सात्त्विक कहाताहै ॥ २० ॥

जो पुरुष शरीरभेदसे जीवात्माको भी भिन्नस्वरूपवाला जानताहै यथा देवशरीरोंमें रहनेवाले जीवात्मा उत्कृष्ट हैं पशुशरीरोंमें रहनेवाले जीवात्मा निकृष्ट हैं तथा गौरशरीरमें आत्मा भी गौरहै कृष्णशरीरमें आत्मा भी कृष्ण है इत्यादि जो पुरुष जानताहै उसका यह ज्ञान राजस है ॥ २१ ॥

जो पुरुष विना ही कारणके किसी कर्ममें प्रवृत्त होताहै और अल्पफलदेनेवाले कर्मको (यथा भूतादिपूजनको) वहुफलप्रद जानकर उसीमें लीन होजाताहै और तत्त्व भूतजीवके स्वरूपको नहीं जानता तथा जिसका ज्ञानस्वरूपेण भी अल्प है उसपुरुषका यह ज्ञान तामस ज्ञान कहाता है ॥ २२ ॥

मू०—नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥
अनुबंधक्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

दोहा—द्वेष राग अरु संग विन वर्णाश्रमहित जोय ।
किओ फलेच्छा त्याग अरु कर्म हु सात्त्विक सोय ॥ २३ ॥
फलहित गर्व वढायके अरु ममताको ठान ।
किओ जाय जो कर्म तिस अवसहि राजस मान ॥ २४ ॥
दुख हिंसा सामर्थ्य निज अर्थव्यय न निहार ।
किओ कर्तृतादर्पसों तामस कर्म विचार ॥ २५ ॥

टी०-हे पार्थ जो पुरुष फलेच्छा ममता और कर्तृताभिमान इनको त्याग राग और द्वेषसे रहित होकर स्ववर्णाश्रमके उचित कर्मको करताहै उसका वह कर्म सात्त्विक कर्म कहाताहै ॥ २३ ॥

जो पुरुष फलकेलिए ममता और कर्तृताभिमानसे कर्मको करताहै उसका वह कर्म राजस कहाताहै । बहुलायास शब्दका ममताभिमान अर्थ है यथा यह कर्म मैंने ही किआ ऐसा अभिमान करना सो ऐसा अभिमान करना नहीं चाहिए क्यों कि कर्ता तथा फलका दाता भगवान् श्रीनारायण ही है कहा भी है—

" अज्ञो जन्तुरनीशोयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥ " इति ॥ २४ ॥

जो पुरुष दुःख अर्थव्यय हिंसा तथा निजसामर्थ्य इनको न विचारके मोहसे=श्रीनारायणको कर्ता कारयिता न मानकर अपने कर्तृत्वाभिमानसे कर्मको करताहै उस पुरुषका वह कर्म तामस कर्म कहाताहै ॥

यद्यपि कर्ममें कायक्लेश उठाना तथा समग्र भी निजधनको खर्च करदेना इत्यादि सम स्वरूपेण अच्छा है तथापि ऐसा करके पीछेसे पुरुष उस कर्मकी निंदा करने लगताहै अपने दुःखसे दूसरोंको दुःख देने लगताहै इत्यादि कारणोंसे इसप्रकार किआहुआ कर्म तामस कहाताहै ॥ २५ ॥

मू०–मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यऽसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैकृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

दोहा–दर्प फलेच्छा विन करे धृति उत्साह बनाय ।
सिद्धि असिद्धि तुल्य लह सात्त्विक कर्ता राय ॥ २६ ॥
राग फलेच्छा कृपणता हर्ष शोकयुत तात ।
पर पीडा दे कर्म कर कर्ता राजस भात ॥ २७ ॥
मूरख शठ ठग आलसी कर्म अयोग्य कहात ।
खेदयुक्त नर जोय सो तामस कर्ता तात ॥ २८ ॥

टी०–हे पार्थ जो पुरुष संग=फलेच्छाको ममता और अहंकारको त्यागकर धृति=सहनशीलता तथा उत्साहसे युक्त होकर तथा कर्मकी और कर्मसाधनीभूतद्रव्योंकी सिद्धि और असिद्धिको तुल्य मानकर कर्मको करताहै वह पुरुष सात्त्विक कर्ता कहाताहै ॥ २६ ॥

जो पुरुष शुद्धिरहित और कृपण बनकर और लोगोंको पीडादेकर कर्मसिद्धिसे हर्ष मनानेवाला और कर्मकी असिद्धिसे शोक मनानेवाला यशकेलिए किं वा फलकेलिए कर्म करताहै वह राजस कर्ता है ॥ २७ ॥

जो पुरुष अयुक्त = शास्त्रीयकर्मके अयोग्य हो, प्राकृत = विद्या (ज्ञान) हीन हो, स्तब्ध = जो कर्मके आरंभ करनेमें बहुत देर करता हो, शठ = मारण मोहनमें रुचि रखताहो, नैकृतिक = ठग हो, अलस = कर्मका आरंभकरके भी आलस्यसे प्रवृत्त न हो विषादी = खेदयुक्त, दीर्घसूत्री = दूसरेमें स्वमारणमोहनकी शंका रखनेवाला, ऐसा पुरुष तामस कर्ता कहाताहै ॥ २८ ॥

मू०—बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥ २९ ॥

दोहा—सत्त्वादिक गुणभेदते तीन रूपकी होय ।
धृति अरु बुद्धि सोउ सुन कहौं भेद तिन जोय ॥ २९ ॥

टी०—हे पार्थ सत्त्व रज तम इनतीनगुणोंके भेदसे बुद्धि और धृति भी तीन तीन प्रकारकी कहातीहै अब मैं इनके भेदोंको कहता हूं सो तू सुन ॥ भगवान् प्रथम ज्ञानके भेद कहकर यहां बुद्धिके भेद कहतेहैं इससे पुनरुक्ति नहीं समझनी वहां ज्ञान नाम साक्षात्कारका है । और यहां बुद्धिशब्दसे निश्चय (अध्यवसाय) का ग्रहण करना धृति नाम धैर्यका है यथा कार्य आरंभकिएपर अनेक विघ्न प्राप्त होनेपर भी कार्यको न त्यागकर धारण ही करना अर्थात् समाप्तिको पहुंचाना यही धृतिपदार्थ है॥ २९॥

मू०—प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याऽकार्ये भयाऽभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

दोहा—मोक्षहेतु (ज्ञान) अरु धर्मको कृत्याऽकृत्य भयादि ।
बंध मोक्ष अरु जानती सो मति सात्त्विक आदि ॥ ३० ॥
मोक्ष धर्म भव बंध अरु कृत्याऽकृत्य अधर्म ।
इन न यथारथ जानती सो मति (बुद्धि) राजस वर्म (हे क्षत्रिय) ॥ ३१ ॥
जानत धर्म अधर्मको पेखत सभ विपरीत ।
मोहमयी अरु बुद्धि जो तामस सो अविनीत ॥ ३२ ॥

टी०—जो पुरुष प्रवृत्ति = स्वर्गादिसाधनीभूत धर्मको, निवृत्ति = मोक्षसाधनीभूत धर्म ज्ञान भक्त्यादिको, कार्य तथा अकार्यको, भय = शास्त्रोल्लंघन, अभय = शास्त्रमर्या-

दानिर्वाह, बंध = संसारस्वरूप, मोक्ष = मुक्तिस्वरूप इत्यादिपदार्थोंको यथार्थ रूपसे निश्चय करलेताहै उसकी इस निश्चयको करनेवाली बुद्धि सात्त्विक कहाती है ॥ ३० ॥

जो पुरुष उक्त धर्म अधर्म कार्य अकार्य इत्यादिपदार्थोंको यथार्थ निश्चय नहीं करता किंतु कुछ मनमाना ही निश्चय बनाकर बैठ जाताहै उसपुरुषकी ऐसी अयथार्थ निश्चय करनेवाली बुद्धि राजस कहातीहै ॥ ३१ ॥

जो पुरुष अधर्मको ही धर्म जानताहै अकार्यको ही कार्य जानताहै इसरीतिसे सभी पदार्थोंका विपरीत (उलटा) ही निश्चय करलेताहै उस पुरुषकी इस विपरीत निश्चयको करनेवाली बुद्धि तामस कहातीहै यह सभसे निकृष्ट बुद्धि है ॥ ३२ ॥

मू०—धृत्या यया धारयते मनःप्राणेंद्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥
यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

दोहा—इंद्रियँ मन अरु प्राणको लाय योगमें जासुँ ।
हरिसेवा निर्वाहतो, कह सात्त्विक धृति तासुँ ॥ ३३ ॥
इंद्रियँ मन अरु प्राणको फलहित लावत जासुँ ।
धर्म अर्थ अरु काममें कह धृति राजस तासुँ ॥ ३४ ॥
मन इंद्रियँ अरु प्राणको दुर्मति लावत जासुँ ।
भय मद निद्रा शोकम कह धृति तामस तासुँ ॥ ३५ ॥

टी०—हे पार्थ जो धृति सदा योगके साथ संबंध रखतीहै अतएव मन प्राण और इंद्रियें ये योगमें तथा भगवदुपासनामें जो प्रवृत्त होतेहैं उनको योग (आत्मसाक्षात्कार) और भगवदुपासनामें निर्विघ्न प्रवृत्त करतीहै तथा लगाए रखतीहै वह धृति (धैर्य) सात्त्विक कहातीहै ॥ ३३ ॥

जो पुरुष अपनी धृतिसे मन इंद्रियें और प्राण इनको भोगकेलिए धर्म अर्थ तथा काममें लगाताहै तथा निर्विघ्न लगाए रखताहै उस पुरुषकी यह धृति राजस कहातीहै॥ ३४॥

जो पुरुष अपनी धृतिसे मन इंद्रियें और प्राणको निद्रा भय शोक विषाद मद इत्यादि असेव्य विषयोंमें लगोंको रोकता नहीं तथा निद्रादिके सेवनको अल्प नहीं करता उस पुरुषकी धृति तामसी है ॥ ३५ ॥

सू०-सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥

दोहा-सत्त्वादिक गुणभेदते सुखहू त्रिविध कहाय ।
दुःख कटै जासों, जन रमत जहां मन लाय ॥ ३६ ॥

टी०-हे पार्थ सत्त्व रज तम इन गुणोंके भेदसे सुखभी तीन प्रकारका है और सुख ऐसा एक पदार्थ है जिससे दुःख निवृत्त होजाताहै। और जीव भी चिरकालाभ्याससे अर्थात् सुखसे दुःखनिवृत्तिके अनुभवाभ्याससे उस सुखमें रमण करताहै। सो उस सुखके भी अब मुझसे भेद सुन ॥ ३६ ॥

सू०-यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्राऽऽलस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

दोहा-प्रथम कटू अरु अंतमें स्वादु सधासम होय ।
प्रकट्यो आतमज्ञानते सुन सात्त्विक सुख सोय ॥ ३७ ॥
प्रथम सधासम, अंतमें विषसम कटु बनजाय ।
विषयभोगसे जन्म जिस सुख राजस सु (सो) कहाय ॥ ३८ ॥
प्रथम अंत में और जो मोह बढावत तात ।
निद्राऽऽलस्य प्रमादकृत सुख तामस सु (सो) कहात ॥ ३९ ॥

टी०-हे पार्थ आत्मसाक्षात्कारका तथा परमात्मसाक्षात्कारका जो सुख है वह आदिमें योगोपक्रम समयमें बहुतश्रमसे साध्य होनेके कारण विष जैसा दुःख रूप ही प्रतीत होताहै जब वह सिद्ध होजाताहै तो अमृत जैसा स्वादु प्रतीत होताहै सो वही सुख सात्त्विक कहाताहै अर्थात् सांसारिक कोई भी सुख सात्त्विक नहीं कहा सकता ॥ ३७ ॥

और विषयभोगसे होनेवाला सांसारिक सुख आदिमें तो अमृतजैसा प्रिय होताहै किंतु विषय विनाशी है इससे वह सुख शीघ्र ही नष्ट होजाताहै इससे अंतमें विष जैसा दुःखद बन जाताहै इसहेतु वह सांसारिकसुख राजस कहाताहै ॥ ३८ ॥

और जो सुख आदिमें तथा अनुबंधे=अंतमें केवल अज्ञानको ही बढाताहै तथा निद्रा आलस्य प्रमाद इत्यादिसे होताहै वह सुख तामस कहाताहै यथा निद्रासुख आलस्यसुख इत्यादि ॥ ३९ ॥

मू०–न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥

दोहा–सासारिक ब्रह्माडमें जीव सखे नहिं सोय ।
प्रकृतिके इन गुणनसों जो हि अछूतो होय ॥ ४० ॥

टी०–हे पार्थ इनतीनों लोकोंमें (ब्रह्माण्डमें) ऐसा कोई पदार्थ तथा कोई जीव नहीं जो प्रकृतिके सत्त्व रज तम इन गुणोंसे मुक्त=रहित हो । अर्थात् सभी इन तीन गुणोंसे संबद्ध हैं यद्यपि जीवके स्वरूपमें तो इन गुणोंका प्रवेश नहीं तथापि मन अहंकार बुद्धि शरीर इत्यादिके द्वारा जीवके साथ भी इन गुणोंका संबंध है। हां जो भाग्यवान् पुरुष श्रीवैकुंठमें पहुंच जाते हैं उनका ही इन गुणोंसे संबंध छूटताहै ॥ ४० ॥

मू०–ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

दोहा–ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यके तथा शूद्रके तात ।
कर्मजन्यगुणभेदते भिन भिन कर्म कहात ॥ ४१ ॥

टी०–"त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः" इत्यादि श्रुतिओंने जो मोक्षसाधनत्वेन त्याग कहाहै वही संन्यास पदार्थ है । वह त्याग कर्मका स्वरूपेण त्याग करनेसे नहीं सिद्ध होसकता किं तु स्ववर्णाश्रमोचित कर्म करते रहना और फलेच्छा ममता कर्तृताभिमान इनको त्यागनेसे ही वह त्याग सिद्ध होताहै यही शास्त्रका सिद्धांत है यही भगवान् भी कहचुके हैं । सो स्ववर्णाश्रमोचितकर्मको कभी नहीं छोडना इसकेलिए अब भगवान् ब्राह्मणादि चारों वर्णोंके कर्म तथा वृत्तिको कहकेनेलिए कहतेहैं–ब्राह्मणेति ।

हे पार्थ ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र इनके कर्म, स्वभाव जो प्राचीनकर्म हैं उस करके संबंध रखनेवाले जो सत्त्वादिगुण हैं उन सत्त्वादिगुणोंसे भिन्न भिन्न हैं, ऐसे ही भेदसे सभके कर्मोंको शास्त्रने कहाहै । अर्थात् सत्त्वादिगुणभेदसे ब्राह्मणादिकोंके कर्म भिन्न भिन्न हैं ।

यथा ब्राह्मण सत्त्वगुणप्रधान है इससे ब्राह्मणके कर्म भी शमादिक सत्त्वप्रधान हैं । क्षत्रिय रजोगुणप्रधान है अतएव क्षत्रियके कर्म भी शौर्यादिक रजोगुणप्रधान है । वैश्य

रजोगुणतमोगुण उभयप्रधान होताहै इससे वैश्यके कर्म भी व्यापारादिक रजोगुणतमोगुण उभयप्रधान होतेहैं। शूद्र तमोगुणप्रधान है इसलिए शूद्रके कर्म भी सेवादिक तमोगुणप्रधान होतेहैं। कहा भी है–"तमः शूद्रे रजः क्षत्रे ब्राह्मणे सत्त्वमुत्तमम्" इत्यादि। भगवान् चतुर्थाध्यायमें भी कहचुकेहैं–"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः" इति ॥ ४१ ॥

मू०–शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

दोहा–क्षमा शौच शम दम तप मन वाणी सम होय ॥
आस्तिकताऽऽत्मविवेक अरु ब्राह्मण कर्महु सोय ॥ ४२ ॥

टी०–शम=बाह्येंद्रियनिग्रह, दम=अंतःकरणनिग्रह, तप=भोगपरित्याग, शौच=शुद्धि, क्षांति=क्षमा, आर्जव=दंभाभाव बाहर भीतर सम व्यवहार (भगवदुपासनादि) एकसा रखना, ज्ञान=जीवतत्त्वको तथा परमात्मतत्त्वको जानना, विज्ञान=जीवतत्त्वके तथा परमात्मतत्त्वके भेदको और असाधारण धर्मोंको जानना, आस्तिकता=वेदोक्त विषयको सत्य जानना यथा–भगवान् श्रीनारायण सर्वेश्वर पुरुषोत्तम हैं समस्तानंतकल्याणगुणसागर हैं उसमें दोषकी गंधका लेश भी नहीं वही वेदवेदांतका प्रतिपाद्य है वही समग्र ब्रह्मांडका कारण है समग्र कर्म उसका पूजनरूप है वही समग्रकर्मोंका अंतर्यामीरूपसे उद्देश्य है वही कर्मोंसे आराधित किआहुआ धर्म अर्थ काम मोक्षरूपी फलोंको देनेवाला है, इत्यादि जानना। कहा भी है–"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः"

"अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
मयि सर्वमिदं प्रोत सूत्रे मणिगणा इव ॥"
"भोक्तारं यज्ञतपसां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।"
"मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनञ्जय ॥"
"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः ॥"
"यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्"।
"आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा ॥"
"वेदांतेषु च वेदेषु विष्णुनामा स गीयते ॥" इत्यादि ॥

ये सभ शमादिक ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं। यद्यपि ज्ञानविज्ञानकेविना शमादिक चारों वर्णोंके धर्म हैं ज्ञानविज्ञानमें एक शूद्रका अधिकार नहीं तथापि ब्राह्मण सत्त्वगुण प्रधान है इससे ये धर्म ब्राह्मणके स्वाभाविक हैं और जातिओंमें श्रमसे सिद्ध होतेहैं और ब्राह्मणको इनका अवश्य ही अधिककरके अनुष्ठान करनाचाहिए इस हेतु ये धर्म विसेषकर ब्राह्मणके कहेहैं । इनके ि र नित्यनैमित्तिककर्म और भगवदुपासना ये भी ब्राह्मणके धर्म हैं किं तु ये धर्म सभीकोलिए अवश्य समानरूपसे ही अनुष्ठेय हैं इससे यहांपर नहीं कहे ।'अन्यत्र भी कहाहै—

" अध्ययनमध्यापनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥"
" क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिंद्रियसंयमः ।
अहिंसा गुरुशुश्रूषा तीर्थानुसरणं दया ॥ " इति विष्णुः ।
" सत्यं दमस्तपः शौचं सन्तोषो ह्रीः क्षमार्जवम् ।
ज्ञानं शमो दया ध्यानमेष धर्मः सनातनः ॥" इति महाभारते ।
" शौचं दानं तपः श्रद्धा गुरुसेवा क्षमा दया ।
विज्ञानं विनयः सत्यमिति धर्मसमुच्चयः ॥" इति देवलः ।
" अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥"इति याज्ञवल्क्यः ।
" आर्जवं लोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम् ।
अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते ॥"इति विष्णुः ।
दया क्षमाऽनसूया च शौचाऽनायासमङ्गलम् ।
अकार्पण्यमस्पृहत्वं सर्वसाधारणानि च ॥"इति बृहस्पतिः ।

इनसभके लक्षण भी स्मृतिओंमें कहेहैं यथा—

" परे वा बन्धुवर्गे वा मित्रे द्वेष्टरि वा सदा ।
आपन्ने रक्षितव्यं तु दयैषा परिकीर्तिता ॥
बाह्ये चाध्यात्मिके चैव दुःखे चोत्पादिते क्वचित् ।
न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्तिता ॥
न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि ।
नान्यदोषेषु रमते साऽनसूया प्रकीर्तिता ॥
अभक्ष्यपरिहारश्च संसर्गश्चाप्यनिर्गुणैः ।
स्वधर्मे च व्यवस्थानं शौचमेतत्प्रकीर्तितम् ॥

शरीरं पीडयते येन सुशुभेनापि कर्मणा ।
अत्यन्तं तन्न कर्तव्यमनायासः स उच्यते ॥
प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तविसर्जनम् ।
एतद्धि मङ्गलं प्रोक्तं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥
स्तोकादपि प्रदातव्यमदीनेनान्तरात्मना ।
अहन्यहनि यत्किञ्चिदकार्पण्यं हि तत्स्मृतम् ॥
यथोत्पन्नेन संतोषः कर्तव्यो ह्यर्थवस्तुना ।
परस्याऽचिन्तयित्वार्थं साऽस्पृहा परिकीर्तिता ॥"
"सत्यं भूतहितं प्रोक्तं मनसो दमनं दमः ।
तपःस्वधर्मवर्तित्वं शौचं सङ्करवर्जनम् ॥
सन्तोषो विषयत्यागो ह्रीरकार्यनिवर्तनम् ।
क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुत्वमार्जवं समचित्तता ॥
ज्ञानं तत्त्वार्थसंबोधः शमश्चित्तप्रशान्तता ।
दया भूतहितैषित्वं ध्यानं निर्विषयं मनः ॥"
"व्रतोपवासनियमैः शरीरोत्तापनं तपः ।
प्रत्ययो धर्मकार्येषु तथा श्रद्धेत्युदाहृता ॥
नास्ति ह्यऽश्रद्दधानस्य कर्मकृत्यप्रयोजनम् ॥
यत्पुनर्वैदिकीनां च लौकिकीनां च सर्वशः ।
धारणं सर्वविद्यानां विज्ञानमिति कीर्त्यते ।
विनयं द्विविधं प्राहुः शश्वदप्रशमाविति ॥" इत्यादि ॥ ४२ ॥

मू०-शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

दोहा-शौर्य तेज धृति निपुणता रणदृढता अरु तात ।
जगशासन अरु दान इह क्षत्रियकर्म कहात ॥ ४३ ॥

टी०-शूरता, तेज, धृति=आरब्धकार्यका अवश्य निर्वाह, दाक्ष्य=सभकार्यमें चतुर तथा समर्थ होना, युद्धमें पीठ न दिखानी, दान, ईश्वरभाव=लोकका शासन करना, ये क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं । क्यों कि क्षत्रिय रजोगुणप्रधान होताहै इससे क्षत्रियके ये धर्म विशेषकर हैं इन धर्मोंका क्षत्रियको अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए । कहा भी है-

प्रधानं क्षत्रिये कर्म प्रजानां परिपालनम् ।"
" प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिं च क्षत्रियस्य समादिशत् " इति ॥

इनके सिवाय नित्यनैमित्तिककर्म और भगवदुपासना ये सभ भी क्षत्रियकोलिए आवश्यक ही हैं। शौर्यादिक तो क्षत्रियके स्वाभाविक हैं इससे यहां उनको कहाहै और धर्मोंको नहीं कहा ॥ ४३ ॥

मू०-कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

दोहा-पशुपालन व्यापार कृषि वैश्यजातिके कर्म ।
ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यकी सेवा शूद्र सुधर्म ॥ ४४ ॥

टी०-कृषि = खेती करना, व्यापार=क्रय विक्रय (खरीद फरोख्त) गोरक्षा=पशुपालन व्यापार ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं क्यों कि वैश्यमे रजोगुण और तमोगुण दोनों ही प्रधान होतेहैं । शमदमादिकका भी वैश्यको अवश्य अनुष्ठान करनाही चाहिए किं तु वैश्यमें सत्त्वगुण अल्प होताहै इसस शमादिक वैश्यके स्वाभाविक कर्म नहीं हैं । नित्यनैमित्तिक कर्म और भगवदुपासना ये भी वैश्यको करने ही चाहिए कहाहै-

" पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥"
" कुसीदकृषिवाणिज्यं पाशुपाल्यं विशः स्मृतम् ॥" इत्यादि ।

और ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इनकी सेवा करना यही शूद्रका स्वाभाविक कर्म है । क्यों कि-शूद्रमें तमोगुण ही प्रधान है । कहा भी है-

" शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा, तयाऽजीवन् वणिग्भवेत् ।
शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेद् द्विजातिहितमाचरन् ॥"
" एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ " इत्यादि ॥ ४४ ॥

मू०-स्वेस्वे कर्मण्यभिरतःसंसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

दोहा-निजवर्णाश्रमकर्मते परमधाम नर पाय ।
सो सुन जिसविध कर्म कर परमधामको जाय ॥ ४५ ॥

टी०-हे पार्थ स्ववर्णाश्रमोचित कर्मको ही करनेसे पुरुष क्रमेण मोक्षको प्राप्त होताहै । स्ववर्णाश्रमोचित कर्मसे जिसप्रकार पुरुष मोक्षको प्राप्त होताहै अब तू उसप्रकार (रीति) को मुझसे सुन ॥ कहा भी है-

" धर्मः श्रेयः समुद्दिष्टं श्रेयोऽभ्युदयलक्षणम् ।
स तु पञ्चविधः प्रोक्तो वेदमूलः सनातनः ॥
वर्णधर्मः स्मृतस्त्वेक आश्रमाणामतःपरम् ।
वर्णाश्रमस्तृतीयस्तु गौणो नैमित्तिकस्तथा ॥
वर्णत्वमेवमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते ।
वर्णधर्मः स उक्तस्तु यथोपनयनं नृप ॥
यस्त्वाश्रमं समाश्रित्य अधिकारः प्रवर्तते ।
स खल्वाश्रमधर्मः स्याद्भिक्षादण्डादिको यथा ॥
वर्णत्वमाश्रमत्वं च याधिकृत्य प्रवर्तते ।
स वर्णाश्रमधर्मस्तु मौञ्ज्याद्या मेखला यथा ॥
यो गुणेन प्रवर्तते गुणधर्मः स उच्यते ।
यथा मूर्धाभिषिक्तस्य प्रजानां परिपालनम् ॥
निमित्तमेवमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते ।
नैमित्तिकः स विज्ञेयः प्रायश्चित्तविधिर्यथा ॥ " इति विष्णुपुराणे ।

" आनृशंस्यमहिंसा चाऽप्रमादः संविभागिता ।
श्राद्धकर्मातिथेयं च सत्यमक्रोध एव च ॥
स्वेषु दारेषु सन्तोषः शौचं नित्यानसूयता ।
आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्मः साधारणो नृप ॥ " इति महाभारते ।

" फलं विनाप्यनुष्ठानं नित्यानामिष्यते स्फुटम् ।
काम्यानां स्वफलार्थं तु दोषघातार्थमेव तु ॥
नैमित्तिकानां करणे त्रिविधं कर्मणां फलम् ।
क्षयं केचिदुपात्तस्य दुरितस्य प्रचक्षते ॥
अनुत्पत्तिं तथा चान्ये प्रत्यवायस्य मन्वते ।
नित्यां क्रियां तथा चान्य आनुषङ्गिकफलं विदुः ॥ "

इति भविष्यपुराणे ।

इत्यादि स्मृतिओंमें बहुत कुछ कहाहै । अर्थ स्पष्ट ही है ॥ ४५ ॥

सू०–यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

दोहा—जासों प्रगटत भूत सब सबमें जो हि रहात।
तिस पूजन कर कर्म ते परमधाम नर पात ॥ ४६ ॥

टी०—जिस श्रीनारायणसे ये समग्र भूत प्रकटते हैं और जो ही श्रीनारायण सर्वत्र व्याप्त है उसी श्रीनारायणकी स्ववर्णाश्रमोचितकर्मोंसे आराधना करके पुरुष परमधामको पाताहै कहा भी है "मोक्षमिच्छेज्जनार्दनात्"। श्रुति भी कहती है—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म" "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते" इत्यादि। भगवान् स्वयं भी कहचुके हैं—

"अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।
मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनञ्जय ॥
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ॥
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ॥" इत्यादि ॥
देवेन्द्रस्त्रिभुवनमर्थमेकपिंगः सर्वोर्व्वीं त्रिभुवनगां च कार्तवीर्यः।
वैदेहः परमपदं प्रसाद्य विष्णुं संप्राप्तः, सकलफलप्रदो हि विष्णुः ॥"

अर्थात् भगवदाराधनासे ही इंद्रने इंद्रपद पाया कुवेरने अक्षय धन पाया सहस्रवाहुने समग्र पृथ्वी पाई और जनकमहाराजने मुक्ति पाई॥ सो भगवदाराधनासे ही मोक्ष प्राप्त होसकताहै ॥ ४६ ॥

मू०—श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

दोहा—पूरण हू परधर्मते विगुण (अपूर्ण) हु शुभ निजधर्म।
भवबंधन तिस टूटतो जो साधत निजकर्म ॥ ४७ ॥

टी०—स्ववर्णाश्रमोचित कर्म फलेच्छा ममता तथा कर्तृताभिमानत्यागकर भगवदुपासना जान भगवत्कृपाप्राप्तिकेलिए किआहुआ यदि विगुण=कुछ अंगोंसे हीन (अपूर्ण) भी हो तो भी वह अच्छेप्रकारसे संपूर्ण किएहुए भी परधर्मसे श्रेष्ठ होताहै परधर्म यहां ज्ञानयोग जानना क्यों कि ज्ञानयोग बडा सूक्ष्म है उसमें तनिक भी चूकपडजानेसे वह सब नष्ट होजाताहै और कर्मयोग वैसा सूक्ष्म नहीं इससे करनेमें सहज है। और फलेच्छादिके त्याग करदेनेके कारण कर्ममें यदि त्रुटि भी रहजाय तो भी कुछ हानि नहीं होती। भगवान् कह भी चुके हैं—

" नेहाभिक्रमनाशोस्ति प्रत्यवायो न विद्यते " इति ।

सो स्वभावनियत = स्ववर्णाश्रमोचित कर्म करनेसे पुरुष संसाररूपी पापको प्राप्त नहीं होता अर्थात् संसारबंधनसे मुक्त होजाताह । श्रुति भी कहती है-" अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते " इति । मोक्षके दो अंश हैं एक संसारबंधनिवृत्ति द्वितीय श्रीवैकुंठप्राप्ति सो कर्मयोगसे तो संसारबंध निवृत्त होताहै और भगवदुपासनारूप भक्तिसे श्रीवैकुंठ प्राप्त होताहै ॥ ४७ ॥

मू०–सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवाऽऽवृताः॥ ४८ ॥

दोहा--नित्यकर्मको ना तजौ यद्यपि दुख बहु होय ।
क्रियामात्रमें दुख यथा,धूम अग्निसँग दोय ॥ ४८ ॥

टी०–हे पार्थ यद्यपि कर्मयोगमें भी कुछ दुःख है ही तो भी नित्यकर्मयोगका त्याग उचित नहीं क्यों कि कर्मयोगका त्यागकरके भी वह पुरुष कुछ न कुछ तो कर्म ही किं वा ज्ञानयोग ही जो करेगा ही कुछ करेगा उस सभमें दुःख मिला ही है यथा धूम अग्निके संग लगा ही रहताहै । इस हेतु दुःखके भयसे कर्मयोगका त्याग करना उचित नहीं ॥ ४८ ॥

मू०–असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

दोहा–फलइच्छा निजकर्तृता गर्व त्याग मन जीत ।
कर्म करत नर ध्यानकी निष्ठा पात सुरीत ॥ ४९ ॥

टी०--हे पार्थ असक्तबुद्धि = फलेच्छा तथा ममताको त्यागकर मनको रोककर, विगतस्पृहः = स्वकर्तृत्वाभिमानको त्याग भगवान्को ही कर्ता कारयिता समझकर पुरुष कर्म करताहुआ ही संन्याससे = उक्त कर्मयोगसे नैष्कर्म्यसिद्धि = ध्याननिष्ठको प्राप्त होजाताहै । अर्थात् जीवात्मसाक्षात्कार सिद्ध होजाताहै ।

यहांपर संन्यासशब्द कर्मयोगका ही वाचक है क्यों कि भगवान् प्रथम ही कहचुके हैं कि संन्यास और त्याग एक ही पदार्थ हैं और त्याग नाम कर्मके स्वरूपेण त्यागका नहीं किं तु कर्मकरते रहकर उसके फलेच्छा ममता तथा कर्तृत्वाभिमान इनके त्यागका ही नाम त्याग है वही संन्यासपदार्थ है । और फलेच्छादि त्यागपूर्वक किएहुए कर्मका नाम कर्मयोग है सो त्याग संन्यास कर्मयोग ये तीनों एक ही पदार्थ हैं इससे यहां संन्यासशब्दसे कर्मयोगका ही ग्रहण करना ।

और प्रकरण भी यहां कर्मयोगका ही है। और नैष्कर्म्यसिद्धिशब्दसे ध्याननिष्ठाका ही ग्रहण करना क्यों कि फलेच्छादित्यागपूर्वक कर्म करनेसे वह कर्म पुरुषके साथ लिप्त नहीं होता इसहेतु वह पुरुष कर्म करते रहनेपर भी निष्कर्म ही कहाताहै, निष्कर्म पुरुषकास्वरूप ही नैष्कर्म्य कहाताहै उसकी सिद्धिकेलिए तो आत्मसाक्षात्कार (ध्याननिष्ठा) ही कहना पडेगा क्यों कि कर्मयोगसे भवगत्प्राप्तिके बीच तो आत्मसाक्षात्कारका व्यवधान है सो कर्मयोगका साक्षात्फल आत्मसाक्षात्कार ही है इससे नैष्कर्म्यसिद्धिशब्दसे ध्याननिष्ठा (आत्मसाक्षात्कार) का ही ग्रहण करना उचित है । वह ध्याननिष्ठा ज्ञानयोगका भी फलस्वरूप है क्यों कि ज्ञानयोगका भी आत्मसाक्षात्कार ही फलहै। इसहेतु कर्मयोग बहुतश्रेष्ठ है क्यों कि ज्ञानयोगका भी जो आत्मसाक्षात्कार फल है वह कर्मयोगसे भी इसरीतिसे प्राप्त होसकताहै और ज्ञानयोगका मार्ग बहुत सूक्ष्म है उसमे प्रमादका बडा भय है कर्मयोगमें वह भी भय नहीं इससे कर्मयोग सर्वोत्तम है।

यहांपर मधुसूदनसरस्वतीजीने संन्यासशब्दका आजकलहके संन्यासिओंवाला शिखायज्ञोपवीतत्याग ही अर्थ कियाहै यह सम शास्त्रसे तथा यहांके प्रकरणसे विरुद्ध है क्यों कि एक तो भगवान् स्वयं कहचुके हैं कि संन्यास और त्याग एकही पदार्थ होनेसे संन्यास नाम कर्मफलेच्छादित्यागका है कर्मत्यागका किं वा शिखायज्ञोपवीतत्यागका नहीं। और यहां प्रकरण भी कर्मयोगका है क्यों कि " सहजं कर्म " यहां कर्मयोगको स्पष्ट कहकर आगे " सर्वकर्माण्यपि " " चेतसा सर्वकर्माणि " यहांपर भी कर्मयोगको ही भगवान् कहेहैं सो इनवाक्योंके बीचके वाक्योंको भी कर्मयोगप्रतिपादक ही होना चाहिए इन हेतुओंसे यहां संन्यासशब्द कर्मयोगका ही बोधक है।

और संन्यासीकेलिए भी शिखायज्ञोपवीतादिका त्याग करना निषिद्ध है कहा भी है—

" यस्त्वेकदण्डमालम्ब्य धर्मं ब्राह्मं परित्यजेत् ।
विकर्मस्थो भवेद्द्विजः स याति नरकं ध्रुवम् ॥
शिखायज्ञोपवीतादि ब्रह्मकर्म यतिस्त्यजेत् ।
स जीवन्नेव चाण्डालो मृतो वै श्वाभिजायते ॥ " इति हारीतस्मृतौ ।

और यह भी सोचना चाहिए कि गृहस्थाश्रमको छोडकर सन्यासग्रहण करनेका यही प्रयोजन है जो निर्विघ्न भगवदुपासना निरंतर हो उसकेलिए शिखायज्ञोपवीतादिके परित्यागकी क्या अपेक्षा है ? । यदि कहो कि शिखायज्ञोपवीतादिका भी कुछ झंझट है ही उसे निबेडदेना ही उचित है तब तो नाक कान तथा खान पानका भी कुछ

झंझट है ही सो नाक कान भी काट डालने चाहिए खानपानका भी त्याग करदेना ही चाहिए । बडे शोक की वाता है कि मधुसूदनजी प्रभृति अद्वैतीलोग प्रपंच मात्रको जब मिथ्या ही मानते हैं तब मिथ्यास्वरूप शिखायज्ञोपवीतादिके परित्यागकेलिए यत्न करना ही व्यर्थ है । यदि कहो कि ये सभवातें व्यवहारावस्थाकी हैं तो व्यवहारतो गृहस्थाश्रममें रहगया संन्यासाश्रम तो व्यवहारकेलिए नहीं जो वहां भी व्यवहारावस्था बताई जाय । यदि कहो कि संन्यासाश्रममें भी व्यवहारवस्था लगी ही है तो आप गृहस्थाश्रमका परित्याग ही किसलिए करतेहैं जब संन्यासमें भी व्यवहारास्था लगी है तो गृहस्थाश्रमापेक्षा संन्यासाश्रममें विशेष ही क्या हुआ ? इत्यादि अद्वैतमतके संन्यासमें भी बहुतसे दोष हैं ॥ मंडनमिश्रने शंकरस्वामीको साफ ही कहदिआथा कि-

" कन्थां वहसि दुर्बुधे गर्दभेनापि दुर्वहाम् ।
शिखायज्ञोपवीताभ्यां कस्ते भारो भविष्यति ? ॥" इति ॥ ४९ ॥

मू०-सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय, निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

दोहा-ध्यानसिद्धिको पाय नर जिसविध जीव लभात ।
सो सुन अब सक्षेपते ज्ञानहि जीव लखात ॥ ५० ॥

टी०-हे पार्थ उक्त ध्यानसिद्धिकी प्राप्तिसे जिसप्रकार ब्रह्म=जीवात्माका साक्षात्कार होताहै उस प्रकार (रीति) को अब तू संक्षेपसे सुन क्यों कि जीवात्मासाक्षात्कार ही ज्ञानयोगकी पर निष्ठा=सीमा है ।

यहांपर ब्रह्मशब्द जीवात्माका ही बोधक है परमात्माका बोधक नहीं क्योंकि परमात्मसाक्षात्कारको तो भगवान् आगे " भक्त्या मामभिजानाति " यहांपर कहेंगे । पीछे भी कईस्थानपर भगवान् जीवात्माकेलिए ब्रह्मशब्दका प्रयोगकरचुकेहैं । और ब्रह्म=परब्रह्म जीवात्माका भी आत्मस्वरूपहै और जीवात्मा उसका शरीरभूत है इसहेतु भी जीवात्माको ब्रह्मशब्दसे कहना दोष नहीं सो यहां ब्रह्मशब्दसे जीवात्माका ही ग्रहण करना ॥ ५०

मू०-बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयांत्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

दोहा—शुद्धबुद्धिसों युक्त अरु धृतिसों मनको जीत ।
द्वेष संग अरु बाह्यके त्याग विषयकी प्रीत ॥ ५१ ॥
रहै अकेलो, खाय मित, यत—मन वाणी काय ।
ध्यान लाय नित जीवको अरु वैराग्य बनाय ॥ ५२ ॥
अहकार बल दर्प अरु ममता क्रोध हु काम ।
त्याग इनै, निज रूपको दर्शन पात अकाम ॥ ५३ ॥

टी०—हे पार्थ जो पुरुष अपनी शुद्ध बुद्धिसे आत्मविवेक करताहै, निजधैर्यसे मनको बाह्य विषयोंसे रोककर आत्मामें लगाताहै, शब्दस्पर्शरूपादिविषयोंको त्यागताहै, रागद्वेषों-से निवृत्त होताहै, एकांतमें रहताहै, भोजन भी अल्प करताहै, चित्त वाणी शरीर इनका निग्रह (रुकावट) करताहै, सदा नित्यंप्रति अपने जीवात्माका ध्यान लगाताहै, विषयवैराग्यको संपादन करताहै, अहंकार=अनात्माशरीरादिमें आत्माभिमान. बल= अहंकारवर्धक वासनाका बल, दर्प, काम, क्रोध, परिग्रह=पुत्रकलत्रमित्रादिकी ममता, इनको त्याग देता है, अतएव ममतारहित होकर शांत होताहै अर्थात् आत्मानुभवज-न्यसुखपरायण होताहै; वह पुरुष उक्त समग्र बंधसे मुक्त होकर ब्रह्मभावको=जीवात्म-साक्षात्कारको प्राप्त होताहै । अर्थात् ऐसे पुरुषको अपने जीवात्माका यथार्थ दर्शन प्राप्त होताहै ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

मू०—ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

दोहा—पाय आपनो दर्श निज, सुध मन मोमें लाग ।
पेख समहि सम, लहत है मम परभक्ति अराग ॥ ५४ ॥

टी०—हे पार्थ जो पुरुष उक्तरीतिसे ब्रह्मभावको प्राप्त होताहै अर्थात् अपने जीवा-त्माके साक्षात्कारको संपादन करताहै वह प्रसन्न (क्लेशादिरहित) मन होकर न किसी पदार्थका शोक ही करताहै न किसी पदार्थकी इच्छा ही करताहै किं तु उपेक्षाभावसे रहताहै अतएव सभको समान दृष्टिसे देखताहै अर्थात् बाह्यविषयोंको तुच्छ समझताहै वह पुरुष मेरी परभक्तिको प्राप्त होताहै अर्थात् ऐसे पुरुषको मेरी परभक्ति प्राप्त होताहै ॥

यहांपर मधुसूदनजी "ब्रह्मभूतः" इसशब्दका "अहं ब्रह्मास्मीति दृढनिश्चयवान्" ऐसा अर्थ लिखतेहैं यह अशुद्ध है क्यों कि जीवात्मा और परमात्मा भिन्न भिन्न हैं यह प्रथम ही अच्छीतरह प्रतिपादन करदिआहै । और अभीतक प्रकरण भी जीवात्मसाक्षात्कारका है । और स्वयं भी मधुसूदनजी पूर्वश्लोकपर "ब्रह्मभूयाय कल्पते" इसका "ब्रह्मभूयाय =ब्रह्मसाक्षात्काराय कल्पते=समर्थो भवति" ऐसा अर्थ लिखचुकेहैं अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कारके समर्थ=योग्य वनताहै ऐसा उक्त वाक्यका अर्थ लिखा आगे अभीतक भगवान्ने किसी विषयके भी लिए कोई भी साधन नहीं कहा फिर आगेके इस श्लोकके प्रथम ही" "ब्रह्मभूतः" इसपदका 'अहं ब्रह्मास्मीति दृढनिश्चयवाला' ऐसा अर्थ करना सर्वथा असंगत है तथा दूसरेकी आखोंमें धूल झोंकना ही कहा सकताहै । और आगे इसी श्लोकमें भगवान् कहतेहैं "मद्भक्तिं लभते पराम्" इति । जिसपुरुषको 'अहं ब्रह्म' यह निश्चय होगयाहै उसको भगवद्भक्ति ही क्यों कर होगी? क्यों कि आपके मतमें तो भगवान् अपनेसे पृथक् कुछ पदार्थ ही नहीं । और 'अहं ब्रह्म' यही ज्ञान आपके मतमें सबसे चढकर सीमा है फिर इसज्ञानसे भी आगे भक्तिको कहना भी असंगत है इनहेतुओंसे पूर्वोक्त ही अर्थ यथार्थ है मधुसूदनी अर्थ सर्वथा अशुद्ध है ॥ यदि अद्वैतसंप्रदायानुकूल भगवान्कीभी तात्पर्य होता तो "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति" इससे आगे भगवान् एक भी शब्द न कहते तथा यहां ही गीतोपदेशको समाप्त करदेते भगवत्ने तो आगे भी वहुत कुछ कहाहै इनहेतुओंसे पायाजाताहै कि जो कुछ श्रीरामानुजस्वामीने गीताके अर्थ लिखेहैं वे ही यथार्थ (सत्य) अर्थ हैं ॥ ५४ ॥

मू०-भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

दोहा-जानसकत मम रूपको भक्ति हि सों इह मान ।
जान मोहि या भक्तिसों मोहि हो प्राप्त सुजान ॥ ५५ ॥

टी०-हे पार्थ मेरा जो स्वरूप तथा स्वभाव है मेरी जो विभूति है और मेरे जो गुण हैं इन सभको जीव यदि कुछ जान सकताहै तो भक्तिसे ही जान सकताहै । (ततो भक्तितः) इस परभक्तिसे मेरेको जानकर तदनंतर जीव श्रीवैकुंठमें पहुंचकर मेरेको प्राप्तहोताहै । तदनंतर शब्दका उपासनाऽऽनंतर्यसे अभिप्राय है भगवत्का ज्ञान होनेके अनंतर भी भगवदुपासना करनी ही चाहिये कहा भी है "भगवदुपास्तिमृते न सिद्धिरस्ति" इति । वेदांतका सूत्र भी है

"आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम्" अर्थात् मरणपर्यंत भगवदुपासना करनी ही चाहिए ॥

यहांपर मधुसूदनजीने स्वमतस्थापनकेलिए तार्किकरीतिका दृष्टांत दिआहै कि यथा तार्किकलोग कारणनाशके अनंतर कार्यनाश मानतेहैं तो विना भी समवायिकारणके यथा घटादिकार्य क्षणभर रहजातेहैं एवं ज्ञानसे अज्ञानरूपी कारण नष्ट होजानेसे भी अज्ञानकार्य देहादिक प्रारब्धभोगपर्यंत रहते ही हैं। यह सभ संगत नहीं क्यों कि एक तो तार्किकलोग कारण और कार्यके विनाशमें एक ही क्षणका व्यवधान मानते हैं कि जिस क्षणमें समवायिकारण कपालादि नष्ट होताहै उससे द्वितीय ही क्षणमें घटादिकार्य नष्ट होजाताहै और आपको तो शरीरादिकारणीभूत अज्ञान नष्ट होनेपर उसके कार्यभूतशरीरादिकी स्थिति अनेक वर्ष पर्यंत माननी पडती है और कहीं कहीं तो जिसका प्रारब्ध भोग उसजन्ममें वीता नहीं उसका जन्मांतर भी मानना पडताहै तो उसज्ञानीके जन्मांतरीय शरीरादिकी उत्पत्ति भी अज्ञानरूपी कारणके विना ही माननी पडतीहै यह सभ हो नहीं सकता, और तार्किकलोग तो कार्यकारणका भेद मानतेहैं इससे उनके मतसे यह भी संगत ही है कि कारण और कार्य एक क्षणके व्यवधानसे नष्ट होतेहैं। अद्वैतमतमें तो कार्यकारणका भेद नहीं मानागया इसहेतु यथा कपालनाश और घटनाश यह दोनो अद्वैतमतमें एक ही पदार्थ हैं एवं अज्ञाननाश और अज्ञानकार्यशरीरादिनाश ये दोनों भी एक ही पदार्थ हैं सो ज्ञानीका अज्ञान नष्ट होतेहि उसके शरीरादिका नाश होकर उसकी परममुक्ति होनी चाहिए सो तो होता नहीं इससे प्रपंच सत्यपदार्थ है अज्ञान कार्य नहीं। और मधुसूदनजीका प्रतिपादन भी संगत नहीं क्यों कि उक्तदोषोंके सदृश अनंतदोष अद्वैतवादमें भरेपडेहैं। अद्वैतवादीजी रोष मत मानो आपके यहां तो निर्विशेषब्रह्मके विना और सभ पदार्थमात्र दोषस्वरूप ही है दोषका ही कार्य है ॥ ९५ ॥

मू०--सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

दोहा--त्याग फलेच्छादिक तथा काम्य हु कर्म बनाय।
कर उपासना, मोहिको मोर कृपाते पाय ॥ ९६ ॥

करहु समर्पण मोहिको फल आदिक, कर कर्म।
ज्ञानयोग लग, ला सदा मोमें मन, इह मर्म ॥ ५७ ॥

टी०—फलेच्छा ममता तथा कर्तृताभिमान त्यागकर नित्यनैमित्तिककर्म अवश्य करने ही चाहिए उनको भगवदर्पण करनेसे तथा भगवदुपासना समझनेसे वे कर्म मोक्षके सहकारी ही होतेहैं विरोधी नहीं होते इस बातको भगवान्ने अच्छीतरह कई बेर कह-दिआ अब मानना न मानना यह जीवकी इच्छा तथा प्रारब्धपर निर्भर है। अब काम्य कर्म ज्योतिष्टोमादिक करने वा न करने इसकेलिए कृपाकर कहतेहैं—सर्वेति।

हे पार्थ जो पुरुष मद्व्यपाश्रय=मेरा आश्रय लेकर अर्थात् फलेच्छा ममता तथा कर्तृताभिमानको त्यागकर मेरी उपासना समझकर सभ कर्मोंको=समग्र काम्य कर्मोंको भी करताहै वह भी उसकर्मसे मेरी कृपाको संपादन करके नित्यपदको प्राप्त होताहै अर्थात् श्रीवैकुंठमें जाकर मेरेको प्राप्त होजाताहै। यहांपर भी इतना जानलेना कि फलेच्छादि त्यागपूर्वक किएहुए काम्यकर्मसे भी प्रथम चित्त शुद्ध होगा तब ज्ञान बढेग तब जीवात्मसाक्षात्कार होगा तब भगवद्भक्ति होगी तब भगवत्का ज्ञान होगा तब परभक्ति होगी तब जीव भगवत्को प्राप्त होगा ॥ ५६ ॥

हे पार्थ तू समग्र कर्मोंको कर किं तु फलेच्छा ममता कर्तृताभिमान इनको त्याग कर कर्म कर और उन कर्मोंको चित्तसे=यथार्थरूपसे मेरे अर्पण करदे तब वे कर्म तेरेलिए बंधन नहीं बनेंगे प्रत्युत मोक्षके सहकारी बनजायँगे और तू इसप्रकार कर्म करता हुआ ज्ञानयोगका भी अनुष्ठान कर और ज्ञानयोगका अनुष्ठान करता हुआ भी अपने चित्तको सदा मेरेमें लगारख=सदा मेरा ध्यानकर॥ इसका फल आगेके श्लोकमें भगवान् कहतेहैं "मच्चित्तः" इति ॥ ५७ ॥

मू०—मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥

दोहा—तब भवदुख सभ टूटिहैं तात कृपावश मोर ।
जो न सुनैगा वचन मम नाश होइ तब तोर ॥ ५८ ॥

टी०—हे पार्थ यदि तू कर्मयोगका तथा ज्ञानयोगका अनुष्ठान करताहुआ ही अपने मनको मेरेमें लगाएगा तो मेरी कृपासे तेरे सभ सांसारिकदुःख तथा रागद्वेषा-दिक दोष निवृत्त होजायँगे। यदि तू निजअहंकारके कारणसे मेरे इस कहेका

अनुष्ठान नहीं करेगा तो तू नाशको प्राप्त होगा अर्थात् तेरे लोक परलोक सभी बिगड जायँगे ॥ इसहेतु जीवको कर्मयोग ज्ञानयोग तथा भक्तियोगका अवश्य ही अनुष्ठान करना चाहिए ॥ ५८ ॥

मू०—यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

दोहा—अहंकारवश मान तो ' म न लडूंगो ' जाय ।
तव इह निश्चय है मुधा लडिहौ गुण (प्रकृति) वश होय ॥ ५९ ॥
लडनौ जो नहिं चाहतो लडिहौ विवश हि सोय ।
बंध बधनम शायक स्वाभाविक तव जोय ॥ ६० ॥

टी०—हे पार्थ जो तू मेरी आज्ञा न मानकर अहंकारसे कहताहै कि मैं युद्ध नहीं करूंगा तेरा यह निश्चय मिथ्या=झूठा है क्यों कि तेरी प्रकृति=स्वभाव ही तेरेको अवश्य युद्धमें प्रवृत्त करदेगी ।

हे पार्थ जो तू इस युद्धको करना नहीं चाहता सो तू अपने स्वाभाविक शौर्यमें बँधकर विवश होकर इस युद्धको करेगा=लडेगा क्यों कि शौर्य क्षत्रियका स्वाभाविक कर्म=धर्म है उस शौर्यका भी यही स्वभाव है कि पुरुषको युद्धादिरूपवीरकार्योंमें प्रवृत्त करदेताहै इसहेतु तू अहंकारको त्यागकर अपने वर्णोचित युद्धकर्मको कर ॥५९॥६०॥

मू०—ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

दोहा—वास कर हियदेशमें सबक ईश्वर तात ।
यंत्ररूपवपुआदिमें बैठे जाव घुमात ॥ ६१ ॥

टी०—हे पार्थ जिस हृदयदेशमें प्रवर्तक तथा निवर्तक ज्ञान उत्पन्न होताहै सबके उसी हृदयदेशमें सर्वेश्वर श्रीनारायण मैं अंतर्यामीरूपसे वास करताहूं और वहां वास-कर देहेंद्रियादिरूपसे परिणत जो प्रकृतिरूप यंत्र है उसयंत्रपर चढेहुए अर्थात् शरी-रादिस संबंधरखनेवाले सब जीवोंको अपनी मायासे घुमाताहू अनेकप्रकारके कर्तव्याऽ

कर्तव्य कर्म=कार्योंमें प्रवृत्त करताहूं । अर्थात् जिसके जैसे कर्म तथा सत्त्वादिगुण होते हैं उसको वैसे ही कार्योंमें प्रवृत्त करता हूं । सो यदि तू युद्ध नहीं भी करना चाहेगा तो भी तेरे रजोगुणप्रधान जो प्राचीन कर्म हैं उसके अनुसार मैं अंतर्यामीरूपसे तेरे को युद्धमें प्रवृत्त करूंगा तब तो तू अवश्य ही युद्ध करेगा ही ॥

भगवान् प्रथम भी कहचुकेहै—

"सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च" "मत्तः सर्वं प्रवर्तते" इत्यादि । श्रुति भी कहती है "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरो यमात्मा न वेद य आत्मानमन्तरो यमयति" "यच्च किंचिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेपि वा, अन्तर्बहिश्चतत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः" इत्यादि ॥ ६१ ॥

मू०—तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥

दोहा—सभविध तिसकी शरण जा जौ चाहौ स्व भलाइ ।
तिस किरपाते परमपद अरु इह शान्ति लभाइ ॥ ६२ ॥

टी०—हे पार्थ परमेश्वर ही सभको प्रवृत्तकरनेवाला तथा फलदेनेवाला है इसहेतु तू उस परमेश्वरकी ही तन मन वाणीसे शरणको प्राप्त हो उसी परमात्माकी कृपासे तू इस लोकमें शांतिको प्राप्त होगा और मरणानंतर परमपदको प्राप्त होगा । यदि तू उसकी शरण नहीं लेगा तो तू युद्धादिक भी करेगा और अज्ञानमें फँसकर नष्ट होजायगा । अर्थात् तू मेरी शरण ले मैं जैसे कहताहूं वैसे कर तेरा सभ ही भला होगा

"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" यह कहा भी है ॥

श्रुतिएं भी इसी बातको कह रही हैं—"मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये" "नान्यः पन्था विद्यते अयनाय" "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यंति सूरयः" "ते ह नाकं महिमानः सचन्ते यत्र पूर्वे साध्याः संति देवाः" "यत्र ऋषयः प्रथमजा ये पुराणाः । परेण नाकं निहितं गुहायाम्" "अथ यदतःपरो दिवोज्योतिर्दीप्यते" "सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" इत्यादि ॥ ६२ ॥

मू०—इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

दोहा—गोप्य हु सों अतिगोप्य इह कह्यौ ज्ञान तोहि माम।
कर विचार इस ज्ञानको जस चाहौ तस ठान ॥ ६३ ॥
याहू सों अतिगोप्य अरु सुन मम वचन सुजान।
कहों तोहि, जो मोहि तुम प्रिय हो प्राण समान ॥ ६४ ॥

टी०—हे पार्थ मैने तेरेको यह गुह्यसे भी गुह्य ज्ञान सुनायाहै तू ज्ञानपरिपूर्ण मेरे इन वचनोंका विचार करके जैसे चाहताहै वैसे कर। अर्थात् कर्मयोग ज्ञानयोग तथा भक्तियोगका यथेच्छ अनुष्ठान कर क्यों कि जो भगवत्के इनवचनोंका यथार्थ विचार करेगा वह अवश्य ही कर्मयोग ज्ञानयोग तथा भक्तियोगमें लगेगा। यहां यह भी संदेह नहीं करना कि एक ही पुरुष तीनो योगोंका कैसे अनुष्ठान करेगा। क्यों कि तीनों योग परस्पर विरुद्ध नहीं प्रत्युत पूर्वपूर्व उत्तर उत्तरका उपकारी है यथा कर्मयोग ज्ञानयोगका उपकारी है और ये दोनों ही योग भक्तियोगके उपकारी हैं। भगवान् और भी अर्जुनपर कृपा करतेहैं—सर्वेति।

हे पार्थ तू मुझे अत्यंत प्यारा है इसहेतु मैं तेरे हितकेलिए और भी सबसे बढकर गोप्यविषयको कहताहूं तू सावधान होकर मेरे वचनको सुन ॥

अब भगवान् जो समग्र वेदवेदांतोंका सार है तथा उक्त गीताशास्त्रका सार है उसे दो श्लोकोंमें अर्जुनको सुनातेहैं। भगवान्की कुछ भी छिपाकर रखनेकी इच्छा नहीं है। यथा वृद्धावस्थामें संतान होनेके कारण पिता अपने समग्र धनको लुटा देताहै तथा भगवान् भी अपने प्रिय अर्जुनको शरण आए देखकर ज्ञानका खजाना लुटा रहे हैं। किं वा यथा भगवत्के जन्मपर नंदजीने अपना घर बार लुटाया था उसी तरह बहुत दिनोंबाद प्रियशिष्यको पाकर भगवान् भी ज्ञानका खजाना लुटातेहुए नंदजीका अनुकरण करके जताहैं कि मैं नंदनंदन हूं। कहा भी है—

" एवं संसृतिचक्रस्थे भ्राम्यमाणे स्वकर्मभिः।
जीवे दुःखाकुले विष्णोः कृपा काप्युपजायते ॥ "

अर्थात् स्वकर्मवश संसारचक्रमें घूमतेहुए दुःखी जीवको देखकर श्रीनारायणको एक विलक्षण कृपा उत्पन्न होती है जिससे जीवका उद्धार करदेते हैं उसी कृपासे परम गुह्य तत्त्वको कहते हैं—"मन्मना भव" इत्यादि ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

मू०—मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसि मे ॥ ६५ ॥

दोहा—ध्यान भक्ति पूजा मम कर प्रणाम अरु मोहि ।
इसविध मोकूं पायगो, कहौं सत्य इह तोहि ॥ ६५ ॥

टी०—हे पार्थ मेरी उपासना कर, मेरी भक्ति कर अर्थात् प्रेमसे सदा मेरा अखंड ध्यान कर, मेरा पूजन कर, तथा मेरेको प्रणाम कर इसप्रकार मेरी उपासना करनेसे तू मेरेको ही प्राप्त होजायगा यह मैं तेरोलिये प्रतिज्ञा करताहूं । अर्थात् मेरी यह प्रतिज्ञा ही है कि जो पुरुष उक्तप्रकारसे मेरी उपासना करताहै मैं उसके संसारबंधको तोडकर अपने पास श्रीवैकुंठधाममें बुलालेताहूं ॥

"तमेवं विद्वानमृत इह भवति" "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति" "विद्ययाऽमृतमश्नुते" इत्यादि अनंत श्रुतिओंमें तथा "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस सूत्रमें जो ही उपासनात्मक भक्तिस्वरुप तैलधारावत् अखंडस्मृत्यात्मक ज्ञान कहाहै उसीको भगवान् भी यहाँपर "मन्मनाः" इस पदसे कहरहे हैं । इस ज्ञानके कार्यरूपलक्षणोंको आगे भगवान् कहते हैं—"मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु" इति । अर्थात् भक्तिपूर्वक भगवदर्चनादिसे अनुमान होताहै कि इस पुरुषको उक्तस्वरूपज्ञान है तथा जिसको उक्त स्वरूपज्ञान है वह अवश्य ही भक्तिपूर्वक भगदर्चन करेगा ही । यथा जो पुरुष मार्गमें पडे रत्नको नहीं उठाता वहां यही जानना चाहिये कि इसे रत्नका ज्ञान ही नहीं अन्यथा अवश्य उठालेता । तथा जो पुरुष भक्तिपूर्वक भगवदर्चनादि नहीं करता वहां यही जानना चाहिए कि इस पुरुषको उक्तस्वरुप भगवत्का ज्ञान ही नहीं अन्यथा अवश्य ही भक्तिपूर्वक भगवदर्चनादिक करता ॥

श्रीयामुनाचार्यस्वामीने कहाहै—

"त्वदङ्घ्रिमुद्दिश्य कदापि केन चिद्यथा तथा वापि सकृत्कृतोञ्जलिः ।
तदैव मुष्णात्यशुभान्यशेषतः शुभानि पुष्णाति न जातु हीयते ॥" इति ॥

अन्यत्र भी कहाहै—

"तावद्भयं द्रविणदेहसुहृन्निमित्तं शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः ।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं यावन्नतेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः ॥"

"इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजन् ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥"

"अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन भजेत पुरुषं परम् ॥"

"एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसो धर्मः सनातनः ।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः ॥" इत्यादि ॥ ६५ ॥

मू०–सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

दोहा–कर्मफलेच्छा त्यागकर शरण गहौ इक मोर ।
शोचकरौ जिन म हि सब पाप निवारौ तोर ॥ ६६ ॥

टी०–हे पार्थ समग्रधर्मोंको त्यागकरके अर्थात् वर्णाश्रमोचितकर्म करतेहुए ही कर्मोंकी फलेच्छा ममता तथा कर्तृताभिमानको त्याग करके परमपद प्राप्तिकेलिए मेरी शरणको प्राप्त हो किं वा मुझे शरण (आश्रय) समझ । तू अपने पापोंकी ओर देखकर शोक (शोच) मत कर मैं समग्र पापोंसे तेरा उद्धार करूंगा । यहांपर सर्वधर्मपरित्यागसे कर्मके स्वरूपेण परित्यागका ग्रहण नहीं करना किं तु कर्मसंबंधी फलेच्छा ममता कर्तृताभिमान इनीके त्यागका ग्रहण करना इसी बातको भगवान् पूर्व भी कह चुकेहैं अन्यथा पूर्वापरसे विरोध होगा । पूर्वोक्त वचन यथा–

" निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः परिकीर्तितः ॥
संगं त्यक्त्वा फल चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥
न हि देहभृता शक्यं त्युक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ " इत्यादि ।

किं वा " सर्वकर्माण्यपि सदा " यहांसे भगवान्ने काम्यकर्मके प्रकरणका आरभ किआहै सो यहांपर भी सर्वधर्मशब्दसे काम्यकर्मोंका ग्रहण करना नित्यनैमित्तिक कर्म तो अवश्य करने ही चाहिए काम्यकर्मकी ऐसी आवश्यकता नहीं सो काम्यकर्मोंको स्वरूपेण त्यागकर भगवत्शरणका ग्रहण करना यह भी पक्ष श्रेष्ठ है ।

किं वा भगवान्ने जो अर्जुनको भक्तियोगका उपदेश दिआ पूर्वश्लोकमें उसे सुनकर अर्जुनको यह चिंता हुई कि जन्मांतरीय अनंत पापोंके रहते भक्तियोग सिद्ध नहीं होगा और उनपापोंकी निवृत्तिकेलिए प्रायश्चित्त करूं तो अनंतपापोंकेलिए अनंत प्रायश्चित्त करने चाहिए सो असंभव है इस चिंतामें व्यग्र अर्जुनको भगवान् कहतेहैं– "सर्वधर्मान् परित्यज्य " इत्यादि । हे पार्थ तू अपने पापोंकी ओर न देख औरं तेरेको अपने पापोंके प्रायश्चित्तकी भी कुछ अपेक्षा नहीं क्यों कि मेरी शरण ही तेरे, उनपापोंको भस्म करदेगी सो तु प्रायश्चित्तरूपी समग्रकर्मोंको त्यागकर मेरी शरण ग्रहण कर मैं तेरेको सब पापोंसे छुडाऊंगा । भगवत्शरणकी ऐसी ही सामर्थ्य है । श्रीकूरेश-स्वामीने कहा भी है–

" पापीयसोपि शरणागतिशब्दभाजो नोपेक्षणं मम तवोचितमीश्वरस्य ।
त्वज्ज्ञानशक्तिकरुणासु सतीषु नेह पापं पराक्रमितुमर्हति मामकीनम् ॥ "

अर्थात् हे भगवान् यद्यपि मैं महापापी हूं तथापि आपकी शरण आकर ' शरणागतोस्मि ' ऐसा कहरहाहूं इसहेतु मेरी उपेक्षा करनी आप त्रिलोकीनाथको उचित नहीं और मेरे पाप भी यद्यपि बडे प्रबल हैं तथापि आपके ज्ञान शक्ति तथा करुणाके आगे वे कुछ भी पराक्रम नहीं दिखा सकते ॥ और भी कहाहै—

" पतित उधारन नँमवाँ सुनकर तोर ।
अधम करमकी बिरियाँ थमी मनमोर ॥ "
" काहूके बल ज्ञानको काहू के आचार ।
व्यास भरोसे कुमरके पौढत पांव पसार ॥ " इत्यादि ॥

अभिप्राय यही है कि रागद्वेष कामक्रोध पाप इत्यादि दोषोंसे बचकर फलेच्छा ममता कर्तृताभिमान इनको त्याग नित्यनैमित्तिक कर्मका निर्वाह करतेहुए भगवान् श्रीनारायणकी शरण लेनी चाहिए । और काम्यकर्मकी ओर तथा जन्मांतरीय पापोंकी निवृत्तिकेलिए प्रायश्चित्तकर्मकी ओर अधिक ध्यान नहीं देना यदि दैवात् काम्यकर्म किंवा प्रायश्चित्तकर्मके ही करनेका अवसर आपडे तो वे कर्म भी फलेच्छा ममता तथा कर्तृताभिमानको त्यागकर ही करने चाहिए । जीवकेलिए जो मुख्य कर्म श्रीशरणागति है उसीका यहांपर भगवान्ने उपदेश किआहै। उत्तममध्यमाधमभेदसे इस शरणागतिके तीन भेदकहेहैं-

" विष्णूपायो योऽन्यफलः सोऽधमः परिकीर्तितः ।
अन्योपायो विष्णुफलो मध्यमः परिकीर्तितः ॥
माधवाङ्घ्रिद्वयोपायो माधवाङ्घ्रिप्रयोजनः ॥
यः स एवोत्तमः प्रोक्तो माधवेनैव तेन वै ॥ "
" सत्कर्मनिरताः शुद्धाः सांख्ययोगविदस्तथा ।
नार्हन्ति शरणस्थस्य कलां कोटितमीमपि ॥ "

अर्थात् जो और फलोंकी प्राप्तिकेलिए श्रीनारायणकी उपासना करताहै वह अधम है, जो जोपुरुष भगवत्प्राप्तिकेलिए और देवताओंकी उपासनाप्रभृतिका अनुष्ठान करताहै वह मध्यम है श्रीतुलसीदासजीने इसबातका प्रथममें बहुतसा अनुष्ठान किआहै उनने सभ देवताओंसे श्रीरामभक्ति मांगी है "बसंहु रामसिय मानस मोरे" इत्यादि । जो पुरुष भगवत्प्राप्तिकेलिए भगवत्की ही उपासना करताहै वह सभसे उत्तम है इसीभावको वैष्णवविद्वानोंने " अनन्यपायोपेयत्व " कहाहै ॥ जो पुरुष भगवत् शरण न होकर बडे सत्कर्मी हैं शुद्ध हैं ज्ञानयोगमें भी निष्पन्न हैं वे भी भगवत् शरणको प्राप्तहुए पुरुषकी बराबरी नहीं करसकते ॥ शरणागतिका महत्त्व यथा—

" शरणं त्वां प्रपन्ना ये ध्यानयोगविवर्जिताः ।
तेपि मृत्युमतिक्रम्य यान्ति तद्वैष्णवं पदम् ॥ "

" स तं निपतितं भूमौ शरण्यः शरणागतम् ।
वधार्हमपि काकुत्स्थः कृपया पर्यपालयत् ॥ "
" प्राप्तुमिच्छन् परां सिद्धिं जनः सर्वोप्यकिंचनः ।
श्रद्धया परया युक्तो हरिं शरणमाश्रयेत् ॥ "
" न जातिभेदं न कुलं न लिङ्गं न गुणक्रियाः ।
न देशकालौ नाऽवस्थां योगो ह्ययमपेक्षते ॥
ब्रह्मक्षत्रविशः शूद्राः स्त्रियश्चान्तरजास्तथा ।
सर्व एव प्रपद्येरन् सर्वधातारमच्युतम् ॥ "
" इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् ।
इदं तितीर्षतां पारमिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥ " इत्यादि ॥

शास्त्रमें इसप्रकार श्रीशरणागतिकी बहुतसी प्रशंसा लिखी है ।

कोई कोई वैष्णवाचार्यलोग ऐसा भी मानतेहैं कि सर्वधर्मशब्दसे सब प्रकारके कर्मोंका यहां ग्रहण करना चाहिए सो नित्य नैमित्तिक काम्य तथा प्रायश्चित्त इत्यादि सब प्रकारके कर्मोंका त्याग करके भगवत्शरण होकर संसारबंधनिवृत्तिकेलिए और भगवत्प्राप्तिकेलिए भगवत्पर ही अनन्य दृढ विश्वास रखना चाहिए भगवत्का यही यहांपर अभिप्राय है ।

महानुभाव आचार्योंने जो लिखाहै वह अच्छा ही लिखाहै किं तु यहांपर वक्तव्य इतना ही है कि ऐसा अनुष्ठान इससमयके मादृशपामरजनोंको साध्य नहीं यद्यपि सर्वधर्मपरित्याग सहज है परंतु भगवत्पर ही पूर्ण विश्वास रखना बडा ही कठिन है जिन मादृशजनोंको धनगृहादिजडपदार्थोंपर भी कुछ भरोसा है वे पुत्रकलत्रादिचेतनांतरोंका भरोसा छोड सकेंगे यह कब संभव होसकताहै ? । और नित्यनैमित्तिककर्मका भी त्याग करदेना यह यहांपर श्रीरामानुजस्वामीका अभिप्राय नहीं है । कहा भी है—

" कर्मणा सहिताज्ज्ञानात्सम्यग् योगोभिजायते ।
ज्ञानं च कर्मसहितं जायते दोषवर्जितम् ॥ " इति कूर्मपुराणे ।
" यस्तु विद्याभिमानेन वेदमार्गप्रवर्तनम् ।
छलजल्पादिभिर्जह्यात्स महापातकी भवेत् ॥ "
" पुंसां जटाधरणमौण्ड्यवतां वृथैव मोघाशिनामखिलशौचबहिष्कृतानाम् ।
पिण्डप्रदानपितृतोयविवर्जितानां संभाषणादपि नरा नरकं प्रयांति ॥ " विष्णुपुराणे
" ज्ञानिनाऽज्ञानिना वापि यावद्देहस्य धारणम् ।
तावद्वर्णाश्रमप्रोक्तं कर्तव्यं कर्म मुक्तये ॥ "
" ज्ञानेनैव सहैतानि नित्यकर्माणि कुर्वतः ।
निवृत्तिफलतृप्तस्य मुक्तिस्तस्य करे स्थिता ॥ " इत्यादि ॥ ६६ ॥

मू०-इदं ते नाऽतपस्काय नाऽभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

दोहा--तप मम सेवा भक्तिसा जो नर रहित कहाय ।
जो मम निन्दा करत अरु इह तिस कभुँ न बताय ॥ ६७ ॥

टी०--भगवत्‌गीताशास्त्र समाप्त होगया। अब भगवान् श्रीगीताके माहात्म्य तथा आधिकारीको कहते हैं—इदमिति ।

हे पार्थ मैंने जो तेरेको यह ज्ञानका संदर्भ सुनायाहै तैने इसे तप भक्ति तथा मम सेवासे रहित पुरुषको कभी नहीं बताना और जो पुरुष मेरी निंदा करताहै उसे भी नहीं बताना। अर्थात् जो पुरुष मेरे निंदकोंका संग छोडकर तपप्रभृति उत्तमकर्मोंसे अंतःकरणको शुद्ध करके परमभक्तिपूर्वक मेरी सेवा=उपानना करताहै वही पुरुष इस श्रीगीताशास्त्रका अधिकारी है। कहा भी है—

" एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव ।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥ "
" सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ " इत्यादि ॥ ६७ ॥

इस समय तो जो इस गीता और श्रीमद्भागवतकी मट्टी होरही खराब है वैसी किसी दूसरे ग्रंथकी मट्टी खराब नहीं होरही यह सब इस कलिका प्रभाव है ।

मू०-य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयम् ॥ ६८ ॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

दोहा--इस गीताको गाय जो मम भक्तनहि सुनाय ।
कर मोमें पर भक्तिको वह मोहि अवस हि पाय ॥ ६८ ॥
कर मोमें परभक्ति जो इस गीताको गात ।
प्रिय मम नाहि न होयगो तासों बढकर तात ॥ ६९ ॥

टी०--हे पार्थ जो पुरुष मेरेमें भक्तिकरके इसगीताशास्त्रको मेरे भक्तोंको सुनाएगा वह भी मुझे ही प्राप्त होगा । भगवद्भक्ति तो गीताश्रवणसे स्वतंत्र ही भगवत्प्राप्तिकी हेतु है इसलिए यहां यह तात्पर्य है कि जिसपुरुषकी भक्ति पराकाष्ठाको नहीं पहुंची वह यदि इसगीताको भगवद्भक्तोंको सुनाएगा तो वह भक्तिकी पराकाष्ठाको प्राप्त होकर भगवत्को प्राप्त होजायगा ॥ ६८ ॥

हे पार्थ जो पुरुष मेरेमें परममक्तिकरके इस गीताको गानकरताहै=पढत पढाना सुनताहै सुनाता है उसपुरुषसे बढकर इसलोकमें मेरा कोई प्यारा नहीं और न होगा ही ॥ ६९ ॥

मू०-अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

दोहा--धर्मरूप गीता इह गुरुसों पढतो जोय ।
ज्ञानयज्ञसो करत है मम उपासना सोय ॥ ७० ॥
त्याग असूया सुनहु ले श्रद्धासों इह जोय ।
पापबंधसों मुक्त ह्वै जात स्वर्गको सोय ॥ ७१ ॥

टी०-हे पार्थ तुमारा मेरा जो यह गीतारूप संवाद है यह उत्तमधर्मस्वरूप है जो पुरुष इसगीताको गुरुसे पढताहै वह गीताका अध्ययन नहीं करता मानो ज्ञानयज्ञसे मेरी इष्टि=उपासना करताहै ऐसा मैं मानताहूं । जो पुरुष इससे अध्ययनमें समर्थ नहीं वह यदि मेरी असूया (स्पर्धा) त्यागकर मेरे में और इसगीतामें श्रद्धा करके इसगीताको सुन भी लेताहै तो इससे श्रवणमात्रसे भी पापोंसे निर्मुक्त होकर पुण्यसे प्राप्त होनेवाले शुभ=सुखप्रधान स्वर्गलोकको प्राप्त होताहै । कहा भी है—

" गीताशास्त्रमिदं पुण्यं य पठेत्प्रयतःपुमान् ।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः ॥
गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्यच ।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च ॥
गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैःशास्त्रसंग्रहैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥ " इत्यादि ॥७०॥७१॥

इस समय तो वैष्णव संप्रदायोंमें इस गीताका कोई विशेष महत्त्व नहीं रहा इस समय ऐसे वैष्णव बहुतही अल्प हैं जो इन गीता विष्णुसहस्रनामादिका पाठ भी करते हैं वे वैष्णवोंमें बहिरंग कहाते हैं यह दशा वैष्णव संप्रदायोंकी है भगवदिच्छा बडी प्रबल है ।

मू०-कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ? ॥ ७२ ॥

दोहा—सुन्यौ पार्थ तुम एक मन इह जो कियौ बखान ? ।
नष्ट भयो वा नाहिं तव भ्रम अज्ञाननिदान ? ॥ ७२ ॥

(अज्ञान है मूल जिसका ऐसा भ्रम)

टी०-हे पार्थ मैंने जो यह तेरेको गीतासंदर्भ सुनायाहै इसे तैने एकाग्रचित्तसे सावधान होकर सुना ? किं वा नहीं सुना ? । और तू युद्धपरित्यागरूपी मोहमें फँसाथा वह अज्ञानमूलक मोह तेरा इसगीताके सुननेसे नष्ट हुआ ? किं वा नहीं ? ऐसा श्रीमहाराज अर्जुनसे प्रश्न करते हैं ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच-

मू०-नष्टो मोहःस्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

दोहा-तोर कृपावश ज्ञान हौं लह्यो, गयौ अज्ञान ।
टूटे सभ संदेह मम, करौं वचन तव मान ॥ ७३ ॥

टी०-हे श्रीवैकुंठपते भगवन् आपके इस अनुग्रहसे वह मेरा अज्ञानमूलक मोह नष्ट होगया और स्मृति=यथार्थतत्त्वत्रयविषयक ज्ञान मुझे प्राप्त होगया । मेरे सभ संदेह दूर होगए । अब आप जो जो आज्ञा करेंगे उसका तन मनसे परिपालन करूंगा ॥

अभिप्राय यह है कि अर्जुनको जो नित्यनैमित्तिककर्ममें बंधकताका अज्ञान था समग्र कर्म बंधक हैं,शरीरादिनकमें जो आत्मत्वाभिमान था समग्र प्रपंचको भगवत्का शरीरभूत नहीं समझताथा इत्यादि जो अनेक प्रकारके अर्जुनको अज्ञान तथा संदेह थे वे सभ इन कृपापूर्ण भगवद्वचनोंसे नष्ट होगए । अर्जुनने अब समझलिआ कि फलेच्छा ममता कर्तृताभिमान इनको त्यागकर कर्म करनेसे कर्म बंधन नहीं बनता प्रत्युत मोक्षका सहकारी ही होताहै । और समग्र प्रपंच श्रीनारायणका शरीरभूत है । जीवात्मा भी इस प्राकृतशरीरसे भिन्न हैं वे अनंत हैं अणु हैं भगवदंश हैं इत्यादि । और भगवान् श्रीनारायण परमात्मा है, वह जीवोंसे भिन्नहै समग्र चेतनाचेतनप्रपंचका तथा नित्यविभूति श्रीवैकुंठ श्रीलक्ष्मी प्रभृतिका स्वामी है,वह अनंतकल्याणगुणगणोंका एक सागर है वही परब्रह्मपदार्थ है प्राकृतगुणोंसे रहित होकर भी दिव्यगुणोंसे विभूषित है । वह भक्तोंपर तथा धर्मपर विपत्ति आनेसे तत् तत् देशकालानुकूल अवतार धारण करके अपने भक्तोंकी तथा धर्मकी रक्षा करताहै । उसी परमात्माने इससमय कृपाकर वसुदेवके घर जन्म लेकर मनुष्यरूप धारकर भक्तोंकी रक्षा की है, मेरे अज्ञानको नष्ट करनेके लिए श्रीगीतार्थ सुनाया है मेरे विजयकेलिए तथा मेरी रक्षाकेलिए परमधर्मपरायण श्रीयुधिष्ठिरकी प्रतिष्ठाकेलिए सारथी बनकर मेरे रथके घोडोंकी लगामको हाथमें पकडे है । अहो यह श्रीपति बडा कृपासमुद्र है जिसको श्रुतिएं भी पा नहीं सकतीं जो ब्रह्मादि देवताओंके दिव्यमणिमयसिंहासनोंपर भी पैर भी नहीं रखता वह प्रेममें बँधकर अपने दीननाथनामकी ओर देखकर सारथी बनकर मेरे रथको चलाताहै अनेक प्रकारके कौरवोंके शस्त्रप्रहारोंको सहरहाहै । इत्यादि । हम पापियोंको तो वह अपना पैर भी दिखाता नहीं, यदि वह हमारे शिरपर पैर भी मार देता तो भी हम तर ज़ाते किंतु हमारे इतने भी भाग्य नहीं ।

पापकर्मोंको त्यागकर फलेच्छा ममता तथा कर्तृताभिमान त्यागकरनित्यनैमित्तिकादिसत्कर्म करके उनको भगवदर्पण करदेनेसे अंतःकरणकी शुद्धि होकर जीवात्माका ज्ञान बढताहै उस ज्ञानके अभ्याससे जीवात्माका तथा उसके अणुत्व भगवदंशत्वादिधर्मोंका साक्षात्कार होताहै उस साक्षात्कारके अभ्याससे श्रीनारायणचरणमें भक्ति

होतीहै तब भगवत्की शरण लेकर भगवदुपासनासे वह भक्ति पराकाष्ठाको पहुंचजाती है तब जीवके प्रारब्धकर्मभिन्न सबकर्म नष्ट होजातेहैं और प्रारब्धकर्मोंको भोगकर इससंसार-बंधसे निवृत्त होकर सातों आवरणोंके पार होकर श्रीवैकुंठधामके द्वारपर अपने यथार्थ स्वरूपको प्राप्त होकर जीव वैकुंठपति परब्रह्म श्रीनारायणके चरणकमलोंके समीप पहुंचजाताहै। इसी ज्ञानको अर्जुनने बडे विनीतभावसे स्मृतिशब्दसे कहाहै। इस ज्ञानको मनकी कल्पना नहीं समझना इसके विषयमें मैं प्रथम ही योग्यस्थानोंमें यथामति प्रमाणोंको लिखचुकाहूं अधिक देखनेकी इच्छा हो तो वैष्णवग्रंथोंको देखना चाहिए। यद्यपि समग्रवेद इनी अर्थोंको प्रतिपादन करतेहैं तथापि वैष्णवग्रंथोंकी सहायताके विना इन अर्थोंका प्रतीत होना कठिन है श्रुति स्मृति निर्मल गंगाजल है उसमें ये तत्त्वार्थ रत्नोंके तुल्य पडेहैं और वैष्णवग्रंथ नेत्ररूप हैं। यथा पुरुष नेत्रके विना गंगाजलमें भी पडे पदार्थको नहीं देखसकता तथा विद्वान्लोग भी वैष्णवग्रंथोंकी सहायताके विना इन अर्थोंका लाभ नहीं उठासकते ॥ ७३ ॥

सञ्जय उवाच—

मू०—इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

दोहा—वासुदेव भगवान्को अरु अर्जुनको राय।
सुन्यो सुखद संवाद इह अद्भुत अरु, मनलाय ॥ ७४ ॥
व्यासकृपातें पाय हौं दिव्य नयन अरु कान।
सुन्यौ कृष्णयोगेशते परमगुह्य इह ज्ञान ॥ ७५ ॥

टी०—श्रीनरनारायणावतार अर्जुन तथा श्रीकृष्णचंद्रके कर्म ज्ञान भक्तियोगविषयक वेदसारस्वरूप दिव्यमंगल वाक्योंको धृतराष्ट्रके प्रति सुनाकर अब संजयजी अपनी ओरसे कहतेहैं—इत्यहमित्यादि।

हे राजन् अर्जुनको जो अज्ञान था उसके कारण जो कुछ अर्जुनने भगवान्से कहा तथा भगवान्ने भी अर्जुनके अज्ञानको निवृत्त करनेकेलिए जो कुछ अर्जुनसे कहा यह जो उन दोनोंका परस्पर संवाद हुआ उस अद्भुत परमानंदजनक संवादको मैंने सुना। उसीको तुम्हें भी सुनायाहै ॥ ७४ ॥

हे राजन् मेरा इतना सौभाग्य नहीं था जो मैं इस गीतारूपी अमृतको अपने श्रवणपुटसे पान करता किंतु श्रीव्यासदेवकी कृपासे दिव्य नेत्र और कानका लाभ होनेसे

साक्षात् श्रीकृष्णचंद्र योगेश्वर भगवान्के मुखचंद्रसे मैंने इसगीतारूपी दिव्यमंगलसंवादको सुनाहै ॥

धृतराष्ट्र अंध थे इसहेतु उनको महाभारतयुद्धके समाचर जानकर सुनानेकेलिए श्री व्यासदेवने आकर संजयको दिव्य नेत्र और कानकी प्रातिका वर दिआहै उसीवरके प्रभावसे संजयजी एकस्थानपर ही रहकर समग्र महाभारतयुद्धके वृत्तांतको देखतेथे और सुनतेथे उसीको धृतराष्ट्रके प्रति सुनायाहै इसीपर संजयजीने कहाहै- व्यासप्रसादात् इति ॥ ७५ ॥

मू०--राजन् संस्मृत्यसंस्मृत्य सवादामिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥
तच्च संस्मृत्यसंस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

दोहा--वासुदेव भगवान्को अरु अर्जुनको राज ।
सिमर सिमर संवाद इह हर्ष मनावैं आज ॥ ७६ ॥
विश्वरूप भगवान्को अद्भुत हर्ष निदान ॥
सिमर सिमर सुख मान कर अचरज होत महान ॥ ७७ ॥

टी०--हे राजन् भगवान् श्रीकृष्णचंद्र और अर्जुनके इसगीतारूपी संवादका वारंवार स्मरण करताहूं तथा वारंवार ही असीम परमानंदको पाताहूं । तथा भगवान् श्रीनंदनंदनकृष्णचंद्रके उस विश्वरूपके स्मरणसे मुझे वडा हर्षजनक आश्चर्य होताहै तथा मैं वारंवार परमानंदको प्राप्त होताहूं ॥ जब भगवान् युद्धिष्ठिरकी ओरसे धृतराष्ट्रके निकट गएहैं तो वहांपर भी दुर्योधनकी अनीतिसे भगवान्ने अपने विश्वरूपकी तनिक छटा दिखाईहै तो वहां धृतराष्ट्रने भी भगवान्के दिव्यमंगलरूपको निहारनेकेलिए भगवान्से नेत्र मांगेहैं ॥ कहा भी है "सिमरो नटनागरवर, सुंदरगोपाललाल । सभ दुखमिटजैहैं वे सिमरत लोचन विशाल लाल । " इत्यादि ।

तथा--" यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते ।
सा हानिस्तन्महाच्छिद्रं सा भ्रान्तिः सा च विक्रिया ॥ ".

अर्थात् जो मुहूर्त किं वा जो क्षण भगवान् श्रीवासुदेवके स्मरण (ध्यान) के विना बीतताहै वही भारी हानि है वे ही क्षण इसजीवनकालमें छिद्रके तुल्य हैं वही बडी भ्रांति है वही विक्रिया=अयोग्यक्रिया (पापरूप) है सो प्रत्येकक्षणमें भगवान्का स्मरण करना यही जीवमात्रका प्रधान कर्तव्य है । पाठकवर मनको भगवच्चरणमें लगा एकवार मुखसे बोलो तो ' जय श्रीवासुदेव कृष्ण हरे मुरारे गोविंद गोकुलेश

श्रीराधापते' इति ॥ अच्छा कहाहै "वक्तुं समर्थोऽपि न वक्ति कश्चिदहो जनानां व्यसनानि मोक्षे ॥ " इति ॥ ७६ ॥ ७७ ॥

मू०-यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

॥ इति श्रीसर्वोपनिषत्सारस्वरूपा श्रीमद्भगवद्गीता समाप्ता ॥

दोहा--जहँ योगेश्वर कृष्ण अरु अर्जुन धनुषधराय ।
तहँ भूति श्री विजय अरु नीति सदाहि रहाय ॥ ७८ ॥

॥ इति पंजाबी पंडित सुदर्शनाचार्यशास्त्रिप्रणीत श्रीमद्भगवद्गीतासतसई समाप्त हुई ॥

टी०-हे राजन् आप चाहे मानो चाहे न मानो किंतु मेरी बुद्धि तो यही कहती है कि जिस पक्षमें (दलमें) योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णमहाराज हैं और धनुषको हाथमें लिए अर्जुन है उसी पक्षमें श्री विभूति विजय तथा नीति है । अर्थात् आप जो अपने पुत्र दुर्योधनके विजयकी आशा रखतेहो यह वृथा है क्यों कि तुम्हारे दलमें नीति=धर्म नहीं है अतएव भगवान् श्रीकृष्णचंद्रको तुम्हारा पक्ष नहीं, जब श्रीकृष्ण चंद्र ही आपके पक्षमें नहीं तो आपको विजयलाभ कहां, विजय नहीं तो श्री और विभूति कहां अर्थात् आपके दलका सर्वात्मना नाश होनेमें अब अधिक विलंब नहीं । कहा भी है-

" यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः । "
" लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः ॥ "

श्रीभगवान्को पांडवोंके विजयका इतना पक्ष था कि अपनी युद्ध न करनेकी प्रतिज्ञाको भी भुलाकर गजेंद्रके समय जैसे आकुल होगएथे वैसे ही भीष्मपितामहके बाणोंसे पांडवसेनाकी हानिसे आकुल होकर आप एकवार रथका पहिआ उतारकर उससे भीष्मको मारनेको दौडे किंतु अर्जुनने चरणपकडकर लौटालिए । फिर एकवार चाबुकसे मारनेको भीष्मपर दौडे तो भी अर्जुनने चरण पकडकर लौटालिए । और जब भगदत्तने अर्जुनपर वैष्णवास्त्र चलाया तो उसे भी भगवान्ने अर्जुनतक नहीं जाने दिआ अपनी छातीपर रोकलिआ अन्यथा उस अस्त्रसे अर्जुन भस्म ही होजाता । इनीहेतुओंसे जब अर्जुनने जयद्रथको मार अपनी प्रतिज्ञा पूरी की है तो भगवान्ने अर्जुनको और युधिष्ठिरमहाराजको जयद्रथवधकी बधाई दी है तब अर्जुनने तथा युधिष्ठिरने भगवान्से यही कहाहै कि यह सब आपकी ही कृपाके फल हैं, यथा-

" न तेषां दुष्कृतं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
सर्वलोकगुरुर्येषां त्वं नाथो मधुसूदन ॥

त्वत्प्रसादाद्धि गोविन्द वयं जेष्यामहे रिपून् ।
यथा पूर्वं प्रसादात्ते दानवान् पाकशासनः ॥
पृथिव्या विजयो वापि त्रैलोक्यविजयोपि च ।
ध्रुवो हि तेषां वार्ष्णेय येषां तुष्टोसि मानद ॥
न तेषां विद्यते पापं संग्रामे वा पराजयः ।
त्रिदशेश्वरनाथस्त्वं येषां तुष्टोसि मानद ॥
स्रष्टारं सर्वलोकानां परमात्मानमव्ययम् ।
ये पश्यंति हृषीकेशं न ते मुह्यन्ति कर्हिचित् ॥
पुराणं परमं देवं देवदेवं सनातनम् ।
ये प्रपन्ना सुरगुरुं (कृष्णं) न ते मुह्यन्ति कर्हिचित् ॥
अनादिनिधनं देवं लोककर्तारमव्ययम् ।
ये भक्तास्त्वां हृषीकेश दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥
यं गान्ति चतुरो वेदा गश्च वेदेषु गीयते ।
तं प्रपद्ये महात्मानं भूतिमश्नाम्यनुत्तमाम् ॥ " इत्यादि ॥ ७८ ॥

हमारे पापोंसे तो उसका वह अगाध भी कृपासमुद्र सूखगया पाप हो सो ऐसे ही हों

प्रार्थना–

दोहा–रामानुजकृति (गीताभाष्य) गुणाळिओ भगवतवचनप्रसून ।
माळा तत्त्वसुदर्शनी गूँथी हौं मति लून ॥ १ ॥
रामानुजपदपद्मपर दई चढा सिर नाय ।
करहु कृपा सभ भागवत देखैं दृढ मन लाय ॥ २ ॥

मेरे हृदयपर यदि निजकल्पनासे कभी अभिमान उत्पन्न हुआ हो तो मैं श्रीमारानुजस्वामीसे पृथ्वीपर माथा रगडके उसकी क्षमा मांगताहूं और प्रार्थना करताहूं कि 'न हि रोषं समाप्नोति पिता पुत्रविकत्थने ! ' इत्यलम् ॥

श्रीहरये नमः । श्रियै नमः । श्रीविष्वक्सेनाय नमः । श्रीमते शठकोपाय नमः ॥ श्रीमते रामानुजाचार्यस्वामिने नमः । श्रीमते रंगदेशिकाय नमः ॥ श्रीश्रीनिवासाचार्याय नमः॥
" लक्ष्मीनाथसमारम्भां नाथयामुनमध्यमाम् । अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम् "

इति पंजाबी पण्डित सुदर्शनाचार्यशास्त्रिप्रणीत श्रीमद्भगवद्गीताकी तत्त्वार्थसुदर्शनी टीकाका अष्टादशाध्याय समाप्त हुआ ॥ १८ ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

॥ श्रीः ॥

पञ्चनदीयपण्डितसुदर्शनाचार्यशास्त्रिप्रणीतम् ।

॥ श्रीरङ्गदेशिकशतकम् ॥



अर्थात्

श्रीवृन्दावनवास्तव्य-सकलशास्त्रपारावारपारीण-
श्रीमद्भगवद्रामानुजपादावतारभूत-भूत-
अलौकिकज्ञानवैराग्यभक्त्याद्यनेक-
कल्याणगुणगणार्णव-श्रीमद्देशिक
श्री १०८ श्रीरङ्गाचार्यस्वामि
महाराजविषयकं
स्तोत्रम् ।

॥ श्रीः ॥

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

॥ श्रीरङ्गदेशिकाय नमः ॥

अथ श्रीरङ्गदेशिकशतकम् ।



रंगो हि रंगेऽत्र निबद्धभक्तिः प्रस्तूयते दाससुदर्शनेन ।
पञ्चापदेशांकितजन्मना श्रीवंशीधरार्यात्मजनिन्दितेन[1] ॥ १ ॥
अनर्घशीलादिगुणप्रकल्पमुक्तानिधेर्वैष्णवधर्मकेतोः ।
वैकुण्ठविद्याधरगीतकीर्तेरङ्घ्रिं वहाम्यञ्जलिनोत्तमांगे ॥ २ ॥
क्व चापि रंगार्यमहागुरूणां ताराङ्गुणौघेन चकासितायाः ।
आगाहनं विष्णुपदप्ररूढस्तुतेः क्व वायं चटको विपक्षः ॥ ३ ॥
यतः पिता वत्सलतागरिष्ठो बालेन बोधाद्रहितेन जातम् ।
तितिक्षते मन्तुमतोऽत्र[2] बाल्यं ममापि चेतस्तरलीकरोति ॥ ४ ॥
कलानिधावष्टकलावशेषे[3] वाधूलवंशे च पुनर्वसौ भे ।
अवातरत्तौलविकर्तने श्रीवैकुण्ठतोषो भुवने नराणाम् ॥ ५ ॥
स दक्षिणायां द्युमणौ प्रयातेऽवतीर्य निर्भर्त्स्य तमेष तत्र ।
आलोकशून्यां समवेक्ष्य शंके चकासितुं प्राप दिशामुदीचीम् ॥६॥
सदागमाभ्यासविधानदक्षः स्थितः स्फुरन् संसदि वैष्णवानाम् ।
विकासयन् वेदनिवेद्यतत्त्वं पितामहं किं न तिरश्चकार ॥ ७ ॥
निकेतने चित्रितभित्तिभागे चकासिते रत्नसुदीपिकाभिः ।
गोपानसीचुम्बितचन्द्रबिम्बे श्रीरंगराजः स वसन् विरेजे ॥ ८ ॥
व्याजेन यस्मिन् कदलीदलानां प्रकम्पितानां प्रगृहीतखड्गः ।
द्वास्थो रराज प्रतिहारभूमौ संवीज्यमानो वनदेवताभिः ॥ ९ ॥

---

१ आत्मजेषु निन्दितेनावमेनेत्यर्थः । २ अत्र मन्तौ=सामर्थ्याभावेपि स्तोत्ररचनापराधे । ३ तृतीयकृष्णपक्षसप्तम्याम् ।

यत्र प्रभाते नवभानुरश्मिश्चकार वातायनशुभ्ररत्नम् ।
कान्त्या समं कोकनदानुकारि, परानुरागे महतां प्रवृत्तिः ॥ १० ॥
स्थितं शशाङ्कोपलकुट्टिमेषु चिरं ग्रहीतुं कलहंसपोतम् ।
शशाक दाशः शकुनिं न यत्र, को मज्जति प्राप्य न तुल्यवर्णम् ११॥
रेजुर्जना यत्र कृतोर्ध्वपुण्ड्राः श्रीरामनामस्फुरिताऽधरास्याः ।
पद्माक्षमालातिमनोज्ञकण्ठाः श्रीशङ्खचक्रांकितबाहुमूलाः॥ १२ ॥
यस्यावतारस्य तु भाविनोपि भयेन त्यक्ता पुरसूदनेन ।
निजा पुरी कीर्तिसुरक्षणाय, करोति कः किं न विपत्तिकाले॥ १३॥
जज्वाल यः सद्मनि तस्य दीपः काशीपतेर्नेत्रमिवाग्निकल्पः ॥
तेनैव तस्मै निजसारभाग उपायनीकृत्य निवेदितः किम् ॥ १४ ॥
यस्य प्रभावस्य भयात्तु लोके पूर्वं निषिद्धं विधिना विधानम् ।
अधीतवेदेन निजार्चनस्य, गुणप्रकर्षाद्धि न कस्य भीतिः ॥ १५ ॥
अनेकविद्यार्जितकीर्तिभाजां जातं यदाऽऽवेशविधानकाले ।
वृन्दावनं तद्गुणिनामरण्यमनुव्रजन्त्येव गुरुं गुणज्ञाः ॥ १६ ॥
तस्यैव विद्याबलमाविलोक्य पत्युर्गणानां गुणरत्नसिन्धोः ।
पलायनायोच्छलतो वृकाद्धि ध्रुवं रदः शास्त्रनिधेर्बभञ्ज ॥ १७ ॥
शास्त्रस्वरूपा प्रथिता जगत्सु या शारदा रङ्गगुणान्निरीक्ष्य ।
पलायनायैव चिरं सुजाता तस्याः स्थितिः किं न हि नीलकण्ठे॥ १८॥
पुरापि विज्ञः सकलागमानामध्यैष्ट शास्त्रं सविधिं तथापि ।
संशिक्षयन् वेदविधिं मनुष्यानहो चरित्रं भगवज्जनानाम् ॥ १९ ॥
यद्भक्तिभावेन निबद्धचित्तः श्रीरंगनाथः सह गोदया सः ।
वृन्दावने चापि चकार वासं निजं जनं नानुसरन्ति के वा ॥ २० ॥

---

१ यस्य प्रवेशकाले ।

श्रीचूर्णरेखा किमियं प्रभो ते वक्षस्थले दीपशिखेव भाति ।
मुकुन्दवक्त्रेन्दुरतिः स्रवन्ती मनो विनिर्भिद्य बहिः प्रयाता ॥ २१ ॥
संरक्षणं स्वस्य सदैव कार्यमिति प्रयुक्तं निखिलागमेषु ।
त्वां रक्षितुं दक्षिणतस्ततः श्रीश्रीरङ्गनाथोत्र समागतोयम् ॥ २२ ॥
तवैव देवान्वयरक्षणार्थं वृन्दावनेऽद्याप्यटतीति मन्ये ।
नाथः स्थितो दन्तितुरङ्गमादौ, को वा सितः प्रेम्णि न किं करोति ॥
त्यजन्ति पत्राणि मलीमसानि विलोकनात्तस्य निवृत्तपापाः ।
आरामगुल्मा अधुनापि यस्य न वा वसन्तस्य समागमेन ॥ २४ ॥
गते रवौ दक्षिणदिङ्निवासे द्रष्टुं न शक्तः परदारघर्षम् ।
जगाम वाप्यां श्रुतिधर्मभीरुर्नीराय नो तस्य रथांगनामा ॥ २५ ॥
त्वत्पादसेवामधिगम्य केकी मुरारिरूपे निबबन्ध भक्तिम् ।
मन्ये निरीक्ष्याऽऽशु पयोमुचं तद्धर्षाश्रुपातं च रवं करोति ॥ २६ ॥
त्यक्तं नदीभिः कलुषायितं तज्जिगच्च चन्द्रांशुसुधासुलिप्तम् ।
रजो विसृष्टं गगनेन हंसश्चुकूज सर्वं विनिवेदनाय ॥ २७ ॥
शुभं ववौ शीतसुगन्धमन्दः सुधास्वभावं विदधन् पयः सः ।
समीरणस्तस्य भुजिष्यकर्मा, भयेन सर्वेऽनुसरन्ति सन्तम् ॥ २८ ॥
दूर्वादलैरग्रपदे वनेऽस्य तुषारसङ्घेन सितैरभावि ।
ध्रुवं ललाटे धृतमूर्ध्वपुण्ड्रं विडम्बितुं वैष्णवबालकांस्तैः ॥ २९ ॥
कलिन्दकन्यातटकुञ्जभूमेर्मार्गेषु कुन्दस्य विलोक्यते यः ।
गुच्छव्रजश्चन्द्रसवर्णकान्ती रंगस्य कीर्तेर्हसितं तदस्ति ॥ ३० ॥
अहो पुनः प्राप वसन्तकाल उदीरयन्नाम पिकस्वनेन ।
कृत्वोपदां मञ्जरिमाम्रजातां, किं दर्शने कस्य चिदस्य तृप्तिः ॥ ३१ ॥
विकासते तस्य यशोऽधुनापि तद् घनीकृतं प्राप्य हिमांशुतां ध्रुवम् ।
प्रयाति वैकल्यमदर्शनात्ततः समेधते प्रेक्ष्य च मूर्तिरूपिणम् ॥ ३२ ॥

---

१ वृंदावनीयब्रह्मोत्सवे इद द्रष्टव्यम् । त्यजन्तीत्यतः आरभ्याष्टभिः पद्यैर्ऋतुवर्णने प्रसगेन प्रक्रम्यते । ३ अस्य श्रीरङ्गदेशिकस्य दर्शने किं कस्यापि तृप्तिर्भवति ? नैवेत्यर्थः । ४ श्रीवृन्दावने श्रीरङ्गनाथमन्दिरे श्रीरङ्गदेशिकस्य प्रतिमास्तीति तद्रूपम् ।

गतोऽस्य दृग्गोचरतां महात्मनो न कोपि किं किल्विषहीनमानसः ।
अवाप शान्तिं परमां मुदं तथा, तरोः सुराणामनिलस्य का कथा ३३॥
निपीय यत्पादसरोरुहासवं धनस्य रक्षां जननस्य लक्षिताम् ।
अतर्जयत् श्रेष्ठिविधुमणेः सुतः स राधिकाकृष्ण उदारमानसः ३४॥
तथापि तस्यैव कृपावलम्बनादनल्पतां प्राप धनं विशां प्रभोः ।
न दुष्करं तद्धरिपादसेविनामजातशत्रोरिव सर्वदा जयः ॥ ३५ ॥
गुरोः कृपायास्तु फलायितं ततो यशो गृहीतं सितदीधितेः समम् ।
कुसीदतां यातमकारि तच्छिवं यतो हि गुप्ता न भवन्ति द्रव्यदाः ३६
य एव पूर्वं निजघान रावणिं ततः प्रलम्बं बलदेवरूपधृक् ।
प्रकल्प्य भाष्यं विशदार्थसंग्रहं नवीचकार स्वमतं च वैष्णवम् ३७॥
स एव काले कलिना प्रधर्षिते तनोर्गुरूणां कपटेन विष्टपे ।
अधातरत्संप्रति शेष एष वै वशेन भाग्यस्य मुरारिचेतसाम् ॥ ३८॥

युग्मकम्—

ततान वै वैष्णवपद्धतिं पुनर्ममार्ज मोहं हृदि पंकवत्स्थितम् ।
स केतुतां प्राप च भक्तमण्डले ममन्थ भाष्यापररत्ननीरधिम् ३९॥
जिगाय पाखण्डविनिर्मिताकृतींस्तमोस्मिताद्वेषनिमग्नचेतसः ।
स निन्दकान् वैष्णवमार्गघातिनां समस्तविद्याहृतसारधारकः॥ ४० ॥
जयत्यसौ कोपि नवीननाविको विनाऽऽतरं यो भवसागरस्य वै ।
निनाय पारं निकरं कृपानिधिःस्वपादनौसंस्थितपापकर्मणाम् ४१॥
यदङ्घ्रिनीरेण विशुद्धविग्रहाः सुदर्शनांकेनसमुद्रदोलिताः ।
निधाय गोविन्दरतिं जना हृदि विशन्ति मोक्षापरनामधामनि ४२ ॥
यतोऽथ रंगो भुवने समागतस्ततो वियोगानलधूमधूम्रताम् ।
ततान वैकुण्ठपतेस्तनुर्दिने दिने न वा श्यामलताऽन्यथा ध्रुवम् ४३
त्वयात्र पादस्य निधानतः प्रभो निरीक्ष रिक्तं स्वपदं पतिः श्रियः ।
जगाम सिन्धुं विरहाग्नितापितः, प्रियेण युक्तं खलु रामणीयकम् ४४॥

१ राधाकृष्णेतिसुगृहीतनामधेयो योगभ्रष्टो वा भगवत्पार्षदो वा श्रीरङ्गदेशिकस्य प्रधानतरः शिष्यः आसीत् स च श्रेष्ठिलक्ष्मीचन्द्रस्य कनीयान् भ्राता अस्यैव च वृन्दावनीयं श्रीरङ्गमन्दिरम् ।

व्यथां वियोगस्य न मृष्यति स्म ते ततो हि सूनुत्वमवाप माधवः ।
करोति कः किं न कृते महात्मनां धृतं न किं गोपवपुर्महावने ॥ ४५ ॥

युग्मकम् ।

असेचि स श्यामनवाम्बुदे निजे कृपारसस्तोमनिधौ कलेवरे ।
अधिष्ठिते भक्तमनस्सुखं सदा लसत्तडित्पीतपटे चतुर्भुजे ॥ ४६ ॥
वियोगतापाकुलभक्तचातकैः समावृते वेणुनिनादगर्जने ।
मयूरचेता निजदर्शनाम्बुना तनूजतां प्राप्तवता मुरारिणा ॥ ४७ ॥
मुरारिणा संप्रति श्रीनिवासतां गतेन वात्सल्यरतेः सुखं महत् ।
अदायि यस्मै दशरूपकौशलाख्यमाधि तस्मै हरिभक्तिसिन्धवे ॥ ४८ ॥
काश्मीरदेशं निजगाम यः पुनः पूर्वं जितं भाष्यकृतः स्वरूपतः ।
मासे तृतीये ग्रहचन्द्रयुग्मके संवत्सरे तस्य पदं नमाम्यहम् ॥ ४९ ॥
रामानुजोयं ? न स दण्डमण्डितः, किं वा गुरूनां स दिवीन्द्रसंसदि ।
किं स्विद्विधिर्नो स चतुर्मुखः श्रुतस्त्वां वीक्ष्य दोलोऽऽरुरुहे जनैःप्रभो
वन्दे द्वयं त्वत्पदपद्मकुड्मलमेकं भवार्तिप्रशमाय नाथ हे ।
उत्तीर्य संसारपयोनिधिं परं पीताम्बराङ्घ्र्यम्बुजलोकलिप्सया ॥ ५१ ॥
उपदिशन् स रराज जनानतः—षड्जपञ्चमतीव्रनिषादकैः ।
रिधमकोमलसंयुततीव्रगैर्भवति रागशिरोमणिभैरवः ॥ ५२ ॥
निशि च तीव्रतरस्वररादिभिः षडजभूरिनिदर्शनसंयुता ।
गलितपञ्चमसाग्मधनिक्रमा भवति दर्शपदान्वितमञ्जरिः ॥ ५३ ॥
ध्वनिगुणीकृतभेदयुगैरथ पदतदंशसमूहनिबन्धगैः ।
कृतमलंकृतिभिः कविभिस्ततं दिशति काव्यपथं स्म मनोरमम् ५४
स्मृतिमति ध्वनितां गमिते मुधा सदृशवाचिनि वाच्यकदर्थना ।
उपकृतिर्घन तेऽस्ति यतस्त्वया सपदि कृष्णतनुर्हि निवेद्यते ॥ ५५ ॥

---

१ संवत् १९१९ ज्येष्ठमासे । २ उक्तप्रकारं संशयं प्राप्नुवन्ति स्म जना इत्यर्थः । ३ लोक इति पक्षे विलोकनेच्छयेत्यर्थः । ४ उपदिशन् इत्यत आरभ्य ७२ पद्यपर्यन्तं द्वाविंशति-पद्यैरधुना स्वमत्यनुसारेण श्रीरंगदेशिकाना शास्त्रप्रावीण्यं प्रतिपाद्यते संक्षेपेण । ५ एषा दर्शमञ्जरीति नामधेया रागिणी श्रीमदमृतसेनमहाशयाना पादप्रसादेन मयैव स्वरूपतो निर्मिता । ६ यथेत्यादिः । सूक्ष्मतमोऽयमलंकारशास्त्रस्य विषयः ।

यद्यपि राजनयेषु विचक्षणैर्नगरबाह्यमहौ परिखा कृता ।
तदपि युक्ततरं न विलोक्यते तरणशक्तिमतां न हि रोधिका ॥५६॥
किमपि तापपरिप्लुततां गतमथ च वृत्तिगुणादिविरोधिताम् ।
परिणमत्यतिदुःखतया, ततः सकलमास्रवकारि विवेकिनः ॥ ५७ ॥
सुखयुतेषु विभावयतां रतिं व्यथितजीवकृते तु कृपालुताम् ।
सुकृतदुष्कृतयोर्मुदिताऽरती, भवति चेतसि निर्मलता यतः ॥ ५८ ॥
वचनदेशनिवाद्यपरिष्कृता भवति दीपशिखेव निदर्शिका ।
सरति सूत्रपदे कुलटेव वा नियमनामविधायि कृतं द्विधा ॥ ५९ ॥
प्रथमचक्रमधिष्ठितवायुना भवति नाभिपदे परिवर्तिना ।
हृदि गले च गते–युग्मसंख्यकः–परममध्यमपूर्ववचःक्रमः ॥६०॥

युग्मकम् ।

करणरन्ध्रपथेन बहिर्यदा सरति वृत्तिविशेषितचेतनः ।
विषयचेतनसंगमलालिते भवति चेतननिष्ठनिदर्शनम् ॥ ६१ ॥
यदि तथैव च मातुरिदं तदा विषयनिष्ठनिदर्शनमुच्यते ।
तदपि पक्षविधं किल साक्षिणोः परतरेश्वरजीवविकल्पतः ॥ ६२ ॥
भवति तत्त्वमसिश्रुतिवाक्यजासकलकिंचनबुद्धिनिराकृता ।
हतविशेषणका हि समक्षताऽथ च घटोयमसौ सविकल्पिका ॥६३॥
यदपि शांकरवीथिविलोठकैर्जगदिदं वितथं परिभाषितम् ।
तदपि हारि न सत्यतया हरेरनिशं हरिरूपमिदं ततः(यतः)६४॥
परममङ्गलदिव्यगुणैर्युतो हरिरितिश्रुतिभिः प्रतिपादितम् ।
परिणतिः सकलं भुवनं हरेर्न तु विवर्तकथा श्रुतिचोदिता ॥ ६५ ॥
स्मृतिपथानुगतैस्तनुमुद्रणे व्युदितमाऽऽऽवगता न सृतिःस्मृतेः ।
अथ पराशरनारदभाषितैः सकलमेव समाहितमंकितैः ॥ ६६ ॥

---

१ "परिणामतप" इत्यादियोगसूत्रानुवादः । २ 'यथोद्देशं सञ्ज्ञापरिभाषम् । कार्यकालं सञ्ज्ञापरिभाषम्' इति परिभाषाद्वयानुवादः । ३ अद्वैतवादमनुवदति ४ वैष्णववादमनुवदति ।

पदसमूहमधि प्रतिभायुतैरितरवाक्यगतं न विधीयते ।
करणमेव 'घृतेन जुहोति' तैर्विहितमत्र मतं न घृतादिकम् ॥६७॥
अनुभवस्तु सदातन उच्यते न हि यतोस्य विनाश उदीक्ष्यते ।
यदि च नश्यति तार्किक तत्कथं ह्यवगतं विरहादपि संविदः ॥ ६८॥
इति वचोपि न शोभनमस्ति यज्जनिविनाशयुतोऽनुभवो मतः ।
अवगता च तदीयविनाशिता विहतिगोचरनूतनसंविदा ॥ ६९ ॥
सदिति साङ्ख्यमते जगदुच्यते प्रभुरपीह न चास्त्यनपेक्षया ।
प्रकृतिरेव निदानतया मता पुरुष एव भवे सकलेक्षिता ॥ ७० ॥
अथ तु भावुकवाचिपदं कृतमत इदं नवनीतपटच्चरे ।
परमरक्तिमिमां हरिपङ्कजे मुनिरुवाच सुभक्तिमभीप्सिताम् ॥ ७१॥
अतिपरा गदिता किल कर्मभिरथ च योगविधेरपि संमता ।
भुवि हि मुक्तिधियः फलरूपिणी मुररिपौ रतिरेव विशेषिता ॥७२॥
मतमतान्तरपक्षनिराग्रहं लघुगुरू स्वपरौ हृदि चिन्तयन् ।
जपतु नाम हरेरनिशं ततो यत इतो न हि सुष्ठु तरा सृतिः ॥७३॥

पादस्य लक्ष्म निटिले लिखितं मया ते भीतिर्न मे भवतु येन यमस्य दूतात् । कृष्णस्य तेन सुधृतेन पुरोत्तमाङ्गे नागान्तकात् किमुरगस्य कृता न रक्षा ? ॥ ७४ ॥
पूर्वप्रसिद्धरसपारदवादिलोकसंसेव्यमानगुटिकारजसा समस्ते । श्रीपादरेणुनिकरः प्रतिभाति किं तु शक्तोऽस्ययं परमधाम्न्यपि नाथ नेतुम् ॥ ७५ ॥
शंके कथं च भगवच्चरणारविन्दे लुब्धेन तेन मधुपेन रसादनेन । त्यक्तं पुरं मधुरिपोः परमात्मसद्ममायस्य ते हि सततं स्वजनाय सद्भिः ॥ ७६ ॥

---

१ मीमांसकैरित्यर्थः । २ सारभूतभक्तिशास्त्रमनुवदति । ३ "सा किल कर्मज्ञानयोगेभ्योपि परा" इति नारदोक्तभक्तिसूत्रमनुवदति अतिपरेत्यादिना । सकलशास्त्रसिद्धांतमाहात्म्यमाह मतमतान्तरेति ।

रामानुजस्य समतां समवाप कुर्वन् रक्षां श्रुतेः परम-
तान् विदलन् निरुद्धान् । [१] आल्वारदर्शनपथं स
जगाम, किं तु तत्रास्य तेन गतमेष महान् विशेषः ॥ ७७ ॥

नाथ त्वदीययशसः प्रतिहारकर्मा मार्गप्रदर्शनविधौ कृत-
भूरिसेवः । रक्तस्ततो विधुरयं मनसा विरक्तो विश्राम-
धामसमविष्णुपदं प्रयाति ॥ ७८ ॥

चामीकरस्य कलशं मिहिरात्मजायाः क्षीरेण पूर्णमुप
उत्तमधाम्नि धृत्वा । तस्यास्तटे विरहतो भ्रमताकुलेन
चक्रेऽनुकुञ्जवति कामपि गोपकन्याम् ॥ ७९ ॥

गोविन्द कृष्ण मधुसूदन माधवेति नारायणाच्युत
जनार्दन केशवेति । नामानि माधववियोगवितप्तकायो
गायन् जगाम यमुनातटदर्शनाय ॥ ८० ॥

पापेन पुष्टमलिनं मलमूत्रपूर्णं लब्धं मया निरयबीज-
मिदं शरीरम् । कालः कलिर्मन इदं कुपथे प्रपन्नं नाथ
त्वदीयचरणौ मम तारहेतुः ॥ ८१ ॥

युग्मकम् ।

संसारसिंधुरयमस्ति महानऽगाधो नक्रौघयन्ति विषया
विकरालदंष्ट्राः । भ्रांतिर्मतेस्तु विहिता भ्रमिरम्बु पापं
दूरे तटं समय एष महानिशायाः ॥ ८२ ॥

---

१ स श्रीरामानुजः श्रीशठकोपाल्वारदर्शनार्थं तद्धामनि गतः । श्रीरंगदेशिकसमये श्रीवृन्दावने श्रीशठकोपस्वामीति सुगृहीतनामधेयः परमवैराग्यभक्त्यादिरत्नाकर आसीत्। भक्तिप्राधान्याच्च तेषां आल्वार स्वामीत्यपरं नामधेयम् । तेनोक्तश्रीशठकोस्वामिना, अस्य श्रीरंगदेशिकस्य तत्र दर्शनपथे दर्शनार्थं गतमिति श्रीरामानुजस्वामिनः श्रीरंगदेशिकस्य महान् विशेषः इतिव्यतिरेकालङ्कारः । एतदपि श्रूयते—अयं श्रीशठकोपो भगवत्पार्षदावतारभूतानां वाचामगोचरवैराग्यवतामपरप्रजापतिरूपाणां योगैकमूर्तीनां श्रीयज्ञमाणिस्वामिना मन्त्रशास्त्रे शिष्योऽभूत् इत्यादि ।

कोलोपि कालकृतविश्लथसन्धिरेष तस्मिन्नपीदमुदकं दुरितात्म याति । सर्वं तदस्ति मम मज्जनहेतुरेव, त्वं नाविकोसि परमेष उपाय एकः ॥ ८३ ॥

मथ्नात्ययं मनसिजःकरणप्रमाथी चेतोपि लाघवमवाप च दिष्टदोषात् । अस्तं जगाम सुमतिस्तमसाऽऽवृतोहं नाथ त्वदीयचरणं शरणं ममास्ति ॥ ८४ ॥

पादारविन्दतरणौ तव पापचित्ता येये स्थिताःपरम धाम्नि गता हरेस्ते । घण्टेव कर्मदृढदामसितःस्थितोहं मन्ये ममैव नियतेर्निकृतो नियोगः ॥ ८५ ॥

यात्रा न मेस्ति भगवन् जगतःसुखाय नापीड्यमोक्षपदलाभकृते मुधा सा । किं तु स्थितेपि निरये हरिनाम लाभःसङ्गश्चरामरजिरक्तहृदां सदा स्यात् ॥ ८६ ॥

प्रस्थानकालमधि जन्यपुरात् पुराणात् त्वत्पादपुष्करपयस्फटिकाभचित्ते । आविर्भवेन्मम किशोरयुगं त्रिभंगि कृष्णेति नाम च परं रसनाग्रभागे ॥ ८७ ॥

दिव्यत्वदङ्घ्रिजलजन्मनि देशिकार्य गोविन्द वीथिपथिकैरभिसेव्यमाने । श्रद्धा दृढा भवतु किल्बिषचेतसो मे सौगन्धिके मधुकरस्य यथानुरागः ॥ ८८ ॥

दिश्याच्छमं विषयविप्लुतमानसाय क्रोधाग्निधूमनिवहाद्विगते क्षणाय । रागादिरोगकृमिभिर्गिलिताय रंगो दद्याय दारतनुजाद्युरगैश्च मह्यम् ॥ ८९ ॥

श्वासानिलैस्त्रिविधतापमलीमसस्य शोकाग्निधूमचितमानसपद्मनो मे । पूर्णं नभो जगदिदं परितश्च नाथ निर्मातुमादिश पुराणमुनिं द्वितीयम् ॥ ९० ॥

युग्मकम् ।

आकर्ण्यतां मम निवेदनमेतदस्ति श्रीमानसं श्रवण पीठ-
तले निधाय । दुःखप्रदो न हि गुरो निरयेपि वासो यन्नो
विभेमि यमभृत्यकशाभिघातात् ॥ ९१ ॥

इच्छा न किं तु हृदये भवसागरेस्मिन् पापात्मवारिल-
हरीवति मज्जनस्य । स्याच्चेत्तदास्तु जननं हरिदासगेहे
वैकुण्ठनामरटनाय शुकादिजातौ ॥ ९२ ॥

नेन्दोस्तनौ लसति मन्दरघट्टनांको यस्मात्स ओपधिपति-
र्विहितो विधात्रा । श्रुत्वा त्वदीयमुखतस्त्वथ भक्तिशास्त्रं
यद्भावितं मधुरिपोःसुवपुस्तदेव ॥ ९३ ॥

जयति तव पदं निषेव्यमाणं मुनिनरखेचरनरेन्द्रासिद्धसङ्घैः ।
नखघृणिविलसत्सुकेशशालि मधुकरसंहतिभिर्यथाऽरविन्दम् ॥९४॥

वितरतु हरिपादपंकजे मे फलधृतिशून्यरतिं कृपागरिष्ठः ।
सपदि तनुमतामलभ्यभोगामविचलभाववतीं सुखाय रंगः ॥ ९५ ॥

तव शरणपदं ये येपि पापिष्ठलोका यदुपतिमुखचन्द्र-
स्यन्दिपीयूषलुब्धाः । रुरुहुरयि विना मां तैस्तु किं किं
न लब्धं नयनपतनभीतेर्नीलबिन्दुःकृतोयम् ॥ ९६ ॥

निजचरणरजो मां लालितं सिद्धसङ्घैर्मधुरिपुगुणगाने
स्यूतचित्तैः शिरोभिः । इव भवजरुजानां पद्मिनीनां
तुषारं वितरत नयनेऽहं येन कुर्यां महान्धः ॥ ९७ ॥

सरसिजसदृशे ते लोचने वासकृद् या मधुकरतुलिता
तां तारकां नैव मन्ये । मुररिपुवदनेन्दोर्नीलरूपामृतस्य
लसति सततपानप्राप्तचिह्नं घनीयः ॥ ९८ ॥

सुधापायं[1] पीतं तव चरणसंस्पर्शपणितं गुरो पानीयं यैः सुकृतिपदवीभालपथिकैः । मुरारेस्तैर्वासे प्रगुणस्मृतिभिः पौरुषफले गतं भुक्त्वा भक्तेः सुखमसुखमच्युत[2] विरहजम् ॥ ९९ ॥

प्रभो यैस्त्वत्पादत्रिवाडिवसनं पापपुरुषैर्धृतं शीर्षं भावाद् वृजिननिकरैः कुन्तलसृतेः । तनोस्तेषां दूरेऽपसृतमुत किं पुण्यचरितैस्ततस्तत्र प्रायः कलयति जनः श्यामलरुचिम् ॥ १०० ॥

अहो वृन्दारण्यं सकलवसुधाचक्रमुकुटं दयासिन्धुर्यस्मिन्नभिवसति रङ्गार्यवरदः । पुरा यत्र श्रीमान् मुरारिपुरवात्सीत्तदुचितं प्रभूणां स्थानीयं भवति निजमेवात्र किमति ॥ १०१ ॥

वीणाबंधोयम्—

जनैर्विष्णोर्मार्गे[3] सततमतिभिः श्रीकृपागतं श्रीकालिन्दीविततजलकूलेऽयि देव । वसन्मे चित्ते ते हरिरिव तमोऽज्ञानमद्य घ्नतु व्यूहं दैत्यं हरिरिव च यचिनविधिम् ॥ १०२ ॥

षडेऽधिकपङ्क्तिविधानसंचयेन[4] मनसि निधाय रतिं हरिं स रङ्गः । अनवरतं विरहव्यथान्तरात्मा व्रजजनिजारमपूपुजन्निकाय्ये ॥ १०३ ॥

चक्रबंधोयम्—

कलिपापहरज्जन्तोः शनैः पृष्ठः कृपज्जनैः ।
कथां रामायणीमाहवामां नाथान्वितां पथा ॥ १०४ ॥

१ सुधापायं पीतमित्यत्र 'उपमाने कर्मणि च ३० । ४ । ४९' इति णमुल् । २ असुखशब्दस्य सुखविरोधिनि दुःखे लक्षणा । ३ उक्तजनैःमहेत्यर्थः । ४ षोडशोपचारपूजनेन ।

वंशीबंधोयम्–

के तुङ्गगतिशास्तारं योऽवर्धत ततं वृषम् । वाधूलवं-
शके केतुं तं वन्दे शिरसा बत ॥ १०५ ॥

पाञ्चजन्यबंधोयम्–

श्रीमत्साधुधुराग्राय यद् यो विधीयते चिरम् । श्रीरङ्गाय
नमामि ते श्रीश्रीसाराय धीचिते ॥ १०६ ॥

सन्दानितकम्–

य क्रूरः कलुषेष्वशेषसुकृतौ प्रीतःपुमर्थे कृती (त्रिभिर-
न्वयः) क्रुद्धोऽधर्मविधौ धनेषु विरतो रक्तश्च नारायणे ।
लुब्धो ज्ञाननिधौ हृषीकविषये वैराग्यपाथोनिधिः
स्निग्धो दीनजनेषु सेवकजने सेवाकृतज्ञःपरम् ॥ १०७ ॥
कीर्त्या योऽनुकरोति चन्द्रिरकरान् धैर्येण धात्रीभृतं
गाम्भीर्येण पयोनिधिं सुरगुरुं विद्याविलासेन यः ।
मार्तण्डं प्रखरप्रतापपटलैः शेषं हरेः सेवया कारुण्येन
जनार्दनं हयमुखं तत्त्वार्थदानेन यः ॥ १०८ ॥
प्रह्लादप्रीतिकारी विबुधरिपुदलन् तिग्मतेजा नृसिंहो
रामो धर्मैकसेवास्मृतिरतिसहितश्चित्रकूटाध्ववेत्ता ।
कृष्णो पार्थो ह कुन्तन्न कुरुरतिपरो धर्मपुत्रेण पूज्यः
सोयं रामानुजोन्यो जगति विजयते देशिको रंगराजः ॥ १०९ ॥
तव गुणरत्नपयोनिधेस्तु पारममरगणैरपि किं कदापि
दृष्टम् । पुनरथ मन्दमतेर्यदत्र मेऽदो हसितमिदं चपला-
यितं प्रभो तत् ॥ ११० ॥

---

१ पद्यमिदं त्रिष्वर्थेषु श्लिष्टमस्ति ।

अयि गुणधे भगवन् कृपानिधे हे मतिरहितेन कृतं शतं मया यत् । क्षमय च तं मम मन्तुमेकतानं तव हृदि वत्सलताविलास एषः ॥ १११ ॥

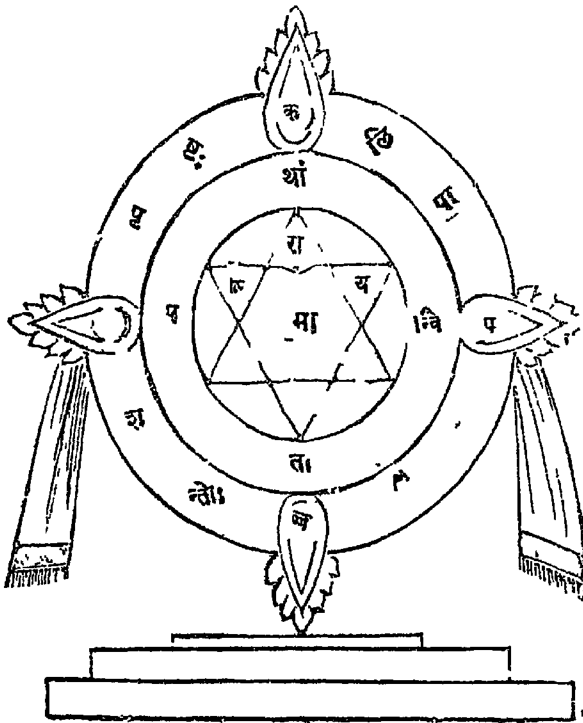
श्रीश्रीरङ्गदेशिकाय नमः ॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥ श्रीमते शठकोपाय नमः ॥ श्रियै नमः ॥ श्रीहरये नमः ॥

" लक्ष्मीनाथसमारम्भां नाथयामुनमध्यमाम् ॥
अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरंपराम् ॥ "

॥ इति पंचनदीयपण्डितसुदर्शनाचार्यशास्त्रिप्रणीत
श्रीरंगदेशिकशतकं समाप्तम् ॥



सुदर्शनचक्रबन्धः श्लोकः १०४



बन्धचतुष्टयमेतदुभयथाकारेण मयैव संपादितम् ।

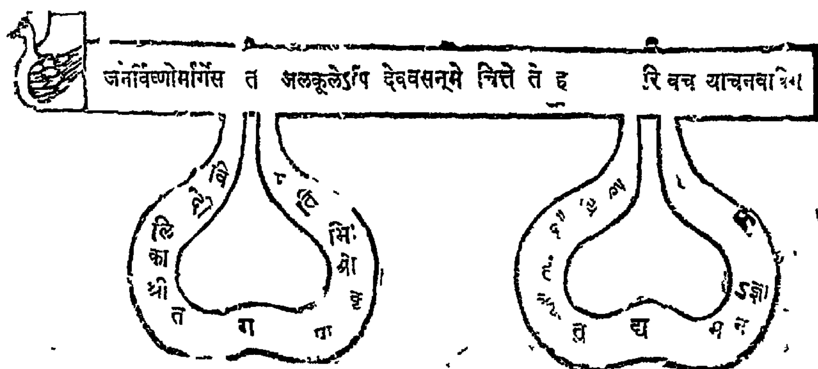
वंशीबन्धः श्लोकः १०५.

स ति शा स्ता रं योऽ व र्धं

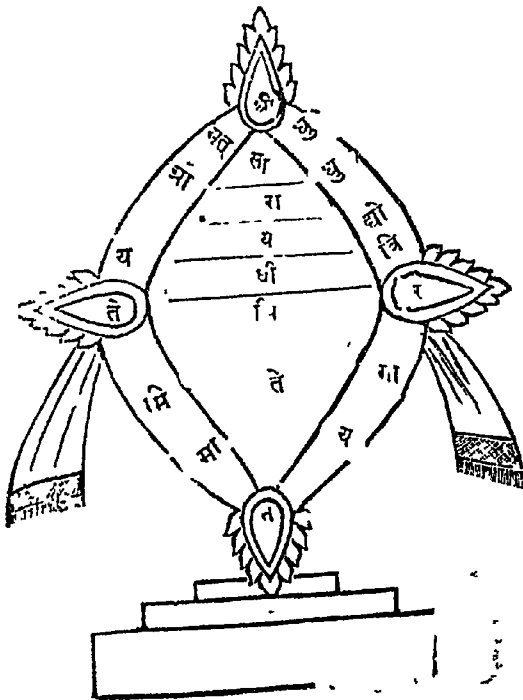
के | तुं | तं | व | न्दे | शि र | सा | व | त

श वं ल धू वा पं वृ तं

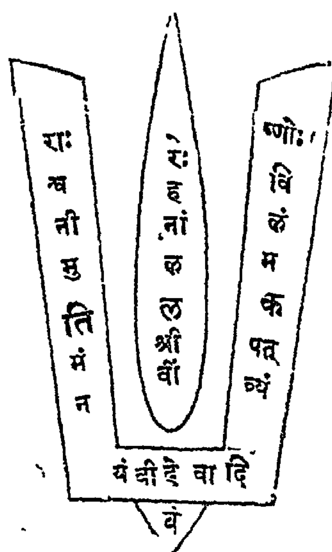
वीणाबन्धः श्लोकः १०२



पाञ्चजन्यबन्धः श्लोकः १०६



ऊर्ध्वपुण्ड्रबन्धः ॥



वन्दे देवादिदेवीयं यन्नमन्ति मुनीश्वराः ।
दिव्यं पत्कमलं विष्णोर्देवीं श्रीललनां हरेः ॥ १ ॥

इत्येवं वैष्णवशङ्खचक्रतिलकबन्धा मया भागवतजनमनो-
विनोदाय स्वरूपेण पद्यपूर्त्या चेत्युभयप्रकारेण संपादिताः ।

इति विज्ञापयति श्रीमताम्

पञ्चनदीयः सुदर्शनाचार्यशास्त्री

पुस्तक मिलनेका ठिकाना-

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,
" लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर " स्टीम् प्रेस
कल्याण-मुंबई.

खेमराज श्रीकृष्णदास.
" श्रीवेंकटेश्वर " स्टीम् प्रेस,
खेतवाडी-मुंबई.

विशेषविषयसूची.



मधुसूदनी टीकाका तथा अद्वैतवादका औरभी अनेक स्थलोंपर खंडन लिखाहै उस सबकी सूची नहीं लिखी ।



॥ श्रीः ॥

सुदर्शनाचार्यशास्त्रिप्रणीत मुद्रित पुस्तकोंकी सूची ।

पुस्तकनाम.	मूल्य.	ठिकाना.
श्रीआल्वार चरितामृत	०-४	श्रीवेंकटेश्वरप्रेस मुंबई.
स्त्रीचर्या	०-२	
नीतिरत्नमाला	०-४	
अष्टादशरहस्यभाषा	०-४	
भगवद्गीताभाषाभाष्य (यह)	२-॥	
श्रीरंगदेशिकशतक	०-२	बाबू हरिदासगुप्त चौखंभासंस्कृतसीरीज बनारस सिटी.
संस्कृतभाषा	०-४	
अद्वैतचंद्रिका	०-८	
विशिष्टाद्वैताधिकरणमाला	१-०	
शास्त्रदीपिकाप्रकाशः	१०-०	
भगवद्गीतासतसई	०-४	
अनर्घनलचरित्र (नाटक)		श्रीवेंकटेश्वरप्रेस, मुंबई.
शक्तिवादादर्शः		
व्युत्पत्तिवादादर्शः		
सावलोकदशरूपकप्रभा		
श्रीवैष्णवव्रतनिर्णय		
अष्टश्लोकीटीका		

रामानुजकृतिगुण लिओ भगवतवचन प्रसून ।
मालातत्त्वसुदर्शनी गूथी हौं मतिलून ॥
रामानुजपदपद्मपर दइ चला सिरनाय ।
करहु कृपा सब भागवत निरखैं दृग मन लाय ॥